मंखक के श्रीकण्ठचरितम् का साहित्यिक अध्ययन

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डि० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत]

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री
रमा देवी

निर्देशिका
डा० श्रीमती मृदुला त्रिपाठी
रीडर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

संस्कृत विभाग
इला ,ाबाद वि वविद्यालय
इला ,ाबाद
१९९५

प्राक्कथन

पैतृक सम्पत्ति के रूप मे जन्म से ही सस्कृत भाषा के प्रति सस्कार तथा स्नेह का बीजाकुरण हुआ । इस प्रकार आनुवशिक परम्परा से प्राप्त सस्कृत भाषा के प्रति ही मेरे सस्कृताध्ययन का मूलस्रोत बनी । मेरे माता-पिता जी परम् शिव भक्त हे अतएव मुझे शिव भक्ति से प्रेरित होकर "शिवकथापरक" ग्रन्थ पर शोध करना रुचिकर लगा ।

मेरे शोध कार्य का विषय "मखक के "श्रीकण्ठचरितम्" का साहित्यिक अध्ययन" रहा है । इस विषय मे आध्यात्मिकता का प्राधान्य है । जगत् के मूल सत्य को जानना ही आध्यात्मिकता का उद्देश्य है । प्रस्तुत शोध विषय मेरी अभिरूचि के सर्वथा अनुकूल रहा ।

महाकवि मड्खक के जीवन – चरित्र से मै विशेष रूप से प्रभावित हुई हूँ मड्खक ने 25 वर्षों तक विद्याध्ययन करने के पश्चात अपनी प्रथम कृति "श्रीकण्ठ--चरितम्" की रचना की । स्वाग्रज अलकार "लकक" की पण्डित सभा मे "श्रीकण्ठचरितम्" का परीक्षण हुआ । मड्खक ने अपने स्वकवित्व से सभी विद्वदजनो को सन्तुष्ट किया उसके बाद 1127–1149 ई0 तक कश्मीर के महाराजा जयसिह के शासन काल मे 22 वर्ष राजमन्त्री के पद पर रहे । इस बीच उन्होने "मड्खकोश" लिखा अपने इन ग्रन्थो स्वोदान्त चरित्र, राजमन्त्रित्व तथा जीवन के अन्तिम काल मे अपनी जन्म भूमि प्रवरपुर मे बनवाये गये मन्दिर – धर्मशालादि के कारण काश्मीर की जनता ने अपने इस सहृदय राजमन्त्री का सच्चे हृदय से सम्मान किया । इस सम्मान के द्योतक है उनके "कर्णिकार मड्ख" और "राजराजानक" पद । निःसन्देह महाकवि मड्खक ने स्पृहणीय सफल जीवन पाया था ।

कवि ने अपने विशुद्ध पौराणिक अध्ययन की आधारशिला पर ही इस महाकाव्य को रचा था । उन्होने "त्रिपरवध" के पौराणिक कथानक को महाकाव्य का स्वरूप प्रदान

करते सयम, महाकाव्य की शास्त्रीय रूपरेखा के निष्पादनार्थ, महाकाव्य के अड्गभूत चन्द्र, चन्द्रोदय, जलकेलि, बसन्त एव प्रभातादि वर्णन बढा दिये है, और दो–तीन साधारण परिर्वतन कर कथानक मौलिक एव रसपूर्ण बना दिया ।

"श्रीकण्ठचरितम्" के वर्तमान उपलब्ध काव्यमाला सस्करण मे इसके टीकाकार श्री जोनराज भी काश्मीरी है । "श्रीकण्ठचरितम्" की अपनी टीका मे जोनराज ने दा–तीन स्थलों पर "आयानमश्वास्तुम्ब इति केचितदासमदेति "पदमसगतम्"[1] तथा अन्यत्र भी "इतिकेचित्[2] लिखा है । इससे ज्ञात होता है कि जोनराज की टीका के पूर्व भी "श्रीकण्ठचरितम्" की एक–दो टीकाए लिखी गई थी । दुर्भाग्यवश आज उनमे से किसी का भी पता तक नही चलता। जोनराज की टीका अत्यन्त सूक्ष्म और सारग्रहिणी है । कही–कही तो मात्र एक पक्ति मे ही श्लोक का सार–भर दे दिया है । फिर भी इस श्लेष एव उत्प्रेक्षा प्रधान महाकाव्य का इस टीका के बिना यत्किचित भी रसास्वादन कर पाना अत्यन्त कठिन था इस टीका ने काव्यगत ग्रन्थियो को खोलकर शिवभक्ति रस को सरस और सर्वपेय बनाकर सहृदय जगत् का बडा परोपकार किया है । टीकाकार जोनराज ने स्थल–स्थल पर कुछ प्रमाणिक तथ्य भी स्पष्ट किये है । कुछ ज्ञातव्य विषय भी उद्घाटित किये है । काश्मीर के स्थानो तथा "हसन्तिका" जैसे स्थानीय शब्दो का भी स्पष्ट सड्केत किया है । अनेको स्थलो पर टीकाकार ने मूल मे बहुमूल्य शुद्धियॉ दर्शायी है । इन सबके लिए साहित्यिक जगत् "श्रीकण्ठचरितम्" के टीकाकार श्री जोनराज का सदैव ऋणी रहेगा ।

इस कार्य मे मेरी शोध–निर्देशिका परमादरणीया डॉ0 श्रीमती मृदुला त्रिपाठी जी ने मुझे जो सहयोग और सहायता प्रदान की वह वर्णनातीत है । उन्होने समय–समय पर मुझे प्रोत्साहित करते हुए साहित्यशास्त्र की विविध जटिलताओ को सुलझाने मे मेरी अपूर्व सहायता की है । उनके सहयोग के परिणामस्वरूप ही यह शोधकार्य पूर्ण हो सका है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 16/7
2. श्रीकण्ठ0 1/47, 9/33, 16/10, 17/5 /

सस्कृत के विभागाध्यक्ष गुरूवर्य डॉ0 सुरेश चन्द्र पाण्डेय जी ने मेरे शाधकार्य को गतिशील रखने मे अपेक्षित सहायता दी है जिसके लिए मै उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। शोधकार्य मे आने वाली अनेक प्रकार की समस्याओ को दूर करने मे डॉ0 हरि राम मिश्र ने मेरी अतीव सहायता की है। मै उनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन के लिए हार्दिक रूप से आभारी हूँ। मेरे समस्त गुरूजनो ने विशेषत श्रद्धेय डॉ0 हरिशङ्कर त्रिपाठी ने समय-समय पर मुझे आशान्वित बनाकर, अशीष – सम्बल देकर कर्मशील बनाया और उसी मगलमय अशीष का परिणाम है कि आज यह शोधकार्य सम्पन्न कर पा रही हूँ।

मै अपने माता-पिता श्रीमती रत्ना मिश्रा एव श्री श्रीकृष्ण मिश्रकी अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने मुझे अनेक समस्याओ के होते हुए भी निरन्तर अध्ययनशील बनाये रखा।

मै उन विचारको तथा लेखको के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रन्थो और लेखो से मेरे विचारो को शक्ति प्राप्त हुई और प्रबन्ध-लेखन मे सहायता मिली।

अन्त मे मै श्री इम्तियाज अहमद, टाइपिस्ट, लकी ब्रदर्स, कटरा, इलाहाबाद के प्रति भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होने शोध-प्रबन्ध के टङ्कण मे शुद्धता और स्पष्टता का अधिकाधिक ध्यान रखते हुए अल्प समय मे टङ्कणकार्य पूर्ण किया है।

9.11.95
दिनाङ्क

रमा देवी
(रमा देवी)

शोध प्रबन्ध की अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

पञ्चम अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" में प्रकृति चित्रण

षष्ठ अध्याय

अलङ्कार निरूपण

<u>सप्तम अध्याय</u>

<u>रस निरूपण</u>

xxxxxxxx xxxxxxxxx xxxxxxxx

भूमिका

कश्मीरी महाकवि मड्खक की प्रसिद्ध रचना "श्रीकण्ठचरितम्" शिवपुराण पर आधारित ऐतिहासिक एव पौराणिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत महाकाव्य के पच्चीस सर्गो मे शिव के द्वारा दैत्य त्रिपुर के विनाश की पौराणिक कथा है। महाकवि मड्खक के पिता विश्ववर्तन ने एक दिन मड्खक को स्वप्न मे उक्त काव्य की रचना का आदेश दिया फलत अपने कैलासवासी पिता के आदेश से कवि ने "श्रीकण्ठचरितम्" का प्रणयन् किया। मड्खक ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे राजा महाराजाओ की स्तुति न करके भक्ति--भावना से भगवान् श्रीकण्ठ का स्तवन् प्रस्तुत किया है। उद्देश्य के अनुरूप मूल कथानक त्रिपुरवध के एक प्रतीक पौराणिक कथानक को प्रबन्ध काव्य का स्परूप प्रदान करने मे अपनी विद्वता एव मौलिकता का परिचय दिया है। पौराणिक कथानक जैन बौद्ध धर्म के खण्डन से युक्त है। त्रिपुरो के विनाशार्थ उनकी सच्ची शिव भक्ति का भी पुराण मे मायावी मुनि के द्वारा विष्णु ने नाश कराया। ये दोनो ही विकृतियॉ कवि ने समाप्त कर दी है। कवि•ने त्रिपुरों को स्वर्ग आकाश भूमि मे न बसाकर आकाश भूमि पाताल मे बसाया। इससे स्वर्ण, राजत, आयस पुरो की सार्थकता, त्रिपुरो की समरेखता के अभाव मे दुर्जेयता तथा शिव का उन्हे एक ही बाण से मार गिराने मे महत्त्व अत्यधिक बढ जाता है।

मड्.खक ने लगभग सभी पात्रो को परोक्ष वर्णनात्मक ससूच्य शैली मे वर्णित किया है। प्रधान नायक शिव प्रस्तुत ग्रन्थ मे यदाकदा अपनी झलक मात्र देकर अदृश्य हो जाते है। वसन्त शोभा दर्शन तथा देवसभा मे वे कुछ देर तक प्रत्यक्ष उपस्थित रहे हैं। युद्ध भूमि मे वे उपस्थित तो है पर सर्वथा अज्ञात स्थान तथा अवस्था मे है त्रिपुर के एकत्र होने पर देवो का चक्षु सकेत पाकर शिव प्रकट होते है और एक ही बाण से त्रिपुर का विनाश करके पुनः परोक्ष हो जाते हैं। प्रतिनायक त्रिपुर तो सर्वत्र ही संसूच्य शैली में विद्यमान है। स्वरूपतः वे एक शब्द भी किसी से नही कहते। देवसभा मे ब्रह्मा ने उनके दो--एक वाक्यों को अनूदित भर किया है। इस शैली के कारण चरित्रो

के गुणो का स्वाभाविक विकास सर्वत्र दब सा गया है ।

कश्मीर प्रान्त, कैलास , सिन्धु वितस्ता का सगम तथा प्रवरपुर का भौगोलिक वर्णन भी कवि ने मौलिकता के साथ किया है । शिशिर ऋतु मे लाल-लाल नारगियो का पकना और उन नारगियो के छिलकार्धचषक मे कश्मीरी विलासियो का मद्यपान करना तथा हसन्तिका (अँगीठी का कश्मीरी नाम) , कैलास की हिम और त्रिपुरो की भस्म की श्वेतिमा वर्ण मे समान है , इत्यादि प्राकृतिक दृश्य बडे ही मौलिक है । महाकवि मड्खक ने कविकुलगुरू कालिदास के कर्णिकार वर्णन की छाया पर एक सहृदयाहलादक श्लोक का निर्माण करके "कर्णिकार मड्ख" की साहित्यिक पदवी प्राप्त की ।

"श्रीकण्ठचरितम्" मे वीर तथा श्रृड्गार रसो की प्रधानता है । नायक प्रतिनायक मे मड्.खक ने मुख्यत विशुद्ध युद्ध वीर रस ही दिखाया है । और श्रृड्गार रस का परिपाक जन साधारण के माध्यम से किया है वे जन साधारण भी देवता और अप्सराओ के रूप मे है ।

मड्खक ने विषयानुकूल ही छन्दोबद्धता प्रस्तुत की है । शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग लगभग प्रत्येक विषय के वर्णन मे किया है । सर्गारम्भ किसी भी छन्द मे है परन्तु सर्गान्त अधिकतर शार्दूलविक्रीडित या स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्द मे है । अलड्कारो के प्रयोग मे कवि ने साधारणतया शब्द और अर्थ दोनो प्रकार के अलड्कारो का प्रयोग किया है । परन्तु शब्दालड्.कारो मे शब्द श्लेष एव अर्थालड्कारो मे उत्प्रेक्षा, समासोक्ति विशेष रूप से कवि के प्रिय अलड्.कार हैं । प्रर्दशन रूप मे दो चार श्लोक प्रत्येक अलड्कार के लिखे है ।

कोई भी रचना सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकती है । प्रस्तुत शोध ग्रन्थ मे लगभग

सभी काव्य दोष अत्यल्प मात्रा मे प्राप्त होते है । जिन्हे "दोष निरूपण" नामक अध्याय मे बताया गया है । परन्तु काव्य दोष रसास्वादन मे व्यवधान उपस्थित नही करते है । यदि मड्खक चाहते तो अपने गुरू आलड्कारिक आचार्य रूय्यक की सहायता से "श्रीकण्ठ-चरितम्" का सशोधन भी कर सकते थे परन्तु उन्होने ऐसा न करके मानवोचित गुण-दोषो को बनाये रखा । महाकवि मड्खक ने प्रस्तुत महाकाव्य के "सुजनदुर्जनवर्णनम्" नामक द्वितीय सर्ग मे कवि और काव्य का साहित्यिक स्वरूप वर्णित किया है । अन्तिम पच्चीसवे सर्ग मे कश्मीर की तत्कालीन राजनीतिक दशा तथा कश्मीरी विद्वानो का ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत किया है, स्वाग्राज अलकार की पण्डित सभा का रोचक वर्णन किया है । अलकार की उस पण्डितसभा मे 32 सस्कृत के उद्भट विद्वान विद्यमान है वे सब मड्खक के महाकवित्व की कठिन परीक्षा लेते है । सस्कृत साहित्य के इतिहास मे इन 32 विद्वानो मे से अनेक का तो नाम भी नहीं मिलता है, इस नामावली पर शोध होने पर 12वी शती के कश्मीरी सस्कृत साहित्य पर विपुल प्रकाश पडेगा ।

श्रीकण्ठचरितम् मे शब्द और अर्थ का अविकल सन्निवेश भक्ति रस से परिपूर्ण, वैदर्भी रीति से सपन्न और पद सघटना से युक्त आदि काव्य गुणो के कारण अत्यन्त हृदयग्राही है । श्रीकण्ठचरितम् की कोई हिन्दी टीका उपलब्ध न होने के कारण यह ग्रन्थ थोडा दुर्बोध अवश्य लगता है परन्तु कश्मीरी विद्वान राजानक जोनराज की एकमात्र टीका सस्कृत भाषा मे ही प्राप्त होती है इन्होंने उक्त ग्रन्थ को सुबोध एव सुगम्य बना दिया । इसके लिए सस्कृत साहित्य राजानक जोनराज का ऋणी है ।

प्रथम अध्याय

महाकवि मंखक – एक सामान्य परिचय

महाकवि मंखक – एक सामान्य परिचय

महाकवि मड्खक द्वारा प्रणीत पञ्चविशति सर्गात्मक "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे रस, छन्द, गुणालड्कारादि समस्त काव्यात्मक तत्वो का समुचित सन्निवेश कवि द्वारा किया गया है । इन काव्यात्मक तत्वो की व्याख्या हमे वेदो मे ही प्राप्त होने लगती है वस्तुत सस्कृत–भाषा मे काव्य का प्राचीनतम स्वरूप ऋग्वेद की ऋचाओ मे सुस्पष्ट रूप मे विद्यमान है । श्रुति मे वेदो की काव्यात्मकता को स्वीकार करते हुए कहा भी गया है – पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति । अर्थात् परमेश्वर के निश्वसित वेदरूप काव्य न कभी नष्ट हुए न कभी नष्ट होगे । भारतीय मनीषियो द्वारा चराचर जगत् की सामान्य तथा विशेष प्रवृत्तियो के विश्लेषण के प्रयास मे ऋग्वेद मे स्वत काव्यात्मक तत्वो का सन्निवेश होता चला गया । दर्शन आदि अन्य समस्त शास्त्रो के समान ही काव्यात्मक तत्वो का मूल उत्स वेद ही है यह सर्वसम्मत तथ्य है किन्तु लौकिक साहित्य का सर्वप्रथम आविर्भाव आदि महाकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा विनिर्मित रामायण से माना गया है । तपपूत मनस्वी इस महर्षि ने जब किसी वधिक के द्वारा युग्मचारी क्रौञ्च पक्षियो मे से एक को मारा जाता हुआ देखा तो इनका हृदय करूण रस से आर्द्र हो गया तथा इनका हृदयस्थ शोक करूणामयी दिव्यवाग्धारा के रूप मे श्लोक बनकर निकल पडा । यही स्वाभाविक उद्गार वास्तविक कविता है । रामायण तथा महाभारत महाकाव्य वर्णन प्रधान है एव कृत्रिमता से रहित है।

इन दोनो महाकाव्यो के अनन्तर कुछ काल के व्यवधान के बाद सस्कृत साहित्य मे महाकवि कालिदास, भास, अश्वघोष आदि महाकवियो का आविर्भाव होता है जो कृत्रिमता से अछूती स्वाभाविक, मनोरम शैली से परिपूर्ण कविता के लेखन के लिए युग युगान्तर तक प्रसिद्ध रहेगे । इनकी भाषा सुमधुर है तथा कोमल पदो के विन्यास से युक्त है । भावो का जैसा समन्वय इनकी कविताओ मे दृष्टिगत होता है वह आजतक अन्यत्र अलभ्य है । इनकी विषयोपन्यास की पद्धति असाधारण है । वस्तुत वह युग ही सरलताओ से युक्त था उस समय के समाज मे जटिलता का प्रवेश नही हुआ था । अतएव तत्कालीन कवियो की कविताएं भी जटिलता के सस्पर्श लेश से शून्य थी । किन्तु विदेशी आक्रमणो के चलते जैसे जैसे समाज मे जटिलता आती गयी वैसे ही कवियो की कविताओं मे भी कृत्रिमता का

प्रवेश होता गया ।भारवि, भट्टि, माघ, श्रीहर्ष आदि महाकवियो ने कालिदास की सरल शैली का परित्याग कर चित्रालङ्कारो की विविधता एव भाषायी चमत्कार से परिपूर्ण महाकाव्यो का प्रणयन किया । यद्यपि आनन्दवर्धन जैसे सहृदय सम्राट को इन कविताओ में कोई रस न मिला, क्योकि ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले इस आचार्य को ध्वनितत्व के अभाव मे कैसे रूचि हो सकती है, किन्तु भारवि, भट्टि, माघ एव श्रीहर्ष के समय मे भारतीय चिन्तन की सभी विधाओ मे सरल रीति का परित्याग कर दिया गया था तथा शास्त्रीय सिद्धान्तो के प्रतिपादनो मे कठिन एव दुरूह भाषा को ही महत्त्व दिया जाने लगा अत ये कवि भी तत्कालीन समाज की कृत्रिमताओ से कैसे विमुख हो सकते थे । इतना ही नही काव्यो मे व्याकरण, साहित्य एव दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे इन कवियो ने काव्यो को बोझिल एव दुरूह बना डाला इस तथ्य को स्वत स्पष्ट करते हुए महाकवि भट्टि ने कहा भी है –

> व्याख्यागम्यमिद काव्यमुत्सव सुधियामलम् ।
> हता दुर्मेधस्त्त्र विद्वत्प्रियतया मया ।।

अर्थात यह काव्य व्याख्या के आधार पर ही समझा जा सकता है । इसमे विद्वानो की ही गति हो सकती है । इसी परम्परा मे महाकवि मङ्खक द्वारा रचित श्रीकण्ठचरितम् महाकाव्य को रखा जा सकता है । किन्तु इसका यह कथमपि अभिप्राय नही हो सकता कि इन काव्यों मे दुरूहता एव बोझिलता ही प्रधान है जिससे इन्हे नीरस मान लिया जाय । वस्तुत ये कवि अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण वचनो के विन्यास मे पटु है । इनकी वाणी सुललित पदो के प्रयोग से अटी पड़ी है, रमणीय वर्णो से विभूषित है एव किसी भी सहृदय के हृदयसरोवर को अमन्दानन्दोल्लास से उद्वेलित करने मे समर्थ है । इनके वर्णन की शैली अतीव प्रौढ है । नूतनतम पदो के प्रयोग मे ये सिद्धहस्त है । इनके वर्णनो में अलङ्कारो तथा भावो का अद्भुत समन्वय भी देखने को प्राप्त होता है । अपने इन्ही गुणो के कारण भारवि आदि महाकवियो के महाकाव्य प्राचीन काव्यशास्त्रियो तथा आधुनिक समालोचको के विवेचन के विषय बनते रहे हैं तथा अद्यावधि साहित्य–लेखन के स्त्रोत के रूप मे स्वीकृत हैं ।

(क) <u>जीवनवृत्त</u>

कश्मीर के महाकवियो मे रत्नाकर एव क्षेमेन्द्र के पश्चात् महाकवि मखक का नाम उल्लेखनीय है । मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य लिखकर अद्भुत विद्वता का परिचय दिया है । "श्रीकण्ठचरितम्" मे भगवान शकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है । अपने कैलाशवासी पिता के आदेश से मखक ने इसका वर्णन प्रणयन किया था । प्रसिद्ध आलकारिक आचार्य रूय्यक इनके गुरू थे । गुरू शिष्य कश्मीर के राजा जयसिह के सभापण्डित थे । महाकवि मखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम" के अन्तर्गत समकालीन कवियो एव विद्वानो का परिचय दिया है । जिससे तत्कालीन राजसी वातावरण मे होने वाली विद्वानो की गोष्ठी का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] "श्रीकण्ठचरितम" से ज्ञात होता है कि मखक को रूय्यक जैसे गुरू एव अन्य उद्भट विद्वानो का सयोग प्राप्त हुआ और साथ मे हरिहर भगवान् की असीम अनुकम्पा प्राप्त हुई[2] ।

यह सौभाग्य की बात है कि महाकवि मखक ने स्वय अपना परिचय "श्रीकण्ठचरितम" के तृतीय सर्ग मे दिया है । तृतीय सर्ग का पर्यालोचन करने पर महाकवि का देश, आश्रय, एव सम्पूर्ण जीवन वृत्त सुस्पष्ट ज्ञात हो जाता है ।

(1) <u>जन्म स्थानः-</u>

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के अन्तसाक्ष्य से सुस्पष्ट होता है कि महाकवि मखक कश्मीरी पण्डित थे । यह सुषमा मण्डित प्रदेश "कश्मीर" भारतवर्ष मे मूर्धाभिषिक्त स्थान रखता है । राजतरगिणी मे कश्मीर का बहुत वर्णन प्राप्त होता है कि कल्प के आरम्भ से छह मन्वन्तर तक हिमालय के मध्य मे अगाध जल से परिपूर्ण सतीसर नाम का एक महान सरोवर था । तदनन्तर वैवस्वत नाम के सप्तम मन्वन्तर मे महर्षि कश्यप ने ब्रह्मा,

---

1 श्रीकण्ठ0 25/66-102

2 श्रीकण्ठ0 25/30, 140

विष्णु, महेश आदि देवताओ के द्वारा उस सरोवर मे रहने वाले जलोद्भव नाम के असुर को मरवाकर सरोवर की भूमि पर "कश्मीर" मण्डल की स्थापना की [1] । तीनो लोको मे भूलोक श्रेष्ठ है, भूलोक मे कौबेरी अर्थात उत्तर दिशा की शोभा उत्तम है, उसमे भी हिमालय पर्वत प्रशसनीय है, और उस पर्वत पर भी कश्मीर मण्डल परम रमणीक है[2] ।

स्वय महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" के तृतीय सर्ग के प्रारम्भिक तीस श्लोको मे कश्मीर का भव्य वर्णन किया है । कश्मीर प्रदेश मे "सतीसर"[3] मण्डल के अन्तर्गत "प्रवरपुर" नाम का जनपद है । इस जनपद की राजधानी "श्रीनगर" थी । "श्रीनगर" को तीसरी शती ई0 पू0 मे सम्राट अशोक ने बसाया था इसकी जानकारी चीनी यात्री युवानच्वाग देता है[4] । सिन्धु और वितस्ता के पावन सगम पर श्रीप्रवर सेन के द्वारा बसाया गया एक "प्रवरपुर " स्थान है । यह श्रीनगर से उत्तर पूर्व के कोण पर लगभग 125 मील की दूरी पर है । प्राचीन नाम का प्रवरेशपुर ही प्रवरपुर था जो राजा प्रवरसेन द्वितीय की राजधानी थी [5] ।

महाकवि मखक के पितामह "मन्मथ" इसी प्रवरपुर मे सम्भवत राजवैद्य थे । प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण इसी पुनीत सगमस्थ प्रवरपुर मे महाकवि मखक का जन्म हुआ था ।

"प्रवरपुर" प्राचीनकाल मे एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान था । इस जनपद का प्राचीन नाम "पण्डरेथन" था, राजतरगिणी मे इसका उल्लेख प्राप्त होता है । यहॉ राजा प्रवरसेन

---

1. राजतरगिणी – कल्हण (व्याख्याकार श्रीराम तेज शास्त्री पाण्डेय) 1/25,26,27
2. राजतरगिणी – 1/43 " " "
3. श्रीकण्ठ0 3/1
4. प्राचीन भारत का इतिहास – ओम प्रकाश, अध्याय मौर्य युगीन भारत पृ0 163
5. श्रीकण्ठ0 3/21

प्रथम की भी राजधानी थी[1] । राजतरगिणी के अनुवादक डॉ0 एम0ए0स्टैइन ने भी इसका उल्लेख किया है [2] । बाण भट्ट के "हर्षचरित" मे भी "प्रवरपुर" जनपद का उल्लेख प्राप्त होता है [3] । क्षेमेन्द्र का "समय मातृक"[4] और विल्हण के "विक्रमाकदेवचरितम्"[5] मे भी "प्रवरपुर" का उल्लेख होता है । इसी प्रसिद्ध "प्रवरपुर" जनपद मे महाकवि मखक का जन्म हुआ था ।

ⅡⅡⅡ **वंश परम्परा –**

महाकवि मखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के "देशवशादिवर्णनम्" नामक तृतीय सर्ग मे स्ववशपरम्परा का परिचय दिया है । महाकवि मखक के पितामह "मन्मथ"[6] थे । इनके पितामह मन्मथ परम शिव भक्त थे । शिव कृपा से उन्हे एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई । पुत्र का नाम "विश्ववर्त"[7] था । यह कश्मीर नरेश सुस्सल के राजवैद्य तथा कवि थे ।

विश्ववर्त के चार पुत्र हुए । सबसे बडे पुत्र का नाम "श्रगार"[8] था । द्वितीय पुत्र का नाम भृग[9] था । तृतीय का नाम "लकक" उपनाम "अलकार[10] था । "मखक"[11] सबसे छोटे पुत्र थे ।

---

1 राजतरगिणी – कल्हण (स0 रघुनाथ सिह श्लोक की पादटिप्पणी) देखिये 8/2409
2 राज0 – अनूदित डॉ0 एम0ए0 स्टेइन वाल०।।, 8/2408/
3 हर्षचरितम् – बाणभट्ट 1/14
4 समय मातृक – क्षेमेन्द्र 1/4
5 विक्रमाकदेवचरितम् – विल्हण 18/1,70
6 श्रीकण्ठ0 3/31
7 श्रीकण्ठ0 3/35
8 श्रीकण्ठ 3/45
9. श्रीकण्ठ 3/53
10. श्रीकण्ठ 3/56
11 "अथोदभूतस्य कनिष्ठसोदर स मखको यस्य शिशोरतन्वत । शिरस्युपोढा गुरूपादरेणव सरस्वतीकार्मण चूर्ण नैपुणम् ।।"

श्रृगार बहुत बडे कवि तथा वक्ता थे । यह रण विद्या मे निष्णात तथा प्रसिद्ध योद्धा थे । इन्होने कश्मीर के राजा हर्ष को कई बार युद्ध मे परास्त किया था [1] । महाराज सुस्सल ने इन्हे "वृहतन्त्रपति" धर्माधिकारी बना दिया था [2] । "भृग" भी बहुत योग्य थे वह कश्मीर राजा के उच्चायुक्त अधिकारी रहे थे । "लकक" भी एक प्रसिद्ध कवि, वैयाकरण तथा वीर योद्धा थे । महाराज सुस्सल ने लकक को अपना "सन्धि विग्रहिक नियुक्त किया था [3] । मखक बहुत प्रतिभाशाली एव विद्वान व्यक्ति थे [4] । इन्हे भी सुस्सलदेव के पुत्र श्री जयसिह ने राज्य का "प्रजापालनकार्यपुरूष" धर्माधिकारी नियुक्त किया था [5] ।

महाकवि मखक की वशपरम्परा का वर्णन अन्य विद्वानो ने भी इनके महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के आधार पर ही दिया है । "श्रीकण्ठचरितम्" के इस अन्त साक्ष्य के अतिरिक्त राजतरगिणी मे इनके भाई का उल्लेख मिलता है । मखक से अग्रयजन्मा, पुण्यात्मा तथा तन्त्रपति "श्रृगार" ने भी श्रीद्वार मे मठ, उद्यान, वापी का निर्माण कराया [6] । राजतरगिणी मे "अलकार" का भी उल्लेख प्राप्त होता है [7] । बाह्य राजस्थान के मन्त्री "अलकार" बहुतेरे शत्रुओ को मार गिराया । क्योकि मानवयुद्ध मे कोई योद्धा उसे पछाड नही सकता था [8] । अलकार का भाई "मखक" राज्य का विदेशमत्री था, उसने एक मठ और मन्दिर बनवाकर श्रीकण्ठ शिव की स्थापना की [9] ।

---

1 श्रीकण्ठ 3/47
2 श्रीकण्ठ 3/50
3 श्रीकण्ठ 3/62
4 "अधीतवेदग्ध्यविशेषम क्रमात्कलासु शास्त्रे व्यवहारकर्मसु ।
विशेषवात्सल्यवतीव य सुत मुखैरचुम्बदबहुभि सरस्वती ।। श्री कण्ठ0 3/65
5 अनन्तर सुस्सलदेवनन्दनो यमादराच्छ्री जयसिह भूपति ।
यथात्प्रजापालन कार्य पुरूष रूष वितन्वन्नविनीत जन्तुषु ।। श्रीकण्ठ0 3/66
6 राज0 8/2422 पृष्ठ0 – 469
7 राज0 8/2323, 2426, 2557, 2618, 3354
8 अलकाराभिद्यो बाह्य राजस्थापनाधिकार भाक् ।
अधृष्योऽमानुषै युद्धे विरूद्धान्बहुधाऽधीत ।। राज0 8/2556
9 संधि विग्रहिको मंखकाख्योऽलंकार: सोदर ।

डॉ0 एम0ए0 स्टेइन द्वारा अनूदित राजतरगिणी मे भी "श्रृगार" , "अलकार" मखक का सक्षेप मे वर्णन प्राप्त होता है [1] ।

"श्रीकण्ठचरितम्" के अन्त साक्ष्य के आधार पर ही विद्वानो [2] ने मखक की वशपरम्परा का निर्धारण किय है। परन्तु उन विद्वानों ने कोई अलग बात नही कही प्रत्युत सब कुछ "श्रीकण्ठचरितम्" जैसा ही वर्णित किया ।

(iii) समय निर्धारण –

महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के तृतीय सर्ग मे अपना स्पष्ट परिचय दिया परन्तु किस काल मे यह उत्पन्न हुए इस विषय पर कोई स्पष्ट सकेत नही किया । किन्तु इस विषय पर "श्रीकण्ठचरितम्" की जोनराजकृत टीका मे प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में यह उल्लेख विद्यमान है कि यह महाकवि मखक कश्मीर देश मे सुस्सल पुत्र राजा जयसिह के समय मे उत्पन्न हुए , जयसिह का राज्य काल 1126 ई0 से 1149 ई0 तक था [3] ।

महाकवि मखक ने इस महाकाव्य के पच्चीसवे सर्ग मे काव्यकुब्ज राजा गोविन्दचन्द्र का उल्लेख किया है । डॉ0 व्यूहलर के मतानुसार राजा गोविन्द चन्द्र का समय 1110 – 1144 ई0 के अन्तर्गत निर्धारित किया है [4] । जेम्स प्रिसेस नामक अग्रेजी विद्वान ने

---

1. राज0 – अपूदित डॉ0 एम0ए0 स्टेइन –
"A chronicle of the kings of Kashmir"
श्लोक स0 2422, 2423, 2557, 2618, 2671, 2925, 3354/

2 (1) कल्चरल हेरिटेज आफ कश्मीर – सुरेश चन्द्र बनर्जी
संस्कृत महाकाव्य परम्परा – डॉ0 केशवराव मुसलगॉवकर
(ii) Survey of Sanskrit literature - C.Kunhanraj
(iii) Glimpses of Kashmir culture ceries- Dr.Sunil Chandra Rai
(iv) History of classical sanskrit literature- M.Krishnamachariar
(vi) Kashmir report = Dr. Buhler.
(vii) History of Indian Literature - M.Winternits

3. "अयं मंखक कवि कश्मीर देशे सुस्सल सूनोर्जयसिह महीपालस्य समये समुत्पन्न जयसिहस्य राज्यकालस्तु 1126 मितात्खिस्त सवत सरादारभ्य 1149 मितखिस्तसवत्सर पर्यन्त मासीत" (श्रीकण्ठ0 काव्यमाला 3 निर्णय सागर बुम्बई सस्करण पृ01)

4. काश्मीर रिपोर्ट – डॉ0 बुहलर पृ0 51

भी इस विवरण को प्रमाणिक स्वीकार किया है [1] किन्तु व्यूहलर द्वारा निर्धारित गोविन्दचन्द्र के समय मे कुछ अन्तर है क्योंकि राजा गोविन्दचन्द्र का 1114–1154 ई0 का अकित ताम्रपत्र प्राप्त होता है[2] महामहोपाध्याय डॉ0 पी0वी0काणे ने साहित्य दर्पण की भूमिका मे गोविन्दचन्द्र का समय 1140 ई0 के समीपवर्ती स्वीकार किया है [3] ।

राजतरगिणीकार कल्हण "मखक" के समसामयिक थे जैसा कि प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के प्रथम सर्ग के प्रथम पृष्ठ पर इसका विवरण प्राप्त होता है कि महाकवि मखक के समय के अन्य बहुत से कश्मीरी विद्वानो का परिचय इस ग्रन्थ के अन्तर्गत पच्चीसवे सर्ग मे प्राप्त होता है, महाकवि कल्हण ने भी इसी समय "राजतरगिणी" नामक कश्मीरी राजाओ का ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा [4] ।

डॉ0 सुनील चन्द्र राय मे "जल्हन" , "कल्हन" एव "मखक" आदि विद्वानो को समकालीन बताया है [5] ।

महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" मे लिखा है कि सुस्सल देव के पुत्र श्रीजयसिह ने मखक को "प्रजापालन – कार्य पुरूष" धर्माधिकारी नियुक्त किया था [6] । कल्हण की

---

1. Assesb on Indian Inticuitis II - James Princep.
2 हिस्ट्री ऑफ कन्नौज – डॉ0 आर0एस0त्रिपाठी पृ0 369–374
3 साहित्य दर्पण – पचम सस्करण 1965 ई0 मे प्रकाशित पृ0 61 भूमिका भाग – देखिये ।
4 श्रीकण्ठ 0 – प्रथम सर्ग का पृ0 1
5- "came to an end with the death of Harse and the second year of the 12th century marked the decision of the second lohara dynasty on Kashmir throne among the littereteurs , who received patronage of this court, were the celebralted poets Jolhan, Mankha and Kalhand (Early History and culture of Kashmir) Dr. Sunil Chandra Rai, page 182-183.
6 श्रीकण्ठ0 3/66

राजतरगिणी से सिद्ध है कि महाकवि मखक के जीवन मे यह घटना "श्रीकण्ठचरितम्" की प्रसिद्धि के पश्चात् घटी [1]। कल्हण कृत राजतरगिणी के वर्णनानुसार जयसिह का राजत्वकाल 1118 – 1150 ई0 के अन्तर्गत सिद्ध होता है [2]। जोनराज द्वारा प्रणीत द्वितीय राजतरगिणी मे जयसिह का राज्यकाल लगभग वही 1118 से 1155 ई0 के अन्तर्गत सिद्ध होता है [3]।

महाकवि मखक ने राजा जयसिह के राज्यकाल मे "श्रीकण्ठचरितम्" की रचना की। श्रीवकिमचन्द्र मण्डल के मतानुसार मखक विरचित "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का रचनाकाल 1118 – 1155 ई0 के अन्तर्गत ही निर्धारित होता है [4]।

"श्रीकण्ठचरितम्" की रचना के अनन्तर कश्मीर राजा जयसिह के अमात्य "लड्कक" (मखक के अग्रज) की विद्वत्सभा मे स्वकाव्य समीक्षा हेतु समुपस्थित विद्वानो के समीप महाकवि मखक ने इस महाकाव्य को पढकर सुनाया था [5]। उस समय महाकवि मखक बडे सकोची स्वभाव के थे, इसलिए भ्राता श्री "लड्कक" स्वय महाकवि मखक को अपने आसन पर जबर्दस्ती बिठाया था [6]।

---

1 राजतरगिणी – कल्हण 8/3354
2 " " 8/3404
3 राजतरगिणी ॥ – जोनराज, श्लोक स0 16 – 39
(कविता सस्करण 1836 ई0 मे प्रकाशित)
4 सागरिका त्रैमासिकी पत्रिका – स0 डॉ0 रामजी उपाध्याय,
चतुर्दशवर्षेप्रथमाड्क 1
5 श्रीकण्ठ0 25/1, 14–18
6 "विनयेन नमन्नग्रे शपथैरर्थितोऽसकृत्।
ज्यायसोऽर्धासने तस्य स कथ चिदुपाविशत्॥"
श्रीकण्ठ0 25/21

महाकवि मखक ने 1125 ई0 तक "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य लिख लिया था और 1130 ई0 तक श्रीकण्ठचरितम्" की एक महाकाव्य के रूप मे पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी । अतएव "श्रीकण्ठचरितम्" के रचनाकाल के आधार पर अनुमान लगाकर बताया जा सकता है कि मखक का जन्म सन् 1100 ई0 स0 1043 वि0 के लगभग हुआ होगा ।

महाकवि मखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के पच्चीसवे सर्ग मे अपने समकालिक एव पूर्ववर्ती आचार्यो जैसे - "रूय्यक", "लक्ष्मीधर", 'जल्हण", "अपरादित्य", मुरारि प्रभाकर, श्रीगर्भ , मण्डन, देवधर, दामोदर, कल्याण (कल्हण) भुडुश्रीवत्स, अभिनवगुप्त इत्यादि 32 विद्वानो का उल्लेख किया है । इन विद्वानो एव समकालीन राजाओ के आधार पर भी महाकवि मखक का समय निर्धारित किया जा सकता है ।

आलकारिक आचार्य रूय्यक महाकवि मखक के गुरू थे [1] । जब महाकवि मखक ने अपने अग्रज "लड्कक" उपनाम "अलकार" की विद्वत् सभा मे अपना महाकाव्य प्रस्तुत किया । उस समय सभा मे राजपुरी सन्धि विग्रह नियोगी कवि जल्हण समुपस्थित थे [2] कल्हणकृत "राजतरगिणी " से ज्ञात होता है कि कश्मीर राजा उच्चल – जयसिह के राज्यकाल मे (1101–1111, 1118 – 1155 ई0 के अर्न्तगत) राजपुरी राजा सोमपाल थे [3] । अत महाकवि मखक के अनुसार कवि जल्हण ने "सोमपालविलास्" की रचना की और जल्हण की प्रेरणा से ही सोमपाल ने राजा जयसिह से 1133 ई0 के पूर्व मित्रता स्थापित की । जयसिह के समकालिक कान्यकुब्ज राजा "गोविन्दचन्द्र" का भी उल्लेख किया है । कन्नौज राजा गोविन्दचन्द्र के समय "कृत्यकल्पतरू" के रचयिता विद्वान "लक्ष्मीधर" सन्धिविग्रहिक

---

1 "त श्रीरूय्यकमालोक्य स प्रियं गुरू मग्रहीत् ।
सौहार्द्र प्रश्रय रस स्त्रोत सभेद मज्जनम् ॥

श्रीकण्ठ0 25/ 30

2 श्रीकण्ठ0 25/73–75

3 राजपुर्य्यामाकुत्वं नीयतामाससाद तत् ।
तदभर्त्तु सोमपालस्य दूरस्थस्यान्तिकम् चिरात् ॥

राज0 कल्हण 8/1467

थे [1] ।

महाकवि मखक ने प्रस्तुत महाकाव्य मे अपरादित्यप्रथम का उल्लेख किया है[2] । इस विषय मे यह ज्ञातव्य है कि सस्कृत जगत मे दो अपरादित्य हुए है । द्वितीय अपरादित्य का समय 1186 – 1187 ई0 है क्योकि इनके द्वारा अकित शिलालेख प्राप्त होता है जबकि महाकवि मखक द्वारा उल्लिखित अपरादित्य प्रथम है । अपरादित्य प्रथम का समय 1118 " 1139 ई0 है [3] अपरादित्य प्रथम "अपरार्क" नाम से प्रसिद्ध हुए । महामहोपाध्याय डॉ0 पी0वी0 काणे द्वारा ख्याति प्राप्त विद्वान लक्ष्मीधर द्वारा विरचित "कृत्यकल्पतरू" का रचनाकाल 1110 – 1130 ई0 के अन्तवर्ती तथा अपरार्ककृत याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र ग्रन्थ का रचनाकाल 1110 – 1130 ई0 के अन्तवर्ती रखा है [4] ।

अतएव "लक्ष्मीधर" और "अपरार्क" महाकवि मखक के समसामयिक थे । महाकवि मखक के अग्रज " अलकार" द्वारा अपने अनुज "मखक" के कविकर्मपरीक्षणार्थ आयोजित विद्वतसभा मे दोनो उपस्थित हुए थे । मखक के गुरू आचार्य "रूय्यक" विल्हण के परवर्ती और माणिक्यचन्द्र के पूर्ववर्ती थे ।

जैन विद्वान "हेमचन्द्र" महाकवि मखक के समकालिक थे, तथा कश्मीर मे ही नृपति जयसिह के सभापण्डित थे । "हेमचन्द्र" ने "काव्यानुशासन" और सस्कृत का एक कोश अनेकार्थसग्रह" लिखा था । मखक ने भी एक अनेकार्थ "मखकोष" की रचना की

---

1 History and culture of Indian People - Dr. Ramesh Chandra Majumdar.

2 श्रीकण्ठ0 25/108–111

3 इण्डियन कल्चर, दि जर्नल ऑफ दि इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट कलिकाता, द्वितीय खण्ड, पृ0 411, 413–416

4 हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र – म0 डॉ0 पी0वी0 काणे
(खिस्ताब्द 1953 चतुर्थखण्ड – भूमिकान्तर्गत दशम पृष्ठ) अवलोकनीयम्

मखकोष" की टीका भी स्वय कोशकार के द्वारा ही लिखी मानी जाती है । मखटीका का शतश उपयोग हेमचन्द्र के शिष्य "महेन्द्रसूरी" ने 1180 ई0 के लगभग हेमचन्द्र के "अनेकार्य–सग्रह" की स्वटीका " अनेकार्थकौरवकारकौमुदी" मे किया है । इसके पूर्व हेमचन्द्र 1174 ई0 मे दिवगत हो चुके थे । "मखकोष" को महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम" महाकाव्य के पश्चात् लिखा था । अत "मखकोष" सम्भवत 1150 ई0 के लगभग लिखा होगा इससे भी मखक की स्थिति 1100 से 1160 ई0 ही सिद्ध होती है ।

महाकवि मखक के "श्रीकण्ठचरितम्" का रचनाकाल जयसिह के समय (1129 – 1150 ई0) के अनुसार डॉ0 व्यूहलर ने 1135 ई0 से 1145 ई0 के बीच निश्चित किया है[1] ।

राजतरगिणी के टीकाकार डॉ0 स्टेइन महोदय ने 1128 – 1144 ई0 के अन्तर्गत इसका समय स्वीकार किया है [2] । अन्य विद्वानो ने भी पूर्वोल्लिखित डॉ0 व्यूहलर का मत ही स्वीकार किया है ।

उपर्युक्त सभी प्रमाणो के आधार पर महाकवि मखक का समय 1100 ई0 से 1160 ई0 निर्धारित होता है ।

(ख) महाकवि मखक की कृतियाँ :–

महाकवि मखक की अनेक कृतियाँ मानी गयी है उनमे कुछ विवादास्पद है । मखक

---

1 कश्मीर रिर्पोट – डॉ0 व्यूहलर पृ0 50

2. "Professor Buhler has already whown that Monkha wrote his poem only a few years before the composition of Kalhans chronicle its date must fall between the years A.D. 1128 and 1144.
(Raj. Anudit Dr.M.A.Stain Vol.I See II, P. 12)

की कृतियो मे "श्रीकण्ठचरितम्", "मखकोष", और "मखसूत्रोदाहरण" ये तीन प्रसिद्ध कृतियॉ है। अन्य छ कृतियॉ और है जो कि विवादित है – "साहित्य मीमासा", "नाटकमीमासा" "हर्षचरितवार्तिक", "श्रीकण्ठस्तव", "व्यक्तिविवेक विचारोऽलकार" एव "सर्वस्ववृन्ति", इत्यादि है [1] इन रचनाओ के कर्ता के विषय मे विद्वानो का मतैक्य नहीं है।

अलकारसर्वस्त" की वृत्ति के रचयिता का प्रश्न विवादास्पद बना हुआ है क्योकि समुद्रबन्ध ने अपनी टीका मे इसे मड्खुक की रचना बताया है। "मड्खक" शब्द "मडखु क" अशुद्ध रूप है। वैसे "अलकारसर्वस्व" के कर्ता महाकवि मखक के गुरू आचार्य रूय्यक ही सर्वसम्मति से माने गये है। अलकार सर्वस्व की सर्वाधिक प्राचीन टीका "अलक" नाम की थी जो कि दैवदुर्विपाक से कालकवलित हो गई।

अलकारसर्वस्व मे वृत्ति एव सूत्र दोनो का रचयिता रूय्यक को माना गया है[2], रूय्यक के लगभग 75 वर्ष बाद विमर्शिनीकार जयरथ हुए। इन्होने भी अपने पाठ मे "निजालकार ही दिया है अर्थात इनके मत मे सूत्रकार एव वृत्तिकार एक व्यक्ति थे। परवर्ती ग्रन्थकारो ने रूचक अथवा रूय्यक को ही वृत्ति का कर्ता स्वीकार है[3]। "चित्रमीमासा" मे भी इसका रचयिता "रूचक" को ही माना गया है[4]। परन्तु बर्नले के तजौर मे उपलब्ध हस्तलिखित प्रति मे वृत्ति के रचयिता के विषय मे श्लोकार्ध मिलता है –

"गुर्वलकार सूत्राणा वृत्या "

---

1 अलकारसर्वस्व - टीका समुद्रबन्ध त्रिवेन्द्रम सस्करण पृ0 15–16

2 "निजालकार सूत्राणा वृत्यातात्पर्य मुच्यते"
(अलकार सर्वस्व – अनुवादक डॉ0 रामचन्द्र द्विवेदी पृ0 2)

3. "तदुक्त रूचकेन एषार्थाश्रयापि धर्म विषये श्लिष्ट शब्द हेतुका क्वचिद् दृश्यते"
(पृ0 393 रत्नापण टीका -- प्रतापरूद्र यशोभूषण)
यही सर्वस्ववृत्ति मे पृ0 72, 425, 168, 181 पर भी है।

4 चित्तमीमासा – (पृष्ठ 72) का उल्लेख अलकारसर्वस्व मे भी (पृ0219) पर है ये तु उद्भिन्न वस्तु निगूहन व्याजोक्ति . तेषामिहापि व्याजोक्ति रेवना पहनुतिरिति रूचकादय।"

और त्रिवेन्द्रम प्रति मे भी इसी प्रकार का पाठ है । केरलीय ग्रन्थ विधि मे लिखी जिन तीन दक्षिणात्य पाण्डुलिपियो के आधार पर अनन्तशयनम् सस्करण का सम्पादन हुअ है । इनमे से केवल एक (गसज्ञक) पाण्डुलिपि का पाठ "गुर्वलकार " है किन्तु इसकी पुष्पिका मे सर्वस्व का राजानक श्री रूचक की कृति के रूप मे ही उल्लेख है । दक्षिणात्य पाठ परम्परा के अन्त मे एक श्लोक अवश्य मिलता है, वह है --

"इति मखुको वितेने कश्मीर क्षितिपसान्धि विग्रहिक ।
सुकविमुखालकार तदिदमलकार सर्वस्वम् ।।"

इस प्रकार दक्षिणात्य ~~पाठ~~ पाठपरम्परा के पास मखुक का कृतित्व मानने के लिए दो प्रमाण है -- एक तो 'गुर्वलकार' पाठ तथा दूसरा उपर्युक्त श्लोक । पाठ प्रमाण का स्वत कुछ भी महत्त्व नहीं है । समुद्रबन्ध ने स्वय इस पाठ की व्याख्या "गुर्वित्येन विवक्षितस्य तात्पर्यायावश्यक वक्तव्यता दर्शयति" की है जिसका अभिप्राय ग्रन्थमहत्त्वपूर्ण होने के कारण व्याख्या योग्य है । श्लोक प्रमाण के आधार पर ही कतिपय विद्वानो ने इस कल्पना को जन्म दिया कि 'गुर्वलकार सूत्राणा" से मखक के गुरू रूय्यक को अलकार सूत्र का लेखक और वृत्ति (सर्वस्व) का लेखक मखक को स्वीकार किया है । परन्तु यह व्याख्या बीसवी शती की देन है । जहा तक समुद्रबन्ध का सम्बन्ध है, वह सूत्र एव वृत्ति दोनो का लेखक मखक को ही मानता है । "मखुकोपज्ञ" "मखुकग्रन्थ" तथा "मखुककृति" के रूप मे उल्लेख करता है । ग्रन्थ के रूप मे सूत्र या वृत्ति दोनो मे से किसी भी अग का उद्धरण देता है और ग्रन्थकार के रूप मे मखक को सूत्र और वृत्ति दोनो से सम्बद्ध करता है । समुद्रबन्ध ने अपनी टीका के अन्त मे लिखा है [1] । "मङ्खुक" शब्द "मङ्खक" का अशुद्ध रूप है । मङ्खककृत "श्रीकण्ठचरितम" के अनुसार आलकारिक आचार्य रूय्यक[2] महाकवि मङ्खक [3]

---

1 "मङ्खुक निबन्धा विवृत्तौसहिता या मिह समुद्र बन्धेन"
(अलकारसर्वस्व – समुद्रबन्ध टीका)
समुद्रबन्ध के अतिरिक्त तुँगभद्र नामक लेखक भी "मखक" का सम्बन्ध "सर्वस्व" से लगाता है

2 श्रीकण्ठ0 25/26,30 /

3 श्रीकण्ठ0 3/63, 72 /

अथवा "मड्ख"[1] के गुरू थे।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या एक श्लोक और समुद्रबन्ध के आधार पर यह मान लिया जाय कि रूय्यक का अलंकारसर्वस्व से कोई सम्बन्ध नही है और मखक ही उसका एकमात्र लेखक है ? तथा दक्षिण मे मखक के कृतित्व की परम्परा प्रचलित कैसे हुई। समुद्रबन्ध द्वारा मखक को सर्वस्वकार मानना "इति मखकोवितेने" आदि श्लोक पर आश्रित है। "सर्वस्व" के साथ मखक का सम्बन्ध दो कारणो से हो सकता है। एक तो यह कि रूय्यक के शिष्य होने के कारण महाकवि मखक ने अलकारसर्वस्व का परिष्कार किया होगा। रूय्यक ने स्वय भी अपने योग्य शिष्य मखक के महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" से कुछ उदाहरण[2] सर्वस्व मे रखे है।

जिनके सम्बन्ध मे यह सम्भावना भी हो सकती है कि "सर्वस्व" का परिष्कार करते समय महाकवि मखक ने स्वय ही अपने महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् से प्रस्तुत उदाहरणो का समावेश किया हो। अपने गुरू की कृति के परिष्कार तथा प्रचार मे यह योगदान ही दक्षिण जैसे सुदूर प्रदेश मे मखक के कृतित्व का आधार बना था। इस प्रकार "इति मखुको वितेने" के "वितेने" पद का अर्थ यही समझा जा सकता है कि मखक ने अपने गुरू के "सुकविमुखालकार–भूत" अलकार सर्वस्व का केवल विस्तार किया था। मखक कश्मीर के राजा जयसिह के मन्त्री थे।[3] सन्धि विग्रहिक होने के कारण मखक का नाम सरलता से दक्षिण मे पहुँच गया होगा। वहाँ के राज्याश्रित अलकारशास्त्र के सुन्दर ग्रन्थ "सर्वस्व" मे मखक के कतिपय पद्य देखकर इसे उनकी ही कृति मान ली हो और तब से यह भ्रान्त परम्परा समुद्रबन्ध के समय तक प्रचलित हो गयी। अन्यथा ऐसा एक भी विश्वनीय प्रमाण नहीं है जिससे मखक को "सर्वस्व" का कर्ता माना जा सके।

---

1. श्रीकण्ठ0 1/56 /
2 श्रीकण्ठ0 के 2/49, 5/23, 6/16, 6/79 तथा 10/10 श्लोक अ0स0 के क्रमश पृ0 21, 87, 90 पर मिलते है।
3. राजतरगिजी – कल्हण 8/3554

जब कि दक्षिण भारत के लेखक कुमारस्वामी[1] और जगन्नाथ[2] इत्यादि ग्रन्थकारो ने भी सूत्र और वृत्ति दोनो का लेखक आलकारिक आचार्य रूय्यक को माना है । इसके अतिरिक्त जयरथ ने भी जो स्वय कश्मीरी पण्डित थे अलकारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनो का लेखक रूय्यक को ही स्वीकार किया है [3] । जयरथ ने "व्यक्ति विवेक विचार" का रचयिता भी अलकार सर्वस्वकार रूय्यक को ही माना है । परन्तु समुद्रबन्ध के कथनानुसार अलकार सर्वस्व के वृत्तिकार मखक "व्यक्ति विवेक विचार" के कर्ता है और भी डॉ0 व्यूहलर के अनुसार महाकवि मखक ही अलकार सर्वस्व के वृत्तिकार , वही "व्यक्ति विवेक-व्याख्यानकार" , "साहित्य – मी मासाकार" "नाटकमीमासाकार" और "हर्ष चरित वार्तिककार" है[4] ।

सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसीं से प्रकाशित "साहित्यमीमासा" मे महाकवि मखक को इसका रचयिता स्वीकार किया है [5] ।

समुद्रबन्ध का दृढ मत है कि "श्रीकण्ठस्तव" नामक रचना भी महाकवि मखक की है [6] । त्रिवेन्द्रम सस्करण मे "मदीये" के स्थान पर "मखीये" पाठ है । सजीवनी

---

1 रत्नापण – कुमार स्वामी पृ0 393, 396, 425, 448

2 रस गगाधर – जगन्नाथ पृ0 251, 348, 343, 352, 482

3 विमर्शिणी टीका – जयरथ पृ0 15 – 17

4 काश्मीर रिपोर्ट – डॉ0 व्यूहलर पृ0 66 –68

5 साहित्य मीमासा – महाकवि मखक प्रणीत, सं0 डॉ0 गौरीनाथ शास्त्री
(स0 स0 वि0 वि0 प्रकाशन , प्रथम सस्करण सरस्वती (भवन ग्रन्थमाला 119, 1984 ई0

6 अलकारसर्वस्वम् – समुद्रबन्धटीकोपेतम् , त्रिवेन्द्रम सस्करण, पृ0 16

मे भी "मखीये – मखाख्यक विकर्तृके" [1] के रूप मे त्रिवेन्द्रम सस्करण का ही पाठ है, यह पाठ भेद एक टेढा प्रश्न पैदा कर देता है । क्या "श्रीकण्ठस्तव" अलकारिक आचार्य रूय्यक का नही है ? त्रिवेन्द्रम सस्करण के इस पाठ का दो दृष्टियो से महत्त्व नही के बराबर है । प्रथमत उस सस्करण के अनुसार "सर्वस्व" का लेखक मखक है फिर उसे "मखीये" क्यो "मदीये" ही लिखना चाहिये था । वृत्त्यनुप्रास के लिए वृत्तिकार ने "मदीये श्रीकण्ठस्तवे" के उपोद्घात से "आटोपेन पटीसा" उदाहरण दिया है । अब इन दोनो पाठो को यदि यथास्थित मान लिया जाये तो यह कहना होगा कि "श्रीकण्ठस्तव" मखक की रचना है और "अहीनभुजगाधीश ––" आदि चार श्लोक एव अन्य श्लोक वहीं से लिए गये है । दोनो ही निष्कर्ष तथ्यहीन है, क्योंकि "आटोपेन पटीयसा"[2] श्लोक श्रीकण्ठचरितम् का है, "श्रीकण्ठस्तव" का नही है । यह भी नही माना जा सकता कि ये दोनो भिन्न कृतियाँ नहीं है । अपितु एक कृति के नाम भेद हैं । क्योंकि "अहीनभुजगाधीश – " आदि चार मे से एक भी पद्य श्रीकण्ठचरितम् मे नही मिलता, जो सम्पूर्णतया उपलब्ध है तथा काव्यमाला मे प्रकाशित है । अतएव न तो "श्रीकण्ठचरितम्" और "श्रीकण्ठस्तव" को एक कृति माना जा सकता है और न ही "श्रीकण्ठस्तव" को मखकप्रणीत ही मान सकते है । वस्तुत "श्रीकण्ठस्तव" सर्वस्वकार रूय्यक की रचना है । आफ्रेट के अनुसार हर्षचरित मे वर्णित श्रीकण्ठ जनपद की महिमा का इसमे वर्णन है [3] । सर्वस्व मे उद्घृत श्लोक शिव की स्तुति मे है । इससे केवल यही सभावना की जा सकती है कि या तो उपर्युक्त श्लोक मगलाचरण के है । अथवा इस काव्य मे प्रसगत शिव का वर्णन है । अत "श्रीकण्ठ" शब्द स्थान के लिए ही नही अपितु शिव के लिए भी प्रयुक्त होता है । "स्तव" शब्द के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि "श्रीकण्ठस्तव" शिव स्तुति मे विरचित काव्य है । किन्तु जब तक कोई निर्णायक प्रमाण न मिले तब तक केवल सर्वस्व मे उद्घृत श्लोको के आधार पर यह नही कहा जा सकता है । कि "श्रीकण्ठस्तव" शिवस्तुति मे

---

1 अलकारसर्वस्वम्– सजीवनी टीका पृ0 12
2 श्रीकण्ठ0 2/49
3. आफ्रेट कैटलॉग, पृ0 210

विचरित काव्य है [1] । हाँ यह सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन द्वारा शिव की महिमा का स्तवन "श्रीकण्ठस्तव" काव्य का स्वरूप रहा होगा ।

महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" की रचना के पश्चात् "मड्खकोष" लिखा तदनन्तर "मड्खसूत्रोदाहरण" प्रणीत किया । उस समय कश्मीर मे प्रचलित 2256 नानार्थक कश्मीरी पदों को मखक ने "मड्खकोष" मे 1007 पद्यो मे निबद्ध किया । कश्मीरी महाकाव्यो के अध्ययनार्थ "मड्खकोष" का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है । अस्तु निष्कर्ष यह निकलता है कि महाकवि मखक की तीन ही कृतियाँ है –

1 श्रीकण्ठचरितम्

2 मड्खकोष

3 मड्खसूत्रोदाहरण

अन्य छह कृतियाँ जो कि विवादित है उनको सर्वसम्मति से रूय्यक द्वारा प्रणीत माना जाता है । "साहित्यमीमासा" "नाटक मीमासा", "हर्षचरितवार्तिक", "श्रीकण्ठस्तव", "व्यक्तिविवेकविचारोऽलकार", एव "सर्वस्ववृत्ति" आदि ग्रन्थ रूय्यक के है ।

(ग) श्रीकण्ठचरितम् का संक्षिप्त परिचय :–

कश्मीरी महाकवि मखक की प्रसिद्ध रचना "श्रीकण्ठचरितम्" है । यह महाकाव्य साहित्यिक सौन्दर्य "श्रीकण्ठचरितम्" है । यह महाकाव्य साहित्यिक सौन्दर्य से मण्डित है । ऐतिहासिक एव पौराणिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण काव्य है । "श्रीकण्ठचरितम्" एक विशाल रचना है जिसको पच्चीस सर्गों मे निबद्ध किया है । इसमे शिवजी के द्वारा दैत्य त्रिपुर के विनाश की पौराणिक कथा है । महाकवि मखक के पिता विश्ववर्तन ने

---

1 सहृदय लीला – पिशेल सम्पादित – भूमिका भाग देखिए ।

एक दिन मखक के स्वप्न मे उक्त काव्य रचना का आदेश दिया [1]।

फलस्वरूप अपने कैलासवासी पिता के आदेश से महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" का प्रणयन किया [2] ।

प्रस्तुत महाकाव्य मे पच्चीस सर्ग है । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का प्रथम सर्ग "नमस्कारात्मक" है । इस सर्ग मे महाकवि मखक ने विविध देवताओ की स्तुति की है । इसके पश्चात् "सुजनदुर्जनवर्णन" नाम के द्वितीय सर्ग मे सुकवियो का गुण कीर्तन है । तदनन्तर "देशवशादिवर्णन" नाम के तृतीय सर्ग मे अपनी जन्म भूमि कश्मीर प्रदेश का मनोहारी वर्णन किया है । और अपना पूरा परिचय प्रस्तुत किया है । इस सर्ग के अन्त मे "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के प्रणयन का कारण भी स्पष्ट किया है । आचार्य रूद्रट का अनुसरण करते हुए इन्होंने "कैलासवर्णन" नामक चतुर्थ सर्ग मे दिव्य नायक भगवान् शिव के निवास स्थान का वर्णन किया है, महाकवि मखक ने इस नगरी के वर्णन मे सभी महाकाव्य के लक्षणो को समावेशित किया है । "भगवद्वर्णन" नामक पञ्चम सर्ग मे इस महाकाव्य के दिव्य नायक शिव का वर्णन किया है । महाकवि मखक ने विविध आलङ्कारिक आचार्यों की रीति के अनुसार षष्ठ सर्ग से आरम्भ करके षोड्शसर्ग पर्यन्त वसन्त–दोलाक्रीडा – पुष्पावचय – जलक्रीडा – सन्ध्या – चन्द्र – चन्द्रोदय – प्रसाधन – पानकेलि – कामक्रीडा – प्रभात आदि विविध वस्तुवर्णन का प्रबन्ध महाकाव्य के अनुरूप विभूषित किया है ।

षोड्शसर्ग मे महाकवि मखक के द्वारा प्रभातवर्णन मे भगवान शिव के शय्यात्यागार्थ वैतालिको द्वारा सुप्रभातगान कराया गया है । तत्पश्चात् "परमेश्वरदेवसमागम्" नामक सप्तदश

---

1 द्वैराज्यकारि सुमनोनिवहस्य कर्ण –
पूरश्रिय किमपि वाङ्मयमध्यगीष्ठा ।
तत्कि पुनासि न सुत क्षणदाकुटुन्ब –
लेखावचूलचटुयुक्तिभिरूक्तिदेवीम् ।। श्रीकण्ठ0 3/75

2. "पितृभारती विवृत पौष्टिक क्रियाक्रममाण भक्ति सहवासी मानस. ।
इति स प्रबन्धयति मङखको गिर विरचय्य शंकरचरित्र किकरीम" ।। श्रीकण्ठ0 3/78

सर्ग मे त्रिपुरासुर से त्रस्त देवो ने ब्रह्मा जी के साथ देवाधिदेव लोकशकर के प्रति अपने त्रास हेतु निवेदित करने के लिए द्वारपाल नन्दी के समक्ष भगवान शकर के दर्शनार्थ अभिलाषा प्रकट की । द्वारपाल नन्दी ने ब्रह्मा आदि देवताओ के आगमन को शिव के प्रति निवेदित किया । यथाशीघ्र देवाधिदेव भगवान शिव जी ने सबको बुलाकर कुशलता आदि जानकर उनके आगमन का कारण पूछा । उनके आगमन का कारण जानकर उनके कार्य की सिद्धि के लिए भगवान शिव तत्पर हुए ।

महाकवि मखक ने इस महाकाव्य के सप्तदश सर्ग से आरम्भ करके चौबीसवे सर्ग पर्यन्त युद्ध मन्त्रणा, रिपु प्रत्याक्रमण, अस्त्र–शस्त्र आदि उपकरणो का सञ्चालन एव वीर रस के अनुभाव का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है । वीर रस प्रधान इस महाकाव्य मे नायक – प्रतिनायक के सघर्ष मे अधर्म पर धर्म की, अन्याय पर न्याय की विजय का वर्णन किया है । इस प्रकार महाकाव्य के गुणो को ध्यान मे रखकर महाकवि ने यहॉ तेइसवे सर्ग मे देव और दानव दोनो के मध्य प्रलयङ्कारी युद्ध का वर्णन कियाहै । और "त्रिपुरदाहवर्णन नाम के चौबीसवे सर्ग मे यह देव–द्रोही त्रिपुरासुर शिवजी के द्वारा छोडे गये ज्वाजल्यमान बाण से भस्मीभूत होकर पश्चिमी समुद्र मे जा गिरे ।

प्रस्तुत महाकाव्य का अन्तिम पच्चीसवॉ सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । प्रथम राजदरबार मे रहकर राजस्तुति न करना तथा राजस्तुति करने वाले कवियो की निन्दा करना – यह तत्कालीन कवि कर्म परम्परा मे क्रान्ति का सूचक है । द्वितीय उस समय कश्मीरी विद्वानो का एव उनकी विद्वत्ता का तथा उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण चित्र उपस्थित करता है ।

उपर्युक्त सर्गो मे वर्णित विषयो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे भी "किरातार्जुनीयम्", "शिशुपालवधम्", "हरविजय", "कप्फिणाभ्युदय", आदि महाकाव्यो की तरह प्रबन्धात्मकता के निर्वाह का ध्यान नही दिया गया है । चतुर्थ और पचम सर्ग में इतिवृत्त प्रारम्भ होने पर, वही दीर्घकाल के लिए अवरूद्ध हो जाता है

(षष्ठ सर्ग से षोड्श सर्ग तक) फिर सप्तदश सर्ग से जैसा तैसा अग्रसर होता है । उपर्युक्त 11 सर्गो मे महाकवि मखक ने अपने काव्यशास्त्र का पाण्डित्य निदर्शित किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" मे पद विन्यास के साथ भावो का मिश्रण काव्य की विशेषता है । इनकी भाषा मे पूर्ण प्रवाह है कही गतिरोध नहीं है । यह कवि सरल शब्दो द्वारा घटना का प्रतिपादन करता है । शब्द शय्या घटना के अनुरूप होती है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे वैदर्भी रीति अपनाई गई है । यह ग्रन्थ प्रसाद गुणपूर्ण है । पढने मात्र से विषय स्पष्ट हो जाता है । ऐसा नही है कि "कोष पश्यन्पदे–पदे" को चरितार्थ करे । केवल बत्तीस अक्षर वाले अनुष्टुप छन्द मे कवि ने ग्रन्थ का प्रणयन किया, जो इतिवृत्त के विस्तार के अनुरूप है । इनकी छन्दीय निपुणता नि सन्देह रूप से उच्चकोटि की है । उनकी भाषा उनकी विद्वता का प्रमाण देती है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की एक मात्र टीका कश्मीरी विद्वान राजानक जोनराज की प्राप्त होती है । राजानक जोनराज ने "श्रीकण्ठचरितम्" की टीका के अवसर पर वाच्यार्थ विवृत्ति उपस्थित करना मुख्य ध्येय बनाया । विषय को सुबोध बनाने के लिए उन सब अर्थो का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत कर ग्रन्थ को बोधगम्य बना दिया है । स्थान–स्थान पर व्याकरण एव दर्शन सम्बन्धी बातो पर विचार किया है । अलकारादि के विषय मे उनकी निर्भ्रान्त बुद्धि का विलास द्रष्टव्य है ।

मखक की यह उक्ति जोनराज पर सटीक घट रही है कि कवि वही है –

"यस्येच्छयैव पुरत स्वयमुज्जिहीते ।
द्राग्वाच्यवाचकमय पृतनानिवेश ।।"[1]

---

1 श्रीकण्ठ0 2/39

इस प्रकार गुण, अलकार, रीति और वृत्ति इत्यादि से रचित यह लक्षण ग्रन्थ माना जा सकता है । आज भी विद्वानो का मत है कि कुछ समीक्षक "श्रीकण्ठचरितम्" लक्षणग्रन्थ का अन्धानुसरण करते है [1] । परन्तु यह कथन न्यायसगत नही है । फिर भी यह रचना प्रशसनीय है । इस ग्रन्थ मे ललित पद विन्यास, गाम्भीर्य , सौन्दर्य , चमत्कार, व्यड्गत्व आदि विविध गुणो से युक्त होने के कारण, शब्द और अर्थ का अविकल सन्निवेश, मनोहर कल्पनाओ से युक्त , भक्तिरस से परिपूर्ण , वैदर्भी रीति सम्पन्न और पदसघटना से युक्त आदि सभी काव्य गुणो के कारण अत्यन्त हृदयग्राही है ।

---

1. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया – डॉ0 लाहरि वाल0 ।।। पृ0 645

द्वितीय अध्याय

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की परम्परा में "श्रीकण्ठचरितम्" का स्थान

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की परम्परा में "श्रीकण्ठचरितम्" का स्थान :-

भारतीय सस्कृत साहित्य की आत्मा सस्कृति है, सस्कृत साहित्य का सृजन महाकवियो द्वारा भावाभिव्यक्ति के रूप मे सहस्त्रो वर्षो पूर्व हुआ, जिसने त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित होकर सहृदयो के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किया । काव्य मानवीय भावनाओ का प्रतिनिधित्व करता है, अतएव यह मानवीय सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ माना जा सकता है । मानव मानस् को जब सहसा सुख-दुख, क्रोध, करूणा, भय आदि की मार्मिक अनुभूति होती है, जब हृदय मे सवेग का गम्भीर आघात होता है तब वह सहसा उस अनुभूति से अनुस्यूत होकर उन भावो को प्रकट करना चाहता है । यही कारण है कि एक समय जब महर्षि बाल्मीकि माध्यन्दिन सवन के लिए तमसा नदी के तट पर पहुचते है और वहॉ व्याध के द्वारा मारे गये क्रौञ्चयुगल मे से एक को विलाप करता हुआ देखकर सहसा ही उनके मुख से यह भाव निकल पडते है [1] ।

वस्तुत महर्षि बाल्मीकि का वह शोक ही कविता है जो कि उनके हृदय का स्पर्श कर उन्हे कुछ कहने के लिए विवश कर देता है । उनका शोक ही श्लोक काव्य का रूप धारण कर लेता है -

"सोऽनुव्याहरणाद भूय शोक श्लोकत्वमागत ।"[2]

इससे यह स्पष्ट होता है कि काव्य की सृष्टि मे भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है, मानव की सुख दुखात्मक अनुभूति ही कविता का रूप धारण कर लेती है, अतएव काव्य का मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । मानव-जीवन से उनके भावो को पृथक नही किया जा सकता है । अत मानव जाति के उद्भव के साथ ही साथ काव्य का उद्भव भी हुआ ।

---

1 "मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम. शाश्वती समा ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥" सस्कृत साहित्य का इतिहास - प0 बलदेव उपाध्याय

2 काव्यमीमासा - राजशेखर (तृतीय अध्याय कविरहस्याध्यप्रकरण पृ0 7)

(क) **कवि और काव्य का स्वरूप –**

कवि के हृदय से निकले हुए उदात्त प्रेममूलक भाव ही काव्य का रूप धारण कर मानव जीवन को सरस एव सहृदय बनाते है। प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद मे कवि को अतीन्द्रि-यार्थ द्रष्टा, क्रान्तद्रष्टा, अलौकिक दृष्टि सम्पन्न कहा गया है[1]

कवि शब्द का प्रयोग शुक्लयजुर्वेद मे इस प्रकार वर्णित है – "कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूरिति" [2]

अथर्ववेद मे कविकर्म का व्यापक उल्लेख प्राप्त होता है [3]। महाभारत मे "कवि" शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है –

"वेदो वेदविदव्यड् गो वेदाड् गो वेदवित्कवि ।"[4]

भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत मे स्वय को कवियो मे शुक्राचार्य बतलाया है[5]। और "अग्निपुराण" मे कवि को स्वय प्रजापति और काव्य ससार को उसकी सृष्टि कहा गया है[6]। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी यही स्वीकार किया है[7]।

राजशेखर की "काव्यमीमासा" मे "कवि" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है –

"कव् वर्णने धातोरिच् प्रत्यये कृते सति कवि शब्द निष्पद्यते।"[8]

---

1 ऋग्वेद 10/55/5
2 शुक्लयजुर्वेद 40/8
3 अथर्ववेद 10/8/32
4 महाभारत 13/149/27
5 महा0 भीष्मपर्व 32/37 एव भगवद्गीता 10/37
6. अग्निपुराण 339/10
7. ध्वन्यालोक पृ0 336 दीपशिखाटीका, टीकाकार चण्डिका प्रसाद शुक्ल
8 काव्यमीमासा – राजशेखर तृतीय अध्याय पृ0 7

वही "शब्दकल्पद्रुम" मे कवि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है –

"कवते सर्व जानाति सर्व वर्णयतीति कवि ।"[1]

इतिवृत्त विशेष का और उनके विषय के वाचको का रसादिविषयक औचित्य के साथ जोडना ही कवि का मुख्य कर्म है ।[2]

महाकवि राजशेखर के अनुसार स्वभावत कवि लौकिक एव अलौकिक भेद से पॉच प्रकार के होते है – भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक एव लौकिक आदि का उल्लेख किया है ।[3] महाकवि मखक ने भी इसका अनुमोदन किया है ।[4] महाकवि बाणभट्ट ने "हर्षचरितम्" मे कवि और काव्य का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया –

"सन्ति श्वान् इवा सख्या जातिभाजो ग्रहे–ग्रहे ।
उत्पादका न बहव कवय शरभा इव ॥"[5]

साधारण कवि तो बहुत से मिल जाते है परन्तु काव्य प्रणयन मे कुशल कवीश्वर नये–नये रूपो का आश्रय लेकर सूक्तियो का सन्निवेश कर रस–पूर्ण काव्य रचना बहुत कम करते है । हृदय को आकर्षित करने वाला काव्य वही है जो कि रस से परिपोषित और माधुर्य आदि गुणो से युक्त हो ।[6] त्रिविक्रम भट्ट ने भी स्वग्रन्थ मे ऐसा ही वर्णित किया है[7]

---

1 शब्दकल्पद्रुम पृ0 68
2 ध्वन्यालोक 3/32
3 काव्यमीमासा पृ0 64–65
4 श्रीकण्ठ0 2/50
5 हर्षचरितम् – 1/5 पृ0 52
6 हर्षचरितम् 1/9 पृ0 6
7. नलचम्पू 1/5 पृ0 4

काव्य मे प्रयुक्त गुण, सूक्ति एव अलकार अगी रस के परिपोषक होकर चमत्कार जनक होते है। नये कवि ललित पद विन्यास मे ही काव्य की रमणीयता मानते है [1]।

(ख) महाकवि मखक की दृष्टि में कवि और काव्य का स्वरूप –

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम् " की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि जो पूर्ववर्ती विविध आलकारिक आचार्यो द्वारा लक्षण ग्रन्थो मे काव्य निर्माण का मानदण्ड निश्चित किया गया है, उन सबका निचोड सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप मे महाकवि मखक ने स्वमहाकाव्य मे "सुजनदुर्जन-- वर्णन" नामक द्वितीय सर्ग के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। इन्होने द्वितीय सर्ग मे कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा की है।

कवि का स्वरूप वर्णित करते हुए महाकवि मखक ने स्वग्रन्थ मे कहा है कि दुस्तर क्रम की दुर्बोधता के सम्बन्ध से श्रोताओ की बुद्धि को जो विरक्त करते है उन्हे कवि नहीं मानते, बल्कि उन्हे कवि समझना चाहिए जिनकी वाणियॉ मधुकण छोडने वाली किसी विस्तृत रस को अधिक विशाल परिपाक के उत्कर्ष वाले पिको की तरह धारण करती हैं।[2]

ऐसे साधारण कवि जो निष्पीडित, सत्य एव स्वल्प सुभाषितो वाली कविता प्रस्तुत करने वाले बहुत मिल जायेगे परन्तु वह महान् कवि जिनकी प्रबन्ध रचना मे बिना आयास के ही अगाध रस एव शुद्धता तथा क्षीर समुद्र सदृश निर्मलता आती है। वही कवि "कवीश्वरत्व" की पदवी धारण करते है। ऐसे कवि सदैव दुर्लभ होते है [3]। ऐसे कुछ कवि परिश्रम

---

1 कवि कण्ठाभरण – पृ0 70 (क्षेमेन्द्र लघु काव्य सग्रह)

2. श्रीकण्ठ0 2/50

3 श्रीकण्ठ0 2/40

पूर्वक गाढाभियोग से एव विविध शास्त्रो के अभ्यास द्वारा तथा सरस्वती देवी की विशेष अनुकम्पा से "कविराज" की पदवी प्राप्त करते है ।[1] इस प्रकार कुछ रसवादी कवि ही "कविमण्डलचक्रवर्ती " की उपाधि से विभूषित होते है –

"अभ्रकषोन्मिषित कीर्ति सितातपत्र

स्तुत्य स एव कविमण्डल–चक्रवर्ती ।"[2]

महाकवि मखक के अनुसार यदि प्रत्यक्ष वृहस्पति जैसे सुकवि हमारे बीच पैदा भी हो जाये तो उनकी दिव्यवाणी को समझने वाले विद्वान व्यक्ति नहीं मिल पाते हैं ।[3]

महाकवि मखक ने तो स्वय को भी असाधारण महाकवियो की कोटि मे परिगणित करते हुए कहा है कि मेठ कवि के देवगण पर आरूढ होने, भारवि के शान्त हो जाने और बाण के विषादयुक्त होने के बाद, शोकयुक्त सरस्वती देवी की दृष्टिया जरा रूके, क्योंकि शिष्ट सरस्वती की सूक्ति उसे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रही है ।[4]

महाकवि मखक के अनुसार उक्त लब्ध प्रतिष्ठ महाकवियो के दिवगत हो जाने पर दुखी माँ सरस्वती देवी से उसका दूसरा शिष्ट पुत्र सान्त्वना देते हुए कह रहा है कि माँ जी शोक मत करिये । आपके शिष्ट पुत्र "मखक" की वाणी आपको प्रसन्न करने की चेष्टा कर रही है । जैसा कि भाष्यकृत जोनराज ने स्पष्ट किया है –

"कश्चनेति सवृत्तिवक्रतया स्वात्मान निर्दिशन्कवि मेंष्ठादि काव्यात्स्वकाव्यमधिक द्योतित वान् ।।"[5]

मखक की गर्वोक्ति अनुचित नहीं है क्योंकि इनके गुरू प्रसिद्ध आलकारिक आचार्य

---

1. श्रीकण्ठ0 2/45
2 श्रीकण्ठ0 2/39,55
3 श्रीकण्ठ0 2/52
4 श्रीकण्ठ0 2/53

रूय्यक ने भी इन्हे वाग्देवी सरस्वती जी का वरद्पुत्र बताया, एत्‌दर्थ महाकवि मखक बिना प्रयत्न के ही कवि कर्म मे सफल हुए ।[1] सरस्वती माता की विशेष अनुकम्पा जिस के ऊपर होती है उसे कवित्व–पाण्डित्य प्राप्त होता है । और जिसके ऊपर माता की कृपा नही है उसे कभी भी प्रगल्भता नही प्राप्त हो सकती है

"सरस्वती मातुरभूच्चिर न य कवित्व पाण्डित्यधनस्तनन्धय ।
कथ स सर्वाड्गमनाप्तसौष्ठवो दिनादिद्न प्रौढिविशेषमश्नुते ।।"[2]

सरस्वती देवी ही कवियो की माता है । उस माता के कवित्व और पाण्डित्य रूपी दो स्तन है जो इन दोनो स्तनो का चिरकाल तक पान करता है , वह शास्त्र और काव्य में प्रागलभ्य एव सौष्ठव प्राप्त कर लेता है । माँ सरस्वती के प्रसाद से ही रस ध्वनि के समर्थक महाकवि सरस काव्य के निर्माण मे प्रवृत्त होते है । उन्हे महाकवि मखक ने "सतृणाभ्या–मवहारी" या "विवेकी" कवि की सज्ञा दी है । और सरस्वती प्रसाद के अभाव मे रचा गया काव्य रसास्वादन रहित होता है । एव साहित्य मे प्रतिष्ठित स्थान नही बना पाता है, इस प्रकार के कवियो को "अरोचकी" या "अविवेकी" कहा है जिसका उल्लेख महाकवि मखक ने इस प्रकार किया है –

1 **सतृणाभ्यवहारी या विवेकी कवि –**

"बद्धोद्यमापि सतृणाभ्यवहारि वृत्तौ
धन्यस्य कस्यचन हन्त वशवदा गौ ।
सूते तमद्भुतरस बहुधा सुधाया
योऽन्य प्रकार इव विश्वमिद पुनीते ।।"[3]

---

1 श्रीकण्ठ0 25/136

2 श्रीकण्ठ0 2/27

3 श्रीकण्ठ0 2/28

2 **अरोचकी या अविवेकी कवि :–**

"ये नो पद स्थितिजुष कवय कथचि –
न्नार्थप्रथाप्रणयिन प्रतिभादरिद्रा
काव्य ग्रहेण किमरोचकिनोऽपि तेऽन्य –
दल्पीयसो मितरसाच्च बताप्नुवन्ति ।"[1]

महाकवि मखक के अनुसार जो कवि थोडे से दूसरो के श्लोको को प्रतिदिन रटकर चौपाई बनाते है ऐसे बहुत से अविवेकी कवि है । किन्तु अविछिन्न उठती समुद्रलहरियो की रीति युक्त सुहृद किन्ही – किन्ही विवेकी कवियो की ही सुमनोहर रस–युक्त वाणी विशद होती है ।[2]

आचार्य वामन ने भी अपने ग्रन्थ "काव्यालकारसूत्र" मे कवि के दो प्रकार बताये है जिनको महाकवि मखक से ठीक विपरीत बताया है ––

"अरोचकिन सतृणाभ्यवहारिणश्च कवय ।"[3]

इन्होने अरोचकी को विवेकी एव सतृणाभ्यवहारी को अविवेकी कवि कहा है । फिर इनमे से प्रथम कोटि के अर्थात् विवेकी को ही काव्य का अधिकारी प्रतिपादित किया है । आचार्य वामन ने बताया है कि सतृणाभ्यवहारी व्यक्ति शास्त्रो के पारायण से भी स्वय को योग्य नही बना सकते, क्योकि इस कोटि के व्यक्तियो मे शास्त्र सफल नही हो सकता ।

आचार्य वामन के अनुसार

(i) अरोचकी या विवेकी कवि

(ii) सतृणाभ्यवहारी या अविवेकी कवि ।

---

1 श्रीकण्ठ0 2/29

2 श्रीकण्ठ0 2/50

3 काव्यालकारसूत्र – आचार्य वामन 2/1

महाकवि मखक के अनुसार

(।) सतृणाभ्यवहारी - विवेकी कवि

(॥) अरोचकी - अविवेकी कवि ।

महाकवि मखक ने स्वमहाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

"तत्सौष्ठवव्यसनि काव्यकलाशरीरम् ।"[1]

इसे मखक के गुरू आलकारिक आचार्य रूय्यक ने भी स्वीकार किया है । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य के टीकाकार राजानक जोनराज ने इस श्लोक की व्याख्या दी है -

"काव्यकला शरीर शब्दार्थ सन्दर्भाविति ।"[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" के द्वितीय सर्ग मे शब्दार्थ शरीर को ही काव्य स्वीकार करके दो श्लोक उद्धृत किये गये है ।[3] जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ रूपी ही काव्य है, परन्तु महाकवि मखक ने काव्य का परिपोषक तत्व "रस" को आवश्यक माना है । और रसास्वाद युक्त काव्य की रचना करना सर्वथा दुष्कर कार्य बताया है -

"अर्थोऽस्ति चेन्नपदशुद्धिरथास्ति सापि
नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्तया ।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेत -
द्वयर्थ बिना रसमहो गहनं कवित्वम् ॥"[4]

महाकवि मखक ने बडे ही सुन्दर-सरस भावो मे काव्य का स्वरूप समझाया है । मखक के अनुसार वही सरस काव्य - महाकाव्य कहलाता है जिसमें उपमादि अलंकारो से शतश

---

1. श्रीकण्ठ० 25/138
2 श्रीकण्ठ० 25/138 श्लोक की टीका देखिये
3. श्रीकण्ठ० 2/39,55
4 श्रीकण्ठ० 2/30

विभूषित होने पर और आडम्बर सहित शब्द रचना रूढ होने पर तथा व्युत्पत्ति या सौष्ठव धारण करने के पश्चात् भी घने रस प्रसार का अभिसिञ्चन होता है । जिस प्रकार व्यक्ति हार आदि अलकारो से विभूषित होकर सिहासन पर अधिरूढ होकर भी बिना राज्याभिषेक के राजपद को नही प्राप्त करता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलकारो से विभूषित होने पर भी जब तक काव्य मे विस्तृत रस का परिपाक नही होगा तब तक वह काव्य, "प्रबन्ध-काव्य" या "काव्याधिराज" का पद नही प्राप्त कर सकता है ।"[1]

महाकवि मखक के दृष्टिकोण मे अत्यन्त गम्भीर पद-सरचना भी सहृदय सामाजिको को अनुरञ्जित नही कर सकती । काव्यमे ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुण एव उपमादि अलकार से युक्त और वैदर्भी आदि रीति इत्यादि नितान्त अपेक्षित है, प्रत्युत् प्रबन्ध रचना मे आत्मा रूपी परिपोषक तत्व "रस" ही सहृदयो को अलौकिक आनन्दानुभूति कराता है --

"आटोपेन पटीपसा यदपि सा वाणी कवेरामुखे
खेलन्ती प्रथते तथापि कुरूते नो सन्मनोरञ्जनम् ।
न स्याद्यावदमन्दसुन्दर गुणालकार झाकारित
स प्रस्यन्दिल सद्र सायन रसासारानुसारी रस ।।"[2]

उत्कृष्ट कोटि की कविता का ज्ञान किस प्रकार करना चाहिए यह स्पष्ट करते हुए महाकवि मखक ने कहा है कि बिना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नही खुलता जिस प्रकार बिना आँधी के मणिदीपक और तैलदीपक का अन्तर नही मालुम पडता ।[3] रमणीय काव्यो का निरीक्षण करने से दोषो का पता उसी प्रकार से चल जाता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र मे जरा सा धब्बा पता चलता है ।[4]

---

1 श्रीकण्ठ0 2/32
2 श्रीकण्ठ0 2/49
3 श्रीकण्ठ0 2/37
4 श्रीकण्ठ0 2/9

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि मखक के स्वग्रन्थ के अनुसार किसी भी प्रबन्ध रचना मे गुणाधान, अलकार सन्निवेश, रीति–निवेश, दोषो का अभाव और अगी रस नितान्त आवश्यक है ।

(ग) महाकाव्य का लक्षण :–

सस्कृत साहित्य मे महाकाव्य की कल्पना का मूल आधार महर्षि बाल्मीकि की रामायण है, उसी का अनुकरण करके आलोचको ने महाकाव्य की रूपरेखा को निर्धारित किया है । इन कवियो एव आलोचको मे जैसे– आचार्य दण्डी, विश्वनाथ, रूद्रट, आनन्दवर्धन हेमचन्द्र, राजशेखर आदि महाकवियो ने महाकाव्य का लक्षण अपने – अपने मतानुसार प्रस्तुत किया है ।

आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम काव्यादर्श मे महाकाव्य का लक्षण निर्धारित किया है । जिसमे सर्गों का निबन्धन, ग्रन्थ के आदि मे देव स्तुति एव वस्तु निर्देश , ऐतिहासिक कथावस्तु , पुरूषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति, नगर–वन–शैल–चन्द्र आदि का वर्णन , विवाह आदि का वर्णन एव रस भाव समन्वित महाकाव्य हो ।[1]

आचार्य विश्वनाथ जी ने जो "साहित्यदर्पण" मे महाकाव्य का लक्षण निर्धारित किया है वह सर्वाड्गीण एव व्यापक है । विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य मे सर्गों का निबन्धन, धीरोदात्तादि नायक, अड्गी रस एव अड्ग रस, कथानक ऐतिहासिक या सज्जन व्यक्ति से सम्बद्ध , चर्तुवर्ग मे से एक फल की प्राप्ति , ग्रन्थ के आरम्भ मे आशीर्वाद , कही खलो की निन्दा कही सज्जनो का गुण वर्णन, प्रकृति–चित्रण, आठ से अधिक सर्ग, प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है । ग्रन्थ का नाम कवि, कथानक, नायक–प्रतिनायक के नाम पर रखना चाहिए ।[2]

---

1. काव्यादर्श – आचार्य दण्डी 1/14–19
2 सा0द0 6/315–325

श्री रूद्रट के अनुसार महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार है – महाकाव्य वे कहलाते है जिनके विस्तार मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो का उपन्यास होता है तथा सभी रसो और सभी काव्य स्थानो की चर्चा होती है।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने महाकाव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए अपने शब्दो मे महाकाव्य की उपमा नारी से दी है। जिस प्रकार नारी के शरीर मे विभिन्न अड्ग दोषरहित होते है तथा विभिन्न अलकारो से अलकृत होते है वह इस कारण आकर्षक प्रतीत होती है। प्रत्युत् इन सबसे भिन्न उसका लावण्य अलग ही शोभा का आधायक होकर सहृदय जनो के मन को आह्लादित करता है, उसी प्रकार काव्य दोष रहित होकर और गुण, अलकारो से अलकृत होकर आकर्षक तो होता है, परन्तु इनसे भिन्न प्रतीयमानार्थ यदि उसमे है तो वह सहृदयजनो के मन को आह्लादित करता है।[2]

परन्तु आचार्य कुन्तक ध्वनिकार द्वारा दी गई लावण्य–प्रतीयमान अर्थ की समानता का विरोध किया है। उसने काव्य के तीन मार्ग बताये है -- सुकुमार , विचित्र, और मध्यम। कुन्तक के अनुसार लावण्य तो सुकुमार का एक गुण है।[3]

जिस महाकवि की कविता जितना ही रस का अनुभव कराती है , उतना ही उससे कवि की प्रतिभा विशेष का ज्ञान होता है। उसी प्रतिभा विशेष के आधार पर ही कवि को महाकवि की कोटि मे परिगणित किया जाता है। ऐसे महाकाव्य की रचना करने वाले महाकवियो की परम्परा मे कालिदास आदि दो–चार ही महाकवि हुए है। ऐसा आचार्य आनन्दवर्द्धन ने व्यक्त किया है।[4]

---

1 काव्यालंकार – रूद्रट 16/5
2. ध्वन्यालोक 1/4
3 वक्रोक्ति जीवित 6/1, 32
4 ध्वन्यालोक पृ0 21 दीपशिखा टीका

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विविध आचार्यो ने भिन्न–भिन्न काव्यात्म तत्व की प्रधानता के आधार पर महाकाव्य का लक्षण निर्धारित किया है ।

(घ) विविध आचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य लक्षणों की समालोचना –

काव्य शास्त्रियो ने महाकाव्य के जो लक्षण दिये है उनमे अनेक बाते प्राय समान है और स्वाभाविक भी है क्योंकि किसी भी आचार्य ने महाकाव्य का स्वकल्पित लक्षण नही दिया है अपितु उपलब्ध महाकाव्यो को दृष्टि मे रखकर तदनुसार ही स्वरूप निर्धारण किया है । चूँकि सभी महाकाव्यो की शैली सदैव समान नही होती है, उसमे भिन्नता होती ही है, अतएव लक्षणकारो ने जिन–जिन महाकाव्यो के आधार पर लक्षण निर्धारित किया उन महाकाव्यो की विशिष्टताओ को तो लक्षण मे समाविष्ट कर लिया परन्तु जो परवर्ती महाकाव्य उनकी दृष्टि मे नही पडे उनकी विशेषताओ को वे नही दे सके । इसके अतिरिक्त किन्ही लक्षणकारो ने महाकाव्य की कुछ विशेषताओ को प्रमुखता दी है । तो किन्ही की दृष्टि मे महाकाव्य की अन्य विशेषताए महत्त्वपूर्ण है । अतएव यहाँ पर प्रस्तुत विभिन्न लक्षणकारो द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य--लक्षणो मे अनेक विषय समान होते हुए भी कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । अत इन लक्षणो के समान और भिन्न तत्त्वो का विवेचन इस प्रकार हैं ––

महाकाव्य मे सबसे प्रमुख वस्तु होती है उसका इतिवृत्त तथा उसकी सर्गवद्धता महाकाव्य का इतिवृत्त ऐतिहासिक, पौराणिक, अर्थात लोक मे प्रसिद्ध किसी सज्जन व्यक्ति पर आश्रित होता है , यह बात सभी आचार्यों ने स्वीकार की है किन्तु महाकवि रूद्रट के अनुसार इसकी कथावस्तु कवि कल्पना प्रसूत भी हो सकती है ।[1] कविराज भोज ने कथानक के विषय मे केवल इतना ही कहा है कि यह न अधिक विस्तृत होना चाहिए और न अधिक सक्षिप्त ।[2] महाकाव्यो की सर्गबद्धता के विषय मे हेमचन्द्र और भोज के अतिरिक्त पूर्वोक्त अन्य सभी आचार्य एकमत है । हेमचन्द्र की दृष्टि मे महाकाव्य

---

1 काव्यालकार – रूद्रट 16/3

2 सरस्वतीकण्ठाभरण–भोज 5/129

न केवल सर्गबद्ध अपितु आश्वासबद्ध, सन्धिबद्ध और अवस्कन्धबद्ध भी होते है ।[1]

भोज ने सर्गबद्धता के विषय मे कुछ नही कहा है किन्तु उनके अनुसार महाकाव्य चार प्रकार के वृत्यङ्गो से युक्त होना चाहिए ।[2] अग्निपुराणकार ने सर्गों की अतिसक्षिप्तता का निषेध किया है ।[3] परन्तु अतिविस्तीर्णता के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा है । आचार्य दण्डी के मत मे सर्ग अधिक विस्तृत नही होने चाहिए ।[4] कविवर विश्वनाथ जी ने अपने पूर्ववर्ती इन लक्षणकारो के महाकाव्य लक्षणो को ध्यान मे रखते हुए ही अपना यह मत दिया कि सर्ग न तो अधिक विस्तृत होने चाहिए और न ही अधिक सक्षिप्त होने चाहिए सर्गो की सख्या के विषय मे आचार्य विश्वनाथ का मत है कि इसमे आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए तथा सर्ग का शीर्षक भी होना चाहिए । उनके मत मे सर्ग के अन्त मे भावी सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिए तथा महाकाव्य का नामकरण कवि अथवा चरित्र के नाम पर होना चाहिए ।[5]

महाकाव्यो मे साधारणत एक सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग तथा सगन्ति मे छन्द परिवर्तन की बात भामह तथा रूद्रट के अतिरिक्त सभी आचार्यो ने स्वीकार की है परन्तु विश्वनाथ के मत मे कही – कही एक सर्ग मे अनेक छन्द भी हो सकते है ।[6] अग्निपुराणकार के अनुसार महाकाव्य शक्वरी, अतिजगती, अतिशाक्वरी, त्रिष्टुप, पुष्पिताग्रा, तथा वक्त्रादि छन्दो से समन्वित होना चाहिए ।[7]

महाकाव्य का आरम्भ देव नमस्कार, पाठको को आशीर्वाद अथवा वस्तु निर्देश

---

1 काव्यानुशासन –हेमचन्द्र अष्टम अध्याय
2 सरस्वतीकण्ठाभरण – भोज 5/127
3 अग्निपुराण 337/27
4 काव्यादर्श 1/18
5 सा0द0 6/320–325
6 सा0द0 6/32/
7 अग्निपुराण 337/26,27

क साथ होना चाहिए, ऐसा दण्डी,[1], हेमचन्द्र[2] और विश्वनाथ[3] का मत है। महाकाव्य के नायक के विषय मे सभी आचार्यो का मत है कि उसे धीरोदात्तादि गुणो से युक्त, कुलीन तथा अभ्युदयशील होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार देवता भी महाकाव्य का नायक हो सकता है अथवा एक वशोत्पन्न अनेक राजा भी नायक हो सकते है[4]। इनकी इस बात की पुष्टि महाभारत और रघुवश से होती है। महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्य मे अनेक नायक माने जा सकते है। रूद्रट ने कहा है कि नायक को प्रजाप्रिय तथा कोश शक्ति से युक्त होना चाहिए।[5]

प्रतिनायक के विषय मे रूद्रट और भोज का मत है कि उसकी कुलीनता तथा उसके गुणो का वर्णन तो करना चाहिए परन्तु अन्त मे नायक की ही विजय दिखलानी चाहिए।[6] पुरूषार्थचतुष्टय के विषय मे सभी आचार्यों का मत है कि महाकाव्य मे धर्मार्थकाममोक्ष रूप चतुर्वर्ग की फल प्राप्ति का वर्णन होना चाहिए परन्तु विश्वनाथ के अनुसार इस चर्तुवर्ग का वर्णन करते हुए इनमे से कोई एक फलरूप मे होना चाहिए।[7]

महाकाव्यो मे युद्ध–सम्बन्धी वर्णन यथा–मत्रणा, दूत–प्रेषण, प्रयाण, युद्ध इत्यादि को सभी आचार्यों ने आवश्यक बतलाया है। इसी प्रकार प्रकृति वर्णन यथा–समुद्र, पर्वत,

---

1 काव्यादर्श 1/14

2. काव्यानुशासन अष्टम अध्याय

3 सा0द0 6/319

4 सा0द0 6/315–316

5 काव्यालकार – रूद्रट 16/8

6 अ काव्यालकार –रूद्रट 16/16,18

ब. सरस्वतीकण्ठाभरण –भोज 5/137

7 सा0द0 6/318

नगर, ऋतु, वन, सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी, उद्यान, प्रात, मध्याह्न, रात्रि, जलक्रीडा, मद्यमान इत्यादि के वर्णन को भी भामह के अतिरिक्त सभी आचार्यो ने आवश्यक माना भामह इस विषय मे मौन है। दण्डी और भोज के अनुसार महाकाव्य मे विवाहादि का वर्णन भी होना चाहिए।[1] आचार्य विश्वनाथ ने सज्जनो की प्रशसा तथा दुर्जनों की निन्दा का वर्णन भी महाकाव्य मे आवश्यक माना है।[2] महाकाव्यो मे पॉच नाटक – सन्धियो के यथा स्थान निवेश का उपदेश प्राय सभी आचार्यो ने दिया है। अग्निपुराण मे उल्लिखित है कि महाकाव्य मे सभी रीतियो का समुचित प्रयोग होना चाहिए।[3]

एक मात्र भामह ही ऐसे आचार्य है जिन्होंने महाकाव्यों की भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध मे कहा कि इसमे ग्राम्य शब्दो का प्रयोग नही होना चाहिए।[4] महाकवि बाणभट्ट के मतानुसार नवीन–नवीन अर्थ, शिष्ट स्वाभावोक्ति सरलश्लेष और स्फुट रस व्यञ्जना आदि गुणो का पर्याप्त सन्निवेश होना चाहिए।[5] आचार्य दण्डी का मत है कि महाकाव्य मे विप्रलम्भ श्रृगार का वर्णन होना चाहिए।[6] और आचार्य विश्वनाथ का मत है कि श्रृगार वीर अथवा शान्त मे से कोई एक रस अड्गी तथा अन्य सभी रस अड्ग रूप मे होने चाहिए।[7] अन्य सभी आचार्यो के अनुसार महाकाव्य मे समस्त रसो का परिपाक होना चाहिए।

उपर्युक्त समालोचना के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य विश्वनाथ जी का महाकाव्य – लक्षण सर्वाडगीण होने के कारण अधिक ग्राह्य है।

---

1 अ काव्यादर्श 1/17
  ब सरस्वतीकण्ठाभरण 5/133
2 सा0द0 6/319
3 अ0पु0 337/32
4 काव्यालड्कार – आचार्य भामह 1/19
5 हर्षचरित -- बाणभट्ट भूमिका भाग द्रष्टव्य
6. काव्यादर्श – 1/17
7 सा0द0 6/317

(ड) सस्कृत महाकाव्यो की परम्परा :–

प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद मे हमे सर्वप्रथम काव्य की आभा मिलती है, जिसमे मन्त्र रचयिताओ मे कही–कही कवि का रूप दिखाई पडता है । वैदिक साहित्य, आरण्यक, तथा उपनिषदो मे कुछ ऐसे स्थल है जहाँ काव्य का सा आनन्द मिलता है । इतिहास और पुराणो के आख्यानो मे भी कही–कही कवित्व झलकता है । यही स्वरूप आगे चलकर महाकाव्य के रूप मे परिवर्तित हो गया । रामायण और महाभारत आगे चलकर परवर्ती महाकाव्यो के लिए उपजीव्य ग्रन्थ हो गये ।

लौकिक सस्कृत मे कविता का प्रारम्भ वाल्मीकि से हुआ । वाल्मीकि की "रसमय पद्धति" को सुकुमार शैली कहते है । रस ही उसका प्रधान तत्व है, नैसर्गिकता एव स्वाभाविक्ता उसका आभूषण है । आगे चलकर महाकवि कालिदास को अपनी काव्य कला को पुष्ट करने मे वाल्मीकि से स्फूर्ति और प्रेरणा मिली । कालिदास रसवादी कवि है इनकी कविता मे अलकारो का विन्यास है परन्तु वह विन्यास् इतना भडकीला नही है कि पाठको का हृदय वर्ण्यवस्तु को छोडकर अलकारो की छटा की ओर आकृष्ट हो जाये क्योंकि कालिदास ने काव्य के कोमल पक्ष को अपनाया इसलिए उनकी शैली मे रमणीयता, चारूता और मनोहरता है ।

महाकवि कालिदास की काव्य परम्परा को कुछ महाकवियो ने बडी सफलता के साथ अपनाया । महाकवि अश्वघोष इसी परम्परा के सहज एव सरस कवि है । गुप्तकाल के प्रशस्ति लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यो का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी । सस्कृत साहित्य मे रामायण से लेकर श्रीहर्ष के नैषध–चरित तक कितनी ही महाकाव्य – कृतियो का निर्माण हुआ । ये सभी महाकाव्य कृतियाँ एक जैसी शैली और एक जैसे ढग की नही है । मैक्डोनल साहब ने "महाभारत" को तो लोक महाकाव्य (पापुलर एपिक) "रामायण" को अनुकृत महाकाव्य (आर्टीफिशल एपिक) और बाद के महाकाव्यो को अलकृत महाकाव्य कहा है ।

साहित्य शैली के विकास के ऊपर युगो की सामाजिक– चेतना का विशेष प्रभाव पडता है । तत्कालीन वातावरण एव साहित्यिक मान्यता तथा सामाजिक रूढिया उस युग के साहित्य को एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती है । सातवी – आठवी शताब्दी मे सस्कृत साहित्य की परम्परा मे परिवर्तन का युग माना जा सकता है । अब तक सस्कृत महाकाव्य का लक्ष्य जन साधारण का मनोरजन था इसीलिए इस युग के सस्कृत महाकवि जनसाधारण के हृदय को स्पर्श करने वाली कविता के सृजन मे दक्ष दिखलाई पडते है । इसीलिए कालिदास और अश्वघोष का समय सस्कृत महाकाव्य की परम्परा मे अपनी सरसता एव सरलता से सम्पन्न काव्य की रचना मे प्रख्यात माना जाता है, परन्तु गुप्ता पीरियड मे सस्कृत साहित्यिक वातावरण ही बदल गया । प्राकृत भाषा का भी उदय हो गया, प्राकृत लोक भाषा होने के कारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किया अतएव सस्कृत काव्य का लक्ष्य पाण्डित्यापेक्षी हो गया ।

इसी युग मे बौद्ध न्याय का उदय और अन्य दार्शनिक–सिद्धान्तो का उदय हुआ जिनका अनुकरण कर सस्कृत महाकवियो ने कवित्व तथा दार्शनिकता का, प्रतिभा तथा पाण्डित्य का मञ्जुल समन्वय किया । समय की विशेषता और साहित्यिक चेतना के कारण महाकवियो के लिए प्राचीन रसासिक्त पद्धति को छोडकर एक नवीन अलकृत और पाण्डित्यपूर्ण परम्परा का ग्रहण आवश्यक हो गया । जिसमे विषय की अपेक्षा वर्णन प्रकार पर तथा सरलता के स्थान पर विशिष्टता एव कृत्रिमता पर विशेष आग्रह था और काव्य को सुसज्जित बनाने के लिए कामशास्त्र जैसे प्रौढ शास्त्रो का उपयोग आवश्यक हो गया । इस नवीन विचित्र परम्परा के प्रवर्तक महाकवि भारवि तथा माघ थे । ये पाण्डित्यमय युग की मॉग थी जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती थी । आचार्य कुन्तक ने इस अलकार बाहुल्य पद्धति को "विचित्र मार्ग" की सज्ञा दी ।

भारवि से पहले महाकाव्य का विषय विस्तृत होता था , प्राकृतिक वर्णन कम,

कम, लेकिन भारवि के समय से महाकाव्य मे कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृति वर्णन अधिक । यही बात किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम, नैषधीयचरितम्, एव प्रस्तुत प्रबन्ध रचना श्रीकण्ठचरितम् जैसे महाकाव्यो म पायी जाती है । "श्रीकण्ठचरितम्" मे त्रिपुरबध नामक लघु पौराणिक कथानक को विस्तृत रूप से 25 सर्गों मे प्रस्तुत किया है महाकवि मखक ने प्रस्तुत महाकाव्य मे सोलह सर्गो के अन्तर्गत प्राकृतिक चित्रण का निरूपण किया है ।

अतएव परवर्ती महाकाव्य अलकार बहुल एव सश्लिष्ट होने के कारण अत्यन्त दुरूह तथा चित्र काव्य के प्रदर्शन से क्लिष्ट हो गये है । इस अलकृत एव विचित्र परम्परा मे कश्मीरी सस्कृत महाकाव्यो का संस्कृत साहित्य में विशिष्ट योगदान है ।

(च) कश्मीरी संस्कृत महाकाव्यों का स्थान :–

सस्कृत महाकाव्यो मे कश्मीरी महाकवियो की कविता का एक राग ही अलग है, जिनकी माधुर्य पूर्ण कविता सहृदयो को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है । पदो का सुन्दर विन्यास, अर्थो की मनोहर कल्पना, कही भाषा मे प्रसाद और माधुर्य, कहीं क्लिष्ट, बन्ध, कही उपमा – उत्प्रेक्षा आदि तो कही चित्रालकारो के नवीनतम प्रयोग तो कही दर्शनशास्त्र, और प्रधानत भक्ति का उद्रेक आदि कुछ विशेषताए कश्मीरी महाकवियो की है ।

कश्मीर मे तत्कालीन समाज मे शैवधर्म व्याप्त था, अतएव अधिकाश कश्मीरी महाकवियो ने शिवपरक महाकाव्य लिखे जैसे – महाकवि रत्नाकर ने "हरविजय" , जयद्रथ ने "हरचरितचिन्तामणि "तथा महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" आदि महाकाव्य शिवकथा पर लिखे । शास्त्रो मे शिव के दो रूप वर्णित किये गये है पहला अव्यक्त या निर्गुण रूप दूसरा व्यक्त या सगुण रूप । दोनो को जोडने वाली हमारी पौराणिक विरासत आध्यात्मिक

व्याख्या के आधार पर पहला शुद्ध अधिष्ठान शिव तत्त्व है, दूसरा सगुण पौराणिक रूप कैलासवासी शकर असुरो को भस्म करने वाले है । शिव अपने अर्थ के अनुरूप सदा ही सबके लिए कल्याणकारी है । इसलिए कश्मीरी महाकवियो ने सस्कृत साहित्य मे भगवान् शिव का कल्याणकारी सगुण रूप प्रस्तुत किया है । महाकवि रत्नाकर ने भी शिवपरक ग्रन्थ हरविजय की रचना 50 सर्गो मे की है, हरविजय का कथानक अत्यन्त सरल एव स्वल्प है । क्रीडासक्त पार्वती ने भगवान शकर के तीनो नेत्रो को अपने हाथो से बन्द कर दिया इससे सम्पूर्ण विश्व अन्धकारमय हो गया , यह अन्धकार ही अन्धक असुर के रूप मे परिणित हो गया । वह असुर इतना उन्मत्त हुआ कि वह ससार की सुरक्षा को चुनौती देने लगा । परिणामत कैलाशवासी शकर ने उस असुर का सहार कर विश्व की रक्षा की ।

इसी प्रकार "श्रीकण्ठचरितम्" मे भगवान् शिव जी के द्वारा त्रिपुरासुर का विनाश दिखाया गया है । महाकवि मखक ने स्वल्प कथानक को अपनी प्रतिभा एव कल्पना शक्ति के द्वारा विस्तृत रूप दिया ।

महाकवि शिव स्वामी भी शैवमतावलम्बी थे , परन्तु "चन्द्रमित्र" नामक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से "कप्फिणाभ्युदय" नामक अलकृत महाकाव्य को गुम्फित किया । 20 सर्गो मे वर्णित इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक मे "शिव" शब्द के आने से यह महाकाव्य "शिवाक" कहा गया।

महाकवि क्षेमेन्द्र ने जनजीवन को उदात्त, चरित्रसम्पन्न तथा शीलवान बनाने के उद्देश्य से रामायण तथा महाभारत पर आधारित ग्रन्थ क्रमश "रामायणमजरी" एव "भारतमजरी" लिखे । इसके अतिरिक्त "दशावतार" महाकाव्य मे विष्णु के दशावतारो का बड़ा ही रोचक तथा विस्तृत वर्णन किया है ।

काश्मीरी महाकवियो द्वारा धर्म प्रधान महाकाव्यो के अतिरिक्त ऐतिहासिक महाकाव्य भी रचे गये जैसे – कल्हण द्वारा विरचित ऐतिहासिक राजतरगिणी है जिसमे कश्मीर का प्राचीनकाल से लेकर 12वी शती का इतिहास वर्णित है । महाकवि विल्हण ने भी ऐतिहासिक ग्रन्थ "विक्रमाकदेवचरितम्" लिखा, यह ग्रन्थ चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ पर रचित है यह 18 सर्गो मे विभक्त अलकारिक महाकाव्य है । इसी प्रकार से जल्हण ने भी "सोमपाल विजय" नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की । परवर्ती महाकवि जयद्रथ के महाकाव्य "हरचरितचिन्तामणि" पर मखक का प्रभाव पडा , अतएव जयद्रथ ने भी शिवकथा पर "हरचरितचिन्तामणि" महाकाव्य की 32 सर्गों मे रचना की ।

अतएव उपर्युक्त कश्मीरी सस्कृत महाकाव्यो के विवेचन से स्पष्ट है कि सस्कृत साहित्य के इतिहास मे कश्मीरी महाकाव्यो का साहित्यिक , धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एव राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है ।

(छ) श्रीकण्ठचरितम् का स्थान –

महाकवि मखक एव उनके पूर्वज भगवान् शकर की भक्ति मे आकण्ठ डूबे रहते थे । महाकवि के पितामह "मन्मथ" और पिता "विश्ववर्त" शिव जी के अनन्य उपासक थे । उन्होने "प्रत्यभिज्ञादर्शन" का सिद्धान्त स्वीकार करके और द्वैतभाव का परित्याग कर श्रद्धापूर्वक अद्वैतभाव से सम्पूर्ण जगत को शिवमय माना । तत्त्वज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है । इस जगत के सभी प्राणियो मे उस परम शिव का रूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मतत्त्व के रूप मे विराजमान है ।[1] जैसा कि "कुलार्णवतन्त्र" मे भी उल्लेख प्राप्त होता हे –

"जीव शिव शिवो जीव स जीव केवल शिव ।"[2]

---

1. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् – तृतीय खण्ड 2/4
2. कुलार्णवतन्त्रम् 9/42

सभी काश्मीरी विद्वान् शैव दर्शन के अनुयायी थे । सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी प्राणियो के आत्मतत्व मे वह ईश्वर विद्यमान है ।[1]

परन्तु कोई भी व्यक्ति अज्ञानरूपी इस सासारिक माया मोह मे फॅसकर यह भूल जाता है कि "मै" कौन हूँ और यथानुसार विभिन्न योनियॉ प्राप्त करता रहता है ।[2] उस मायाशक्ति का स्वरूप "तन्त्रालोक" के भाष्यकर्त्ता जयरथ ने भी स्पष्ट किया ।[3]

गुरू के उपदेश से एव भगवद्भक्ति से जब अविद्या का नाश हो जाता है तब सच्चे आत्मतत्व का ज्ञान हो जाता है फलत सम्पूर्ण ससार ईश्वरमय लगने लगता है मखक के पूर्वजो ने भगवद्भक्ति से पूर्णता प्राप्त कर ली थी । वह सम्पूर्ण ससार को शिव मे और शिव जी को सम्पूर्ण ससार मे देखने लगे थे जैसा कि श्रीतन्त्रालोक मे कहा गया है –

"स्वप्रकाशसविदेव एका तत्तदात्मना स्फुरतीति" ।[4]

फलस्वरूप दिवगत पिता "विश्ववर्त" परमतत्व शिवजी मे विलीन हो गये । महाकवि मखक ने एक दिन एकादशी का व्रत बडे नियम सयम से रखा ।[5] तभी मखक ने अपने दिवगत पिता को स्वप्न मे मनमोहक हरिहरस्वरूप मे देखा –

"स्वप्ने तत्र ददर्श स स्वपितर देह वहन्त मिल –
– – – – – – – – – – – – – – – – " 6

इसमे कोई आश्चर्य नही है क्योंकि भगवद्भक्ति से ऐहिक और आमुष्मिक सिद्धिया

---

1 शिवदृष्टि 1/2
2 षट्त्रिशत्तत्वसन्दोह विवरणम् पृ0 5
3 श्रीतन्त्रालोक षष्ठ खण्ड पृ0 116
4. जयरथकृत भाष्य "श्रीतन्त्रालोक" प्रथम खण्ड पृ0 103
5. श्रीकण्ठ0 3/72
6. श्रीकण्ठ0 3/73 ।

प्राप्त हो जाती है । जैसा कि "शिवस्तोत्र" मे भगवद्भक्ति के विषय मे लिखा है ।[1] प्रत्यभिज्ञाहृदय" के मगलाचरण मे श्रीमद्भिनवगुप्त ने कहा है –

" नम शिवाय सतत पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्द धन स्वात्म परमार्थावभासिने ।।"[2]

काश्मीरी शैव दर्शन का सम्पूर्ण अर्थ श्रीमद्अभिनवगुप्त ने"तन्त्रसार" मे प्रतिपादित किया है

"अन्तर्विभाति सकल जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोध पर निजविमर्शनसारवृत्या शिव परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ।।[3]

महाकवि मखक के हरिहररूपधारी पिताश्री विश्ववर्त ने स्वपुत्र मखक को शिवजी का लोकोत्तर चरित वर्णित करने का आदेश दिया ।[4] मखक ने पिताजी के आदेश से शकर भगवान का चरित वर्णित किया –

"पितृभारती विवृत पौष्टिक क्रिया क्रममाणभक्ति सहवासिमानस ।
इति स प्रबन्धयति मखको गिर विरचय्य शकरचरित्रकिकरीम ।।[5]

एतदर्थ महाकवि मखक अपने पिताजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर कवि–कर्म मे प्रवृत्त हुए और "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की रचना कर भगवान शकर का लोकोत्तर रूप वर्णित किया । यह साहित्यिक महाकाव्य "प्रत्यभिज्ञादर्शन" का ही परिणाम है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य 25 सर्गों मे है । मूल कथानक तो छोटा है, प्रत्युत महाकाव्य की पूर्ति के लिए दोलाक्रीडा पुष्पावचय, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन,

---

1 शिवस्तोत्र 6/5
2 प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ0 1
3 तन्त्रसार – पृ0 19
4 श्रीकण्ठ0 3/75
5 श्रीकण्ठ0 3/78

पानकेलि क्रीडा, तथा प्रभात का वर्णन आदि 7वे सर्ग से लेकर 16वे सर्ग तक क्रमश किया गया है ।

25वॉ सर्ग तो तत्कालीन काश्मीरी कवियो का साहित्यिक वर्णन है । जो महाकवि मखक के ज्येष्ठ भ्राता अमात्य "लकक" की सभा को अलकृत करते थे । यह साहित्यिक एव ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । कविता उच्च कोटि की है । द्वितीय सर्ग मे कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा की है ।

महाकवि मखक के पूर्ववर्ती बहुत से महाकवियो ने "देवादिचरित" पर महाकाव्य लिखे । परन्तु मखक ने जिस प्रकार अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे भगवद् शिवजी का वर्णन किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । इन्होने स्वय कहा है –

"तीस करोड देवता जब देव चरित्र काव्य मे सदा द्वैष से मलिन बुद्धि रखते है, फिर इम कौन है? इस भूखण्ड कश्मीर मे एक भी ऐसा पण्डित नहीं पैदा हुआ , जो विमल बुद्धि हो काव्य रचता ।"[1]

महाकवि मखक अपनी मौलिक कल्पना शक्ति एव प्रतिभा द्वारा भावो को पूर्ण अभिव्यक्ति दी है जैसे कि अन्धकार का वर्णन कितना मौलिक, चमत्कारपूर्ण और मनोरम है –

"सांयकाल का सूर्य जगत के व्यवहार की गणना करने वाले भगवान् काल का सोने का बना हुआ मसीभाण्ड है । सायकाल मे जब सूर्य उल्टामुख करके गिर पडता है तो वही काली स्याही दावात से निकलकर सारे ससार मे अन्धकार के रूप मे फैल जाती है[2] ।

---

1 श्रीकण्ठ0, 2/54

2 श्रीकण्ठ0 10/11

महाकवि मखक ने अन्य महाकवियो की तरह राजस्तुति ने करके "देवस्तुति" की है। मखक ने इस विषय पर अपनी वाणी को धन्य मानते हुए रचना की और बताया कि मेरी वाणी देवी स्त्री के समान विक्रयी नही है जैसे कि श्री हर्ष के नाम से "रत्नावली" नाटिका आदि की रचना कर "धावक" ने अपनी वाणी को दूषित कर लिया था। इसको मखक ने स्पष्ट किया है।[1]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार काव्य द्वारा देवस्तुति करने से धर्म की प्राप्ति होती है। महाकवि मखक ने अपने महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे राजाओ के लिए कोई चाटुकारी उक्ति का प्रयोग नही किया , यह उस समय एक क्रान्तिकारी कदम था। महाकवि ने स्वमहाकाव्य का प्रारम्भ ही बहुत सुन्दर श्लोक से "किरीटमौलिचन्द्र भगवान् शकर" को लेकर किया।"[2]

इस महाकाव्य मे देवताओ के धर्म–अर्थ –काम–मोक्ष इत्यादि पुरूषार्थचतुष्टय की सिद्धि ही इस त्रिपुर–दहन का लक्ष्य है। वीर रस इसमे रस प्रधान है , श्रृगार एव अद्भुत आदि सहायक रस है। महाकवि ने किसी भी सर्ग मे चार से कम छन्दो का प्रयोग नही किया है। सर्गान्त अधिकतर "शार्दूलविक्रीडित" एव "स्रग्धरा" जैसे लम्बे छन्दो मे किया है। सर्गों का विस्तार शास्त्रानुकूल है।

महाकवि मखक के गुरू राजानक रूय्यक ने भी "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की प्रशसा की है।[3]

(ज) "श्रीकण्ठचरितम्" की महाकाव्यता:–

महाकवि मखक ने सभी महाकाव्य लक्षणो का समावेश करते हुए "श्रीकण्ठचरितम्"

---

1 श्रीकण्ठ0 1/56

2 श्रीकण्ठ0 1/1

3 श्रीकण्ठ0 25/39

की रचना की है । यह 25 सर्गो मे निबन्धित है । महाकवि मखक ने पौराणिक कथानक को लेकर यह महाकाव्य रचा है । त्रिपुरासुरदहन का मूलभूत इतिवृत्त लेकर सत्रहवे सर्ग से आरम्भ कर चौबीसवे सर्ग मे समाप्त कर दिया । प्रथम सर्ग मगलाचरणात्मक है जैसा कि दण्डी ने काव्यादर्श मे स्पष्ट किया है ।[1] " सुजनदुर्जनवर्णन" नामक द्वितीय सर्ग कथानक से अत्यन्त दूर दिखाई देता है । परन्तु महाकवि मखक ने महाकाव्य लक्षण का निर्वाह करते हुए इस सर्ग को सुदुपयोगी बना दिया है । जैसा कि साहित्यदर्पण मे विश्वनाथ ने कहा है ।[2] फलस्वरूप महाकवि मखक ने द्वितीय सर्ग मे महाकवि के स्परूप का वर्णन किया है । सुकवि की प्रशसा और कुकवि की निन्दा प्रस्तुत की । और कवि की दृष्टि मे काव्य का स्वरूप प्रस्तुत किया है ।

"देशवशादिवर्णन" नामक तृतीय सर्ग मे महाकवि ने अपने कुटुम्ब एव देश का परिचय दिया है । यहॉ इन्होने भारतवर्ष के अन्तर्गत प्राकृतिक सुषमामण्डित प्रदेश कश्मीर का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है । और दया दाक्षिण्यादि मानवोचित गुणो से युक्त व्यवहार कुशल तथा शास्त्रीय वैदुष्यता मे विशिष्ट स्थान रखने वाने अपने पिता- पितामह आदि का परिचय दिया है । इस सर्ग के उपसहार मे महाकवि मखक ने स्वमहाकाव्य के प्रणयन का हेतु निर्दिष्ट किया है । यह सब विषय मूल कथानक से अत्यन्त दूरवर्ती प्रतीत होते है फिर भी महाकवि का स्वपरिचय नितान्त उपादेय है जो कि कही नही मिलता ।

"कैलासवर्णनम्" नामक चतुर्थ सर्ग मे दण्डी प्रतिपादित रीति से महाकाव्य के लक्षण का अनुसरण करते हुए यहॉ पर मखक ने दिव्य नायक भगवान शकर के निवास स्थान का वर्णन प्रस्तुत किया है ।[3] तत्पश्चात् "भगवद्वर्णनम्" नामक पञ्चम सर्ग

---

1. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
   आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
   काव्यादर्श - दण्डी 1/14
2. आदौ नमस्क्रियाशीर्ण वस्तुनिर्देश एव वा ।
   क्वचिनिन्दा खलादीनां सता च गुणकीर्तनम् ।।
   सा0द0 षष्ठ परिच्छेद पृ0 235
3. नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रा केदिय वर्णनैः ।
   उद्यानसलिल क्रीडा मधुपानरतोत्सवै ।। काव्यादर्श 1/16

मे इस महाकाव्य के दिव्यनायक किरीटचन्द्र शिवजी का बहुत सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है ।

उपर्युक्त सर्गो मे वर्णित/ विषयो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम सर्ग से लेकर तृतीय सर्ग मे जो भी प्रतिपादित विषय और पच्चीसवे सर्ग मे प्रतिपादित विषय का मूलकथानक से कोई सम्बन्ध नही है । फिर भी ये विषय महाकाव्यत्व के दृष्टिकोण से अपना विशिष्ट स्थान रखते है और चतुर्थसर्ग "कैलासवर्णनम्" तथा पञ्चम सर्ग "भगवद्वर्णनम्" नामक सर्गों मे मूलकथानक का इतिवृत्त प्रारम्भ होते ही पुन दीर्घकाल के लिए अवरूद्ध हो जाता है । क्योकि छठे सर्ग से लेकर सोलहवे सर्ग तक वसन्त, दोलाक्रीडा, पुष्पावचय जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, पानकेलिक्रीडा, प्रभातवर्णन इत्यादि विविध वस्तुवर्णन प्रस्तुत कर महाकवि मखक ने स्वप्रतिभा एव विद्वता का परिचय दिया है और कल्पना की ऊँची – ऊँची उडान भरी है इन विषयो का मूलकथानक से कोई सम्बन्ध नही है, परन्तु महाकवि मखक ने अपने महाकाव्य का महाकाव्य के ससाधनो से रोचकपूर्ण विस्तार किया है ।

यहा छठे सर्ग से लेकर सोलहवे सर्ग के अन्तर्गत विविध वस्तु वर्णन होने से कथानक का मूल सूत्र टूट जाता है । अतएव सहृदय पाठकगण विविध वस्तु वर्णन का प्रसग पढते–पढते मूल कथानक सूत्र भूल जाता है । पुन सप्तदश सर्ग मे मूलकथानक का सूत्र जैसे–जैसे दिखाई पडता है फलत वीर रस प्रधान इस महाकाव्य का अगी रस है जिसका इन विविध वस्तु वर्णन के अन्तर्गत अपकर्ष हो जाता है फलस्वरूप सहृदय पाठकगण इसे श्रृगार महाकाव्य ही समझने लगता है, श्रृगार ने वीर रस को आक्रान्त कर दिया है ।[1] ऐसा केशव राव मुसलगॉवकर ने आक्षेप किया है ।

परन्तु वस्तुत समीक्षा करने पर ऐसा स्पष्ट होता है कि न ही मूल कथानक व सूत्र टूटता है और न ही अगी रस वीर का अपकर्ष होता है । क्योकि त्रिपुरासुर दहन की

---

1. सस्कृत महाकाव्यो की परम्परा – पृ0 476 – 477

– केशवराव मुसलगॉवकर

मूल कथावस्तु का प्रारम्भ "परमेश्वर देवसमागमवर्णनम्" नामक सत्रहवे सर्ग से होता है । उपर्युक्त विषय के सन्देह का निवारण आचार्य आनन्दवर्द्धन की इस उक्ति से हो जाता है ।[1]

अतएव "नमस्कारवर्णनम्" प्रथमसर्ग से लेकर षोड्श सर्ग पर्यन्त उत्प्रेक्षित इतिवृत्त मे महाकवि मखक ने सहृदयसुधीगण के लिए विविध वस्तु वर्णन प्रस्तुत किये है । आनन्दवर्धनाचार्य के मतानुसार –

"मेतदेव हि महाकवित्व महाकवीनाम्" इति ।
आगे भी इन्होने स्पष्ट किया है ।[2]

उपस्थित महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे प्रकृत मूल कथानक का बीज बिन्दु–पताका – प्रकरी आदि अर्थ–प्रकृतियो का सन्निवेश सत्रहवे सर्ग से आरम्भ होता है । चतुर्थ सर्ग मे "कैलासवर्णन" और पञ्चम सर्ग मे भगवान् शिव का वर्णन रूद्रट प्रतिपादित रीति के अनुसार युक्ति–युक्त ही है, जैसा कि उन्होने अपने ग्रन्थ काव्यालकार मे कहा है ।[3]

आचार्य दण्डी का अनुसरण करते हुए महाकवि मखक ने जो षष्ठ सर्ग से आरम्भ कर षोड्श सर्ग पर्यन्त जिन वस्तु प्रसगो का वर्णन प्रस्तुत किया है वह भी उत्पाद्य काव्य के अन्तर्गत युक्तिसगत ही है जैसा कि दण्डी ने "काव्यादर्श" मे कहा है ।[4]

इस प्रकार "वसन्त वर्णन" नामक छठे सर्ग मे दिव्य नायक भगवान शकर जी दिव्य नायिका पार्वती के साथ कैलास मे वसन्तऋतु की शोभा देखते है । तत्पश्चात वसन्तोल्लास

---

1 "सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च समायणादय ।
कथाश्रया न तेर्यो या स्वेच्छा रसविरोधिनी ।।"
– ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ0 209
टीकाकार डॉ0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल

2. न हि कवेरिति वृत्तमात्र निर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धे । इति । -- ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ0 212

3 "तत्रोत्पाद्ये पूर्व सन्नगरी वर्णन महाकाव्यं ।
कुर्वीत -- तदनु तस्या नायकवश प्रशसा च ।।
काव्यालकार रूद्रट 16वॉ अध्याय पृ0 413–414

4 काव्यादर्श – 1/16

मे शिव द्वारा प्रेरित भगवती पार्वती दोलाक्रीडा करती है । तत्पश्चात् वह सभी सखियो के साथ पुष्पावचय करती है । पुष्पावचय करने से थकी हुई पार्वती जलक्रीडा के लिए जाती है । केवल कामक्रीडा को छोडकर अन्य सभी उत्पाद्य वस्तुवर्णन मे दिव्य नायिका पार्वती अपनी सखियो के साथ उपस्थित होती है । "क्रीडावर्णनम्" नामक पन्द्रहवे सर्ग मे दिव्यनायिका पार्वती परोक्ष रूप मे विद्यमान है । इस प्रकार ध्वनिकार ने अपने ध्वन्यालोक मे कहा है ।[1] एतदर्थ महाकवि मखक ने दिव्य नायक एव नायिका के वर्णन प्रसग मे उसे नहीं किया अपितु तिमिराच्छन्न रात्रि मे लोक सामान्य क्रिया – कलापो का वर्णन करते हुए महाकाव्य के लक्षणो को घटित किया है । अतएव यह स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि मूल कथानक का सम्बन्ध दिव्य नायक शकर एव नायिका पार्वती से सम्बद्ध है । अतएव महाकाव्य मे नायक एव नायिका के निवास स्थान विषयक वर्षन अपेक्षित है । प्रस्तुत महाकाव्य के सोलहवे सर्ग मे महाकवि मखक ने प्रभात वर्णन किया है । इस सर्ग मे भगवान् शकर को जगाने के लिए वैतालिक सुप्रभाती गान करते है । इसके पश्चात् "परमेश्वर देव समागम-र्वणनम्" नामक सत्रहवे सर्ग से मूलकथानक का सूत्रपात होता है ।

इस महाकाव्य मे सत्रहवे सर्ग से चौबीसवे सर्ग तक पौराणिक इतिवृत्त प्रस्तुत किया है । और इसी मूल भूत कथानक को महाकवि ने 25 सर्गों मे उपनिबद्ध किया है ईशानसहिता के अनुसार महाकाव्य मे आठ सर्ग से कम और तीस से अधिक न हो वही महापुरूष सम्बन्धी महाकाव्य का महाकाव्यत्व होता है ।[2] महाकवि मखक ने इस महाकाव्यत्व नियम का पूर्ण पालन किया है ।

शिवजी के अनेकानेक नामो मे से महाकवि ने यह "श्रीकण्ठ" नाम क्यो चुना

---

1 अभिनेपार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्त्मप्रकृते राजादेरूत्त्म प्रकृतिभिर्नायकाभि. सह ग्राम्य सभोग वर्णन तत्पित्रो सम्भोगवर्णनिमिव सुतरामसम्यम् । तथैवोत्त्मदेवतादि विषयम् ।। "दीपशिखाटीका" ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ0 206

2 "ईशानसहिता" संस्कृत महाकाव्य की परम्परा पृ0 132
– केशवराव मुसलगॉवकर

यह प्रश्न भी विचारणीय है । महाकवि मखक को इस महाकाव्य विशेष के प्रणयन की प्रेरणा स्वप्न मे प्राप्त पितृ- आदेश से मिली है । स्वप्न मे मखक ने स्वपिता को शिवत्व प्राप्त "हरिहर" रूप मे देखा था वह अपने परम इष्टदेव शिवजी के इस हरिहर स्वरूप को विस्मृत नही कर पाता । अतएव लोक कल्याण कारी भगवान शिवजी का नाम "श्रीकण्ठ" रख दिया । जिसका विग्रह है –श्री--शोभा लक्ष्मी च कण्ठे यस्य स, शिव । "त्रिपुर का विनाश" एव "विषपान" यह दो कार्य शिवजी के लोकोपकारक स्वरूप को अत्यन्त विशद् कर देते है । विषपान से ही यह ज्ञात हो सका था कि सभी देवताओ मे अत्यन्त वीर्यवान और शिवत्ववान् कौन है । ऐसा ही कोई महामहिमशाली परम् देव इस त्रिपुरासुर का विनाश भी कर सकता है । इस 'हेतुहेतुमद्भाव' का द्योतन करने के लिए महाकवि मखक इस "श्रीकण्ठ" नाम विशेष का चयन किया होगा । भगवान् शिव जी के ही यशोगायन की शोभा कविकण्ठ को भी सुशोभित करती है । महाकाव्य का नाम नायक[1] आदि के नाम पर होता है । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का नाम भी मुख्य कथानायक भगवान् शिव "श्रीकण्ठ" के नाम पर ही रखा गया ।

---

1 कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम् तु ।।

सा0द0 6/621

तृतीय अध्याय

कथावस्तु

कथावस्तु

‖क‖ कथावस्तु का शास्त्रीय विवेचन –

आचार्यो ने कथावस्तु का शास्त्रीय विवेचन लौकिक काव्यनाटकादि को दृष्टि मे रखकर किया है । ऋषि प्रणीत काव्यो मे महर्षि बाल्मीकिकृत रामायण तथा महर्षि वेदव्यास कृत महाभारत उपजीव्य काव्य है । महाभारत और पुराण आदि आर्ष काव्यो के मूलत ऐतिहासात्मक होने के कारण इनमे शास्त्रीय लक्षण घटित नही होते है । "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य यद्यपि आर्ष काव्य नही है तथापि यह महाकाव्य "शिवपुराण" पर पूर्णरूपेण आश्रित है शिवपुराण से "त्रिपुरदहन" नामक सक्षिप्त कथानक को लेकर महाकवि मखक ने स्वप्रतिभा द्वारा "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य को विस्तृत रूप दिया है । महाकवि मखक ने अपनी कल्पना से इसमे जो किञ्चित् परिवर्तन किये है उनसे न तो शिवपुराण का कथानक "त्रिपुरदहन" पर कोई विशेष प्रभाव पडता है और न ही शास्त्रीय दृष्टि से कथावस्तु को विवेचित करने मे कोई सुगमता होती है । परन्तु फिर भी कथा की समग्र घटनाओ को दृष्टि मे रखकर कुछ सीमा तक इसकी कथा का शास्त्रीय पक्ष निर्धारित किया जा सकता है ।

‖1‖ कथावस्तु के भेद :–

‖अ‖ प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र :–

कथावस्तु को समग्रता की दृष्टि से तीन प्रकार का माना गया है --

1 प्रख्यात, 2 उत्पाद्य, 3 मिश्र । इतिहास आदि से लिया गया इतिवृत्त "प्रख्यात" कहलाता है, एव कविकल्पित इतिवृत्त "उत्पाद्य" कहलाता है, और इन दोनो की सम्मिलित रचना "मिश्र" कहलाती है । ये सभी इतिवृत्त दिव्य, मर्त्य आदि भेद से भी भिन्न–भिन्न होते है ।[1]

---

1 प्रख्यातोत्पाद्य मिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यात मितिहासादेरूत्पाद्य कवि कल्पितम् ।।
मिश्र च सङ्करात्ताभ्या दिव्य मर्त्यादिभेदत ।
द0रू0 1/15,16

"श्रीकण्ठचरितम्" का इतिवृत्त "शिवपुराण" से गृहीत होने के कारण प्रख्यात है । इसकी कथावस्तु मुख्य रूप से दिव्य नायक शङ्कर भगवान् से सम्बद्ध होने के कारण दिव्य कोटि की है ।

(ब) **आधिकारिक एवं प्रासङ्गिक इतिवृत्त :–**

काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने कथावस्तु दो प्रकार की बतायी है – 1 आधिकारिक, 2 प्रासङ्गिक । प्रधान कथावस्तु आधिकारिक कहलाती है और अगरूप कथावस्तु प्रासङ्गिक होती है ।[1] भावप्रकाशनकार शारदातनय के अनुसार नायक आदि का वृतान्त आधिकारिक कथावस्तु के अन्तर्गत आता है ।[2]

फल प्राप्ति तथा उसके अतिशय उत्कर्ष तक पहुँचने के लिए कवि द्वारा सुनियोजित उद्योग द्वारा नायको के कार्यों के निर्धारित प्रकार से ग्रथित किये जाने पर जिस फल प्राप्ति की उपलब्धि या कल्पना की जाती है उसे प्रधान फल प्राप्ति का प्रयोजन – सम्पादन करने के कारण "आधिकारिक -- कथावस्तु" कहा जाता है ।[3] आचार्य धनञ्जय के अनुसार फल का स्वामित्व अधिकार है और उस फल का स्वामी कहलाता है । उस अधिकारी के द्वारा निष्पन्न एव काव्य मे फल की सिद्धि तक अभिव्याप्त इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है ।[4]

---

1 अ) वस्तु च द्विधा ।
तत्राधिकारिक मुख्यमङ्ग प्रासङ्गिक विदु । द0रू0 1/11

ब) इतिवृत्ताभिध वस्तु यत्काव्ये तद् द्विधा भवेत् ।।
आधिकारिकमेकन्तु प्रासङ्गिकमथापरम् । भावप्रकाशन 7/134

2 वृत्तान्तौ नायकादीनामत्र स्यादाधिकारिक ।
उपनायक वृत्तान्त प्रासङ्गिक उदाहृत ।। भावप्रकाशन 7/135

3 कारणात् फलयोगस्य वृत्त स्यादाधिकारिकम् ।
कवे प्रयत्नान्नेतृणा युक्ताना विध्यपाश्रयात् ।
कल्प्यते हि फलप्राप्ति समुत्कर्षात् फलस्य च ।। नाट्यशास्त्र 21/4,5

4 अधिकार फलस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभु. ।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्त स्यादाधिकारिकम् ।। द0रू0 1/12

"श्रीकण्ठचरितम्" की कथा का फल है –

भगवान् शिव जी द्वारा त्रिपुरदाह । इस फल के स्वामी शिव जी है । त्रिपुरदहन रूपी फलसिद्धि तक महाकाव्य मे अभिव्याप्त सत्रहवे सर्ग "परमेश्वरदेवसमागमवर्णन" से लेकर चौबीसवे सर्ग "त्रिपुरदाहवर्णन" तक आधिकारिक कथावस्तु है । प्रस्तुत महाकाव्य मे देवताओ के धर्म–अर्थ –काम–मोक्ष की सिद्धि ही इस त्रिपुरदहन का लक्ष्य है ।

जो इतिवृत्त आधिकारिक कथा से सम्बद्ध प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए होता है किन्तु प्रसड्ग से जिसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है वह प्रासड्गिक इतिवृत्त होता है ।[1] प्रासड्गिक कथावस्तु भी पताका प्रकरी के भेद से दो प्रकार की होती है । अनुबन्ध सहित अर्थात् मुख्य कथा के साथ दूर तक चलने वाला प्रासड्गिक वृत्त "पताका" कहलाता है । और एक प्रदेश मे रहने वाला अर्थात् थोडी दूर तक चलने वाला प्रासड्गिक वृत्त "प्रकरी" होता है ।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे प्रसड्गिक इतिवृत्त का अभाव है क्योंकि इसमे शिवपुराण का एक छोटा सा कथानक त्रिपुरदहन को ही मुख्य रूप से रखा है । इससे इतर घटनाओं को इसमे सम्मिलित नहीं किया गया है । इसलिए प्रासड्गिक इतिवृत्त के लिए इसमे अवकाश ही नही रह जाता है ।

(॥) नाटक सन्धियों का विवेचन .–

आचार्यों ने महाकाव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए उसमे सभी नाटक सन्धियो की स्थिति को अनिवार्य बताया है । नाटक सन्धियॉ अर्थप्रकृतियो और कार्यावस्थाओ के योग

---

1. प्रासड्गिक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसड्.गत ।
   द0रू0 1/13
2. सानुबन्ध पताकाख्य प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ द0रू0 1/13

से बनती है । अतएव अब इन अर्थप्रकृतियो, अवस्थाओ एव सन्धियो के स्वरूप का विवेचन और "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे इनकी स्थिति पर विचार करना अपेक्षित है ।

(अ) **अर्थप्रकृतियाँ :–**

मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के जो हेतु होते है वे ही अर्थप्रकृतियाँ है ।[1] आचार्य अभिनवगुप्त ने अर्थप्रकृति की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि जो अश फल या लक्ष्यप्राप्ति के साधन है उन्हे अर्थप्रकृति कहते है ।[2] ये अर्थप्रकृतियाँ नायक के लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक होती है । नाट्यदर्पण मे भी अर्थप्रकृतियो को 'उपाय' कहा गया है ।[3] "श्रीकण्ठचरितम्" मे कथा का फल है – भगवान् शिव जी द्वारा त्रिपुर–दहन और इस फल के उपाय ही वहाँ अर्थप्रकृतियाँ है अर्थप्रकृतियाँ पाँच प्रकार की बताई गयी है – 1 बीज 2 बिन्दु 3 पताका 4 प्रकरी 5 कार्य । इनमे से बीज, बिन्दु, एव कार्य, ये तीन आवश्यक अर्थ–प्रकृतियाँ स्वीकार की गई है । पताका और प्रकरी का सभी काव्यो मे होना अनिवार्य नही है । जहाँ प्रधान नायक को सहायक की आवश्यकता नही होती है वहाँ पताका और प्रकरी भी नही होते है ।[4] "श्रीकण्ठचरितम्" मे दिव्य नायक भगवान् शिव जी को सहायक की आवश्यकता नही होती है । अतएव पताका और प्रकरी का अभाव है । अब बीज, बिन्दु एव कार्य नामक अर्थप्रकृतियो का क्रमश विवेचन इस प्रकार है –

बीज :–

फल का निमित्त बीज कहलाता है । इसका प्रारम्भ मे सूक्ष्म रूप से सड्केत किया जाता है और आगे चलकर यह कथा मे अनेक प्रकार से विस्तार प्राप्त करता है ।[5]

---

1 अर्थप्रकृतय प्रयोजनसिद्धहेतव । सा0द0 6/65
2 अर्थ फलं तस्य प्रकृतय उपाया फलहेतव । अभिनव भारती 19/20
3 नाट्यदर्पण 1/28
4. नाट्यदर्पण 1/35
5 स्वल्पयोदि्ष्टस्तु तद्धेतर्बीज विस्तार्यनेकधा ।
द0रू0 1/17

नाट्यशास्त्र मे बीज का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है – जो छोटे रूप मे उपक्षिप्त अर्थात् स्थापित होने पर अनेक प्रकार से उत्तरोत्तर विकास करता हो तथा फल को मुख्य रूप मे उपलब्ध करवाते हुए समाप्त होता हो उसे ही बीज कहते है।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे भगवान् शङ्कर जी द्वारा त्रिपुरासुर को भस्मीभूत करना फल है। और उस फल का निमित्त है – ब्रह्मा जी द्वारा तारकासुर के तीन दैत्य पुत्रो को वरप्रदान करना कि उन तीनो की मृत्यु युद्ध मे शत्रु के एक ही बाण से और एक ही साथ होगी और आगे इसी कथा को अनेक प्रकार से विस्तृत किया गया है।

बिन्दु :–

अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से कथावस्तु के मुख्य प्रयोजन मे विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके अविच्छेद या सातत्य का कारण होता है वही बिन्दु है।[2] जिस प्रकार तैलबिन्दु जल मे फैल जाता है, उसी प्रकार यह बिन्दु सम्पूर्ण काव्य मे फैल जाता है। इसीलिए इसे बिन्दु कहा जाता है। नाट्यदर्पण के अनुसार अवान्तर कार्यों से मुख्य फल के विच्छिन्न होने लगने पर नायक आदि के द्वारा जो मुख्य फल का अनुसन्धान किया जाता है, वही बिन्दु कहलाता है। यह भी बीज के समान समस्त काव्यादि मे अन्त तक विद्यमान होता है।[3] बीज और बिन्दु मे समानता यह है कि ये दोनो ही फल प्राप्ति के उपाय है और फल प्राप्ति तक दोनो विद्यमान रहते है। इन दोनो मे भेद यह है कि सक्षेप मे निर्दिष्ट मुख्य फल का हेतु बीज होता है जब कि मुख्य फल का अनुसन्धान करना बिन्दु है। बीज का निर्देश मुख सन्धि के आरम्भ मे ही कर दिया जाता है किन्तु बिन्दु का निर्देश बाद मे होता है।

---

1 "स्वल्पमात्र समुत्सृष्ट बहुधा यद् विसर्पति।
फलावसान यच्चैव बीज तत् परिकीर्तितम् ॥" नाट्य शास्त्र 21/21

2. अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥द0रू0 1/17

3 ना0 द0 1/32

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे चतुर्थसर्ग "कैलासवर्णन" और पञ्चम सर्ग "भगवद–वर्णन" नामक सर्गों मे मूल कथानक का इतिवृत्त प्रारम्भ होता है । पुन आगे चलकर छठे सर्ग से सोलहवे सर्ग तक के लिए कथावस्तु का मूलसूत्र टूट जाता है । वसन्त, दोलाक्रीडा, पुष्पावचय, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, कामक्रीडा, प्रभात इत्यादि अवान्तर प्रयोजन है । इनसे कथा का मुख्य प्रयोजन – ब्रह्मादि सभी देवताओ का त्रिपुरासुरो से मुक्ति पाने के लिए भगवान् शिवजी से मिलना । और कृपालु भगवान् किरीट चन्द्र परम शिव द्वारा उन देवो का भय व त्रास दूर करने हेतु त्रिपुरासुर के सहार की स्वीकृति देना आदि का विच्छेद होने लगता है । इस प्रकार सत्रहवे सर्ग से कथानक का मूलसूत्र पुन जुड जाता है । देवताओ के आर्त्त वचनो को सुनकर शङ्कर भगवान् के गण विक्षुब्ध हो जाते है । तत्पश्चात् शङ्कर भगवान् के गण युद्ध हेतु उद्धत हो जाते है । युद्ध के निमित्त रथबन्धन तथा भगवान रूद्र का रौद्र रूप धारण करना आदि घटनाए अविच्छेद या सातत्य का कारण बनती है इसलिए यहाँ बिन्दु है ।

<u>कार्य :–</u>

आधिकारिक कथावस्तु मे जिन उद्योगो को लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रारम्भ अथवा समाविष्ट किया जाता है और उसके लिए जो आवश्यक साधन समुदाय होता है वही "कार्य" नामक अर्थप्रकृति है ।[1] यह कार्य या नायक व्यापार आरम्भ से लेकर फल प्राप्ति तक चलता है । एतदर्थ "श्रीकण्ठचरितम्" मे दिव्य नायक भगवान् शिव द्वारा त्रिपुर– दहन के लिए किये गये समस्त साधन यथा – भगवान शिव ने विश्वकर्मा द्वारा युद्ध के निमित्त दिव्य रथ का निर्माण करवाया और उस दिव्य रथ पर अधिरूढ होकर दिव्यास्त्रो द्वारा भीषण युद्ध कर त्रिपुरासुर का वध किया । अतएव युद्ध वर्णन एवं त्रिपुरासुर का वध आदि "कार्य" नामक अर्थप्रकृति के अन्तर्गत आते है ।

---

1 "यदाधिकारिक वस्तु सम्यक्प्राज्ञै प्रयुज्यते ।
तदर्थे यस्समारम्भस्तत् कार्य परिकीर्तितम् ।।" नाट्यशास्त्र 21/25

(ब) **कार्यावस्थाए –**

फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पॉच अवस्थाए होती है – 1 आरम्भ 2 यत्न 3 प्राप्त्याशा 4 नियताप्ति 5 फलागम ।[1]

आरम्भ :–

प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्सुकता मात्र होना ही आरम्भ कहलाता है ।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे भगवान शिव से उत्पन्न स्कन्द के द्वारा तारकासुर का वध विहित हो जाने के पश्चात् तारकाक्ष, कमलाक्ष एव विद्युन्माली प्रभृति तारकासुर के तीनो पुत्रो ने कठोर तप करके ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर वर प्राप्त किया कि उन तीनो की मृत्यु युद्ध मे शत्रु के एक ही बाण से और एक ही साथ होगी । ब्रह्मा जी के तथास्तु कहने पर उन तीनो ने स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक को अपना पृथक – पृथक निवास स्थान बनाकर त्रिलोकी को सन्तप्त करना प्रारम्भ किया । तब ब्रह्मादि देवता भगवान शिव जी से मिलकर उनसे त्रिपुरासुर को नष्ट करने की प्रार्थना की । और शिवजी ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली ।[3] यही 'आरम्भ" नामक कार्यावस्था है क्योंकि इसी समय से त्रिपुर – दहन रूपी फल के लिए उत्सुकता प्रारम्भ हो जाती है ।

यत्न :–

फल के प्राप्त न होने पर उसके लिए अत्यन्त वेग पूर्वक उद्योग करना ही प्रयत्न है ।[4]

देवताओ के आर्त्त बचनो को सुनकर शड्.कर भगवान के गण विक्षुब्ध होकर

---

1 अ "अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमा ।।" द0रू0 1/19

ब नाट्यशास्त्र 21/6,7

2. औत्सुक्यमात्रमारम्भ फललाभाय भूयसे । द0रू0 1/20

3 श्रीकण्ठ0 17/1–34

4 प्रयत्नस्तु तद्प्राप्तौ ब्यापारोऽतित्वरान्वित ।। द0रू0 1/20

तुरन्त युद्ध हेतु उद्धत हो जाते है। और विश्वकर्मा ने युद्धार्थ दिव्य–रथ का निर्माण किया इस रथबन्धन मे ब्रह्माण्ड की अनेक वस्तु उपकरणो की परिकल्पना हुई है।[1] इस प्रकार त्रिपुरासुर को नष्ट करने के लिए जो भी उद्यम है वह "यत्न" नामक अवस्था है।

प्राप्त्याशा :–

उपाय के होने पर विघ्न की शङ्का होने से जो फल प्राप्ति की सम्भावना मात्र होती है वह "प्राप्त्याशा" नामक अवस्था होती है।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य मे दिव्य नायक चन्द्रमौलि भगवान् शङ्कर द्वारा त्रिपुर–दहन रूपी फल प्राप्ति तो अवश्यम्भावी है। इसलिए इसमे "प्राप्त्याशा" नामक अवस्था के लिए अवकाश ही नही रह जाता है। क्योंकि भगवान शिव द्वारा त्रिपुरासुर को भस्म करने मे कोई विघ्न उपस्थित नही हुआ।

नियताप्ति .–

विघ्नों के अभाव से फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही नियताप्ति होती है[3]।

गणो का त्रिपुरासुर के साथ युद्ध का निश्चय कर भगवान् रूद्र रौद्र रूप धारण कर दिव्य रथ पर अधिरूढ होकर त्रिपुरासुर के सहार की कामना से युद्ध हेतु प्रस्थान किया। त्रिपुरासुर ने यह जानकर कि भगवान् शङ्कर जी साक्षात् हमारे साथ युद्धार्थ रणभूमि मे प्रस्तुत हो रहे है तब उन्होने भी स्वसैन्यबल से सुसज्जित होकर उनके साथ युद्ध के लिए एकत्रित हो गये। देव–दानव के मध्य प्रलयकारी युद्ध हुआ। राक्षसगण मर–मर कर स्वर्ग जाने लगे।[4] इसी के साथ ही देवताओ की विजय सुनिश्चित हो गयी। इस प्रकार त्रिपुर – दहन रूपी फल की प्राप्ति निश्चित हो जाने पर "नियताप्ति" नामक कार्यावस्था हुई।

---

1 श्रीकण्ठ0 सर्ग – 19,20
2 उपायापायशङ्काभ्या प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भव। द0रू0 1/21
3 अपायाभावत प्राप्तिर्नियाताप्ति सुनिश्चित ।। द0रू0 1/21
4. श्रीकण्ठ0 – गणप्रस्थानवर्णन 21वॉं सर्ग, दैत्यपुरीक्षोभवर्णन 22वॉं सर्ग,
युद्ध वर्णन 23वॉं सर्ग।

फलागम –

पूर्ण रूप से फल की प्राप्ति होना फलागम या फलयोग है ।[1]

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे – युद्ध स्थल मे भगवान शिव द्वारा प्रयुक्त दिव्य बाणाग्नि से जलते हुए वे त्रिपुरासुर भस्मीभूत हो कर पश्चिमी समुद्र मे जा गिरे त्रिपुर – दहन होना "फलागम" अवस्था है ।

(स) सन्धियॉ –

पॉच अर्थप्रकृतियॉ तथा पॉच अवस्थाओ के सयोग से पॉच सन्धिया उत्पन्न होती है ।[2] 1 मुख सन्धि 2 प्रतिमुख सन्धि 3 गर्भ सन्धि 4 अवमर्श सन्धि 5 निर्वहण या उपसहृति सन्धि आदि । इनका क्रमश विवेचन इस प्रकार है –

मुख सन्धि :–

जहॉ अनेक प्रकार के प्रयोजनो और रसो को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है वहॉ मुख सन्धि होती है यह बीज और आरम्भ के सयोग से होती है ।[3] मुख सन्धि मे वट–बीज के समान किसी घटना विशेष का अवभासन मात्र होता है । कथानायक को भविष्य मे उस घटना से अत्यन्त फललाभ की सम्भावना रहती है । इस एक घटना विशेष से शतश अनेको घटनाए, रस एव लाभ उद्भूत होते चलते है ।

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य की मुख सन्धि ब्रह्मा द्वारा त्रिपुरासुर को वर प्रदान करना है । वर प्राप्ति के साथ ही भगवान् शड्कर के द्वारा उन त्रिपुरासुर का

---

1 समग्रफलसपत्ति फलयोगो यथोदित । द0रू0 1/2.2

2. अर्थप्रकृतय पञ्च पञ्चावस्था समन्विता ॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या. पञ्चसन्धय ।
अन्तरैकार्थसंबन्ध सन्धिरेकान्वये सति ॥ द0रू0 1/22, 23

3 मुख बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
अड्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥ द0रू0 1/24

विनाश स्वभावत श्रृखलाबद्ध हो जाता है। इस वर प्राप्ति से ही आगामी घटनाऐ एव रसादि उद्भूत हो चलते है।[1]

प्रतिमुख सन्धि –

मुख सन्धि मे निर्दिष्ट बीज का जहाँ बिन्दु और प्रयत्न के अनुगम द्वारा कुछ लक्ष्य रूप मे और अलक्ष्य रूप मे उद्भेद होता है वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है।[2] भूमि मे आरोपित बीज के अकुरित हो चुकने की भाँति किसी महाफल दायिका घटना का बीजारोपण हो चुकने पर उसे पल्लवित करने के लिए जो कुछ भी सगठन या व्यापारादि वर्णन किये जाते है, वे प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत आते है। कुछ प्रयत्न फल की प्राप्ति मे यथानिश्चित सहायक बन जाते है, परन्तु कुछ बाधक भी सिद्ध होते है।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे प्रतिमुख सन्धि उन्नीसवे सर्ग मे आई है और इसका विस्तार बीसवे सर्ग तक कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत भगवान् शङ्कर जी ने त्रिपुर वध की स्वीकृति देवताओ को दे दी। अब सफलता मे कोई सन्देह नही रहा। देवगणो ने विविध रण सज्जा भी कर डाली। अतएव इन्द्रादि देवताओ को स्वदुख निवारण का पूर्ण विश्वास हो गया।[3]

गर्भ सन्धि –

जहाँ दिखाई पडने के अनन्तर अदृश्य हो गये बीज का बार–बार अन्वेषण किया जाता है, वहाँ गर्भ सन्धि होती है। इसमे "पताका" कही होती है और कही नहीं भी होती है किन्तु "प्राप्त्याशा" अवश्य होती है।[4] अन्तिम फल प्राप्ति के लिए किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप असफलता एव सफलता का द्वन्द चल निकलता है। फिर भी सफलता तो प्राप्त करना ही है। पुन – पुन लक्ष्यसिद्धि की ओर झुकना ही गर्भ

---

1 श्रीकण्ठ0 17/46–67

2 लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुख भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमात् ॥ द0रू0 1/30

3 श्रीकण्ठ0 19/26–45 20/65

4. गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषण मुहु।
......पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भव ॥ द0रू0 1/36

सन्धि है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" मे 21वॉ और 22वॉ सर्ग गर्भसन्धि के अन्तर्गत आता है । त्रिपुर के प्रति देवगणो का प्रयाण तथा दैत्यो को अशुभ सूचना की प्राप्ति ही यहॉ दिखाई गई है । इसमे पताका का सर्वथा अभाव है ।

अवमर्श सन्धि –

जहॉ क्रोध से, दुख से, अथवा प्रलोभन से फलप्राप्ति के विषय मे विमर्श किया जाता है तथा जिसमे गर्भ सन्धि के द्वारा प्रस्फुटित बीजार्थ का सम्बन्ध पाया जाता है, वहॉ अवमर्श या विमर्श सन्धि होती है ।[1] इस सन्धि मे फल की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है । सारा कार्यप्रवाह यहॉ से उतार की ओर चल देता है । क्षोभ कम हो जाता है । विजयोल्लास् की सुनहरी किरणे झाकने लगती है ।

प्रस्तुत महाकाव्य का 23वॉ सर्ग अर्थात् "युद्ध वर्णन" मे अवमर्श सन्धि है । यहॉ सभी दैत्यगणो का विनाश हो जाता है और त्रिपुर दहन रूपी फल की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है ।

उपसंहृति या निर्वहण सन्धि –

जहॉ बीज से सम्बन्ध रखने वाले, मुखादि सन्धियो मे निखरे हुए प्रारम्भादि अर्थो का एक मुख्य प्रयोजन के साथ सम्बन्ध पाया जाता है , वहॉ निर्वहण सन्धि होती है ।[2] इसमे उद्भूत रस के सफल दर्शन के साथ–साथ अन्तिम फल–प्राप्ति एव तज्जनित उल्लास का वर्णन आता है ।

---

1 क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद् वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ सोऽवमर्श इति स्मृत ।। द0रू0 1/48

2. बीजवन्तों मुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहण हि तत् ।
द0रू0 1/48, 49

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" के चौबीसवे सर्ग के अन्तर्गत दैत्यो की स्त्रियो का त्रास, देवताओ का उल्लास एव स्वगृह प्रस्थान आदि इस सन्धि मे आते है ।

(ख) श्रीकण्ठचरितम् की कथावस्तु :–

भगवान् शङ्कर से उत्पन्न स्कन्द के द्वारा तारकासुर का वध विहित हो जाने के पश्चात् तारकाक्ष, कमलाक्ष, एव विद्युन्माली प्रभृति तारकासुर के तीनो पुत्रो ने कठोर तप करके ब्रह्मा जी को सन्तुष्ट किया । उनके तप से प्रभावित ब्रह्मा ने उन तीनो असुरो से वर माँगने के लिए कहा । तब तारकासुर के तीनो पुत्रो ने अमरत्व की याचना की तत्पश्चात् ब्रह्मा जी ने कहा कि अमरत्व का वरदान उनकी शक्ति से बाहर है । तब उन दैत्यो ने आपस मे मन्त्रणा करके यह वरदान माँगा कि उन तीनो की मृत्यु युद्ध मे शत्रु के एक ही बाण से और एक ही साथ हो । ब्रह्मा जी के तथास्तु कहने पर उन तीनो ने स्वर्ग, मर्त्य और पाताल लोक को पृथक – पृथक निवास स्थान बनाकर त्रिलोकी को सन्तप्त करना प्रारम्भ किया ।

विश्वकर्मा के पुत्र मय नामक महाशिल्पी ने उन तीनो की रक्षा के लिए इच्छानुकूल पुरत्रय के निर्माण का आदेश दिया । शीघ्र ही समय से पुरत्रय का निर्माण हुआ । स्वर्णदुर्गयुक्त स्वर्ग लोक मे तारकाक्ष, रजतदुर्गयुक्त मर्त्यलोक मे कमलाक्ष, और लौह वाले पाताल मे विद्युन्माली ने अपना स्थान चुना । सहस्त्रो वर्षों के पश्चात् वे तीनो क्षण भर के लिए आकाश मे एकत्र होते थे । मृत्यु के भय से रहित होकर तारकासुर के तीनो पुत्रो ने देवताओ को सहस्त्रो वर्षों तक सताया । इस प्रकार तारकासुर के ये तीनो पुत्र त्रिपुरासुर के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

इन त्रिपुरासुरो ने ब्रह्मा जी का वरदान प्राप्त करके राक्षसी प्रवृत्ति से देवताओ को जब अत्यधिक सत्रस्त किया । तब देवता त्रस्त होकर ब्रह्मा जी के साथ देवाधिदेव शङ्कर जी के पास गये । शङ्कर भगवान् से देवताओ ने स्वदुख निवारणार्थ त्रिपुरासुर

को भस्म करने के लिए प्रार्थना की । तब भगवान् शङ्कर जी के समक्ष चतुर्मुख ब्रह्मा जी ने त्रिपुरासुर की तपश्चर्या एव स्वय उनको वर प्रदान करने का वृतान्त निवेदित कर उनके विनाशार्थ प्रार्थना की । तत्पश्चात् भगवान् चन्द्रमौलि शङ्कर जी ने देवताओ को उपदेश दिया – कि आप सब अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर त्रिपुरासुर पर आक्रमण करके उनको परास्त करिये । देवताओ ने कहा – त्रिपुरासुर के सैन्यबल की अपेक्षा हमारा सैन्यबल अल्प है अतएव उनसे हम लोग डरते है और उनको हम अजेय मानते है । देवताओ को शान्त करते हुए भगवान् शङ्कर जी ने कहा – मै आप सबको अपना अतिरिक्त बुद्धि – बल प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा आप सब त्रिपुरासुर को भस्म करने मे समर्थ होगे । किन्तु इन देवताओ ने महादेव द्वारा प्रदत्त उस अतिरिक्त बुद्धि बल से भी इस कार्य मे अपने को असमर्थ पाकर देवाधिदेव शङ्कर जी से इस कार्य के निमित्त प्रार्थना की ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे "परमेश्वर देवसमागमवर्णनम्" नामक सत्रहवे सर्ग के अन्तर्गत विविध दर्शनशास्त्रो के निर्दिष्टानुसार श्रेष्ठ पदार्थों एव उपमानो को लेकर भगवान् शिवजी की स्तुति कर उन देवताओ ने देवाधिदेव परम शिवजी को सर्वश्रेष्ठ उद्घोषित किया । इस प्रकार कृपालु भगवान् किरीटचन्द्र परम् शिवजी ने उन देवताओ का भय एव त्रास दूर करने के लिए त्रिपुरासुर के सहार का भार अपने ऊपर ले लिया ।

अतएव अष्टादश सर्ग "गणक्षोभवर्णनम्" नामक है जिसमे देवताओ के आर्त वचनो से शङ्कर भगवान् के गण विक्षुब्ध हो जाते है । इसी सर्ग मे शिवगणनिष्ठ का त्रिपुरविषयक रौद्ररस का विभावानुभाव और व्यभिचारी भाव का निपुणता से वर्णन किया गया है ।

तत्पश्चात् "गणोद्योगवर्णनम्" नामक एकोनविशति सर्ग मे भगवान् शिवजी के गण युद्ध हेतु उद्धत हो जाते है । यहॉ भी शिवगणनिष्ठ का रौद्ररस का विभावानुभाव

और व्यभिचारीभाव का वर्णन विद्यमान है ।

"रथबन्धनवर्णनम्" नामक 20वे सर्ग मे महाकवि मखक ने भगवान् शङ्कर के युद्ध के निमित्त रथबन्धन आदि से सम्बन्धित वर्णन किया है । तब विश्वकर्मा ने शङ्कर भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करके युद्ध हेतु दिव्य रथ का निर्माण किया । इस रथबन्धन मे ब्रह्माण्ड की अनेक वस्तु उपकरणो की परिकल्पना हुई है । जैसे – पृथ्वी रूपी रथ और सूर्य एव चन्द्र उस रथ के पहिये, आकाश का आवरण, चारो वेद उसके अश्व बने । मेरू पर्वत रथ का आधार , विष्णु चन्द्र एव अग्नि रूपी बाण, मन्दर पर्वत का धनु, सर्प विशेष की वासुकि रूपी प्रत्यञ्चा इत्यादि की परिकल्पना हुई है । इस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर – जगम के द्वारा रथ के निर्माण की कल्पना की गई ।

"गणप्रस्थानवर्णनम्" नामक 21वे सर्ग मे गणो का त्रिपुरासुर के साथ युद्ध का निश्चय कर भगवान् रूद्र का रौद्र रूप धारण कर युद्ध हेतु प्रस्थान का वर्णन किया है भगवान् रूद्र भी दिव्य रथ पर अधिरूढ होकर त्रिपुरासुर के सहार की कामना से युद्ध हेतु प्रस्थान किया ।

"दैत्यपुरीक्षोभवर्णनम्" नामक 22वे सर्ग मे महाकवि मखक ने तीनो असुरो के दुर्ग के क्षोभ का वर्णन दिया है । त्रिपुरासुर ने यह जानकर कि भगवान् शङ्कर साक्षात् हमारे साथ युद्धार्थ रणभूमि मे प्रस्तुत हो रहे है । तब उन्होने भी स्वसैन्यबल से सुसज्जित होकर उनके साथ युद्ध के लिए एकत्रित हो गये । इस सर्ग मे त्रिपुरासुर निष्ठ का रौद्ररस का क्रोध के द्वारा स्थायीभाव के साथ विभावानुभाव एव व्यभिचारी भाव का बडा सुन्दर वर्णन किया है । -

"युद्धवर्णनम्" नामक 23वे सर्ग मे दोनो पक्ष देव–दानव के मध्य प्रलयकारी युद्ध का वर्णन किया गया है । दैत्यत्रय ने अत्यन्त क्रोध मे आकर देवो का सामना किया

गणेश, कुमार, नन्दी, तण्डु और भृगरिटी ने अदभुत बीरता दिखाई । राक्षसगण मर–मर कर स्वर्ग जाने लगे । नगाडे भेरी तथा वीर विरूदावलियो आदि से आकाश मण्डल गूँज उठा । इस सम्पूर्ण सर्ग मे त्रिपुरासुर एव भगवान् शिव सहित उन गणो के युद्ध का वर्णन किया गया ।

"त्रिपुरदाहवर्णनम्" नामक 24वे सर्ग मे युद्ध मे भगवान शिव के द्वारा प्रयुक्त दिव्य बाणाग्नि से जलते हुए वे त्रिपुरासुर भस्मीभूत होकर पश्चिमी समुद्र मे जा गिरे यही इस 24वे सर्ग मे इस महाकाव्य का मूल कथानक समाप्त हो जाता है ।

"ग्रन्थकर्तृकविकालीनकविपण्डितादिवर्णनम्" नामक 25वे सर्ग मे महाकवि मखक ने प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य की रचना करके स्व अग्रज "अलकार" द्वारा आयोजित विद्वत्परिषद् के समक्ष स्वकाव्य परीक्षणार्थ उपस्थित हुए । उस विद्वत्परिषद् मे 32 विद्वानो का नामोल्लेख हुआ है । अतएव यह सर्ग ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत उपयोगी है । उन विद्वानो के समक्ष काव्य पढकर सुनाना तथा काव्य की परीक्षा कराना ही इस राजदरबार मे कवि मखक के प्रविष्ट होने का हेतु है ।[1] परीक्षा मे सफल होने पर अन्त मे महाकवि मखक ने स्वमहाकाव्य को भगवान् शड्.कर के चरणारविन्दो मे समर्पित किया है ।[2]

(ग) **श्रीकण्ठचरितम् की कथावस्तु के मूलस्त्रोत का अन्वेषण :–**

लोकोपकारी भगवान शड्कर के द्वारा त्रिपुर के भस्मीकरण का कथानक अत्यन्त प्राचीन है । इससे हमे भारतीय सस्कृति एव आध्यात्मिक विचारो के दर्शन प्राप्त होते है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 25/16,18

2 श्रीकण्ठ0 25/152

यह कथानक लगभग सभी पौराणिक ग्रन्थो मे न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ प्राप्त होता है । लिगपुराण, मत्स्यपुराण, शिवपुराण, भागवतमहापुराण, स्कन्दपुराण, तैत्तिरीयसहिता, काठकसहिता, महाभारत, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, कौषीतकि ब्राह्मण इत्यादि मे इस कथानक का वर्णन मिलता है ।

शतपथ ब्राह्मण मे त्रिपुर दहन का कथानक इस प्रकार उल्लिखित मिलता है –

"परिवाजपति कवि मत्रप्रतीक । अग्ने। तुम्हारे चतुर्दिक ही हम पुरो का निर्माण करते है । "परित्वाऽग्ने" एव "त्वमग्ने द्युमि " मन्त्र पढकर अग्नि की स्तुति करके, पर्यग्निकरण के द्वारा अग्नि को ही उस यजमान का रक्षक बनाते है । उसकी यह अग्निपुरी देदीप्यमान बनी रहती है । त्रिपर्यग्निकरण के द्वारा इसके त्रिपुरो का निर्माण करते है । पृथक–पृथक छन्दो से पृथक – पृथक विस्तृत रेखाओ का निर्माण करते है इसी से दूर–दूर पर बडी–बडी रेखाये होती है। रेखाये ही पुर है "[1]

जिस प्रकार शतपथ ब्राह्मण मे त्रिपुर का कथानक सक्षिप्त रूप मे प्राप्त होता है, इसी प्रकार "ऐतरेय ब्राह्मण"[2] एव "कौषीतकि ब्राह्मण"[3] मे भी उपलब्ध होता है । परन्तु तैत्तिरीय सहिता मे त्रिपुर दहन का कथानक कुछ विस्तार से प्राप्त होता है –

"देव तथा असुर एक साथ रहते थे । वे एक दूसरे के विरोधी थे और आपस मे एक दूसरे से स्वय को बडा समझते थे । उन असुरो के तीन पुर थे । सबसे नीचे अयस्मयी अर्थात् लौहमयी पुरी थी, उसके ऊपर रजतपुरी और उसके भी ऊपर स्वर्णपुरी थी । देवता लोग असुरो की उन पुरियो को नही जीत सके । देवता यज्ञ के द्वारा उन्हे

---

1 श0ब्रा0 रत्नदीपिकाटीकोपेत 6/3/3/25
2 द्रष्टव्य ऐ0ब्रा0 2/11 त्रिवेन्द्रसस्करणम् 1942पृ0 231, 262
प्रथम खण्ड षष्ठसप्तदशऽध्यायौपादटिप्पणीमऽवलोकनीयम् ।
3 कौ0 ब्रा0 2/310

जीतना चाहते थे । कहा भी है – जो ऐसा ही जानता है और जो नही , यज्ञ (उपसद) से महापुर को जीतते है । उन्होने अग्नि को बाण बनाया, सोम को शल्य, तथा विष्णु को तीक्ष्णता – प्रदाता । उन्होने कहा कौन इस बाण को छोडेगा, सबने कहा – "रूद्र" रूद्र ही सबसे क्रूर है, वही इसे छेडे । रूद्र बोले – मै वर मॉगता हूँ कि मै पशुओ का अधिपति होऊँ , इसी से रूद्र ही पशुओ के स्वामी है । तब उस बाण को रूद्र ने छोड़ा । उन्होने तीनो पुरो का भेदन करके , इन लोको से असुरो को मार भगाया ।[1] "काठकसहिता"[2] मे भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है ।

महाभारत के अन्तर्गत "कर्णपर्व" मे दुर्योधन ने शल्य के प्रति "त्रिपुरदहन" का सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा ।[3] इसका कथानक एक प्रबन्ध काव्य की रूपरेखा प्राप्त कर लेता है । राका, अनुमती, कुहु एव सिनीवाली कल्पित पृथ्वीरथ के देवविशेष अश्वो की लगामे है । असुरत्रय बाण से मारे जाकर पश्चिम समुद्र मे जा गिरते है ।[4]

यद्यपि त्रिपुरदहन का कथानक महाभारत के "द्रोणपर्व" मे भी मिलता है ।[5] किन्तु यहॉ इसका कथानक कुछ भिन्न रूप मे है । "कर्णपर्व" मे रथबन्धन की परिकल्पना अन्यान्य उपकरणो से की गई है जब कि "द्रोणपर्व" मे इसके विपरीत अन्य उपकरणों से रथबन्धन की कल्पना की गई है । इसके अतिरिक्त तीनो पुरो के निवास स्थान के वर्णन मे भी भिन्नता है ।

---

1 तै0 स0 6/2/3/1–2

2 का0 सं0 24/10

3 महा0 क0प0 24वॉ अध्याय 4–121 पद्य ।

4 त्रैलोक्यसार तमिषु मुमोच त्रिपुर प्रति ।
तत्सासुरगण दग्ध्वा प्राक्षिपत्पश्चिमार्णवे ।।
महा0क0प0 24/120

5 महा0 द्रो0 प0 173 अध्याय 52–58 श्लोक ।

"कर्णपर्व" मे वर्णित तीनो पु ो का स्थान इस प्रकार है –

> काञ्चन दिवि तत्रासीदन्तरिक्षे च राजतम् ।
> आयस चाभवद्भूमौ चक्रस्थ पृथ्वीयते ।।
> काञ्चन तारकाक्षस्य किमासीन्महात्मन ।
> राजत कमलाक्षस्य विद्युन्मालिन आयसम् ।।[1] इति च
> किन्तु "द्रोणपर्व" मे तीनो पुरो का वर्णन इस प्रकार है –
>
> असुराणा पुराण्यसस्त्रीणि वीर्यवता दिवि ।
> आयस राजत चैव सौवर्णमपर महत् ।।
> आयस तारकाक्षस्य कमलाक्षस्य राजतम् ।
> सौवर्ण परम ह्यासीद्विद्युन्मालिन एव च ।।[2]

"मत्स्यपुराण" मे कथानक का यथेष्ट विस्तार हो गया है । इसमे अन्य पुराणो से पर्याप्त भेद भी आ गया है । इसमे मय प्रधान दैत्यराज तथा प्रतिनायक है । देवो से पराजित होकर वही तप करता है । विद्युन्माली एव तारकाक्ष उसका अनुसरण करते है । मय साधारण ही नगरत्रय का निर्माण करता है । दैत्य स्वभावानुकूल मय, विद्युन्माली एवं तारकाक्ष तीनो असुर देवताओ पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर देते है । मय दुस्वप्न देखता है । नारद दुस्वप्न के फलस्वरूप उसे बता देते है । कि पुरत्रय को नष्ट करने के लिए भगवान् शङ्कर जी स्वय आ रहे है । मय युद्ध घोषणा कर देता है । तत्पश्चात् घमासान युद्ध छिड जाता है । नन्दी तारकाक्ष को मार देते है । विद्युन्माली राक्षसो को लेकर पश्चिम सागर मे छिप जाता है । देवगण वहाँ भी पहुँच जाते है । विद्युन्माली भी युद्ध करते हुए मारा जाता है । मय उसे अमृतवापी मे डालकर पुन जीवित कर देता है । पुन घनघोर युद्ध होता है । विष्णु भगवान् वृषरूप धारण करके उस अमृतवापी

---

1 महा0 क0प0 24वॉं अध्याय 15–16

2 महा0द्रो0प0 137/52–53

का पान कर जाते है । फलस्वरूप कई दिन युद्ध के पश्चात् नन्दी विद्युन्माली को मार देते है ।[1]

दैत्यराज मय परम् शिवभक्त था । अतएव भगवान् शिवजी ने उसे बचाने की आज्ञा नन्दी को दी । नन्दी उसे एक गुप्त द्वार से बचाकर निकाल ले जाते है । [2]

भगवान् शिव जी एक नवीन सृष्टि बनाकर मय को भविष्य मे निवास के लिए प्रदान करते है । शिव जी द्वारा छोडा गया बाण स्त्री–बच्चो सहित नगरत्रय को भस्म कर डालता है ।[3]

यहाँ कमलाक्ष के स्थान पर मय आया है एव वही तारकाक्ष के स्थान पर प्रधान दैत्यराज है । मय शिव भक्त भी है । इसी कारण वह युद्ध मे मरने से बचा लिया जाता है । इतना ही नही भगवान् शड्कर जी उसके निवास के निमित्त एक सृष्टि का निर्माण कर देते है । वह उसका अधिपति बनकर सुखपूर्वक रहता है । भीषण कूटनीतिक युद्ध इस पुराण की विशेष कल्पना है ।

लिगपुराण मे रथबन्धन की कल्पना कुछ विशेष है ।[4] यहाँ भवानी भी युद्ध करने जाती है ।[5] शेष कथानक मत्स्य पुराण के समान ही है ।

---

1 यज्ञोपवीतमादाय विक्षेद च ननाद च ।
वेन भिन्न तनुत्राणो विभिन्न हृदयस्त्वापि ।
विद्युन्मालीमद्भूयौ वज्राहत इवानल ॥ म0पु0 140/36

2 श्रुत्वा तम्नन्दिवचन दृढभक्तौ महेश्वरौ तैन्वेव
गृहमुख्येणत्रिपुरादयसर्पित ॥ वही 170/52

3 सोऽपीषु पत्रपुटवद् दग्ध्वा तन्नगरत्रयमौ ॥ वही 140/53

4 धर्मो विरागो दण्डोऽस्य यज्ञा दण्डाश्रयास्मृता ।
दक्षिणा सन्धयस्तस्य लौहा पञ्चदशाग्नय ॥ लि0पु0 71/25

5 बाला बालपराक्रमा भगवती दैत्यान् प्रहर्तु ययौ ॥ लि0पु0 71/31

स्कन्दपुराण मे कथानक अत्यन्त सक्षिप्त है ।[1] इस पुराण मे त्रिपुर नाम का केवल एक ही दैत्य है । वही शिव–सर से त्रिधा खण्डित कर दिया जाता है । श्रीमद् भागवत्–पुराण मे भी अत्यन्त सक्षिप्त रूप से कथानक का उल्लेख हुआ है ।[2]

(घ) "श्रीकण्ठचरितम्" की कथावस्तु का आधार (शिवपुराण) –

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" की कथावस्तु "शिवपुराण" पर आधारित है । शिवपुराण मे इस त्रिपुरवध कथानक का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है ।[3] जिसका सक्षिप्त कथानक निम्नलिखित रूप मे है –

देवर्षि नारद ने ब्रह्मा से पूछा कि महावीर्य शिवजी ने एक ही बाण से उन त्रिपुर को कैसे मारा था । सनत्कुमार ने बताया कि शिवपुत्र स्कन्द के द्वारा तारकासुर के मारे जाने पर, तारकासुर के तीनो दैत्यपुत्र तारकाक्ष, विद्युन्माली, तथा कमलाक्ष ने ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने के लिए सभी भोगो को त्यागकर सुमेरूपर्वत की कन्दरा मे घनघोर तप किया । तब सुरासुरगुरू ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर उन्हे वर देना चाहा । तत्पश्चात् उन तीनो ने अमरत्व की मॉग की, कि हम तीनो अजरामर हो जाये । अतएव ब्रह्मा ने कहा – सर्वामरत्व तो है ही नहीं, आप इसे छोडकर कोई अन्य अभीष्ट वर मॉगो । तब उन दैत्यो ने तीन पुरो की मॉग की । तारकाक्ष ने अभेद्य हैमपुर, कमलाक्ष ने रजत तथा विद्युन्माली ने वज्रायस मयपुर की याचना की ।

दैत्यो ने पुन ब्रह्मा से कहा – जब यह त्रिपुर एकस्थ हो, मध्यान्ह मे चन्द्रसूर्य के एकत्र स्थित होने पर, अभ्राच्छन्न आकाश मे त्रिपुरो के अनुक्रम से दिखने पर, पुष्करावर्तादि

---

1. स्तुतिकृत्वा ययौवाग्मि पृष्ठतोऽनुययु सुरा ।
   शरेणैकेनवै रूद्रो जघान तं महासुरम् ।।
   मायिन त त्रिधा भित्त्वा मायायुद्धेनशङ्कर ।
   पुररागात्पुरीमेतायवन्तीममरसेविताम् ।। स्क0पु0 5/43/47–48
2. श्रीमद्0 पु0 10/43/71
3. शिव0 पु0 2/5/1–12

काल मेघ जब वर्षा कर रहे हो और सहस्त्रो वर्षो के अन्त मे हमारे मिलने पर ही, जब यह त्रिपुर मिल रहे हो, तब सर्वदेवमय कोई देव एक असम्भव रथ मे बैठकर और वह रथ भी सभी उपकरणो से युक्त हो, एक असम्भाव्य काण्ड वाले बाण से हमारे नगरों को बीधे, वह हमारे स्थायी द्वैष न करने वाला हो तथा तपस्वी भी हो। दैत्यो के वे बचन सुनकर ब्रह्मा जी ने उनसे तथास्तु कह दिया और मय को तीनो नगरो के निर्माण की आज्ञा दे दी। उसने असुरो के कथनानुसार नगरो का निर्माण कर दिया। वह त्रिपुरासुर स्वय सुरक्षित रहकर देवताओ को पीडित करना प्रारम्भ किया। त्रिपुरो के तेज से दग्ध इन्द्रादि देव, दुखी हो ब्रह्मा के पास गये। साष्टाग प्रणाम करके, देवताओ ने यथावसर स्वदुख का निवेदन किया। तब ब्रह्मा ने कहा – आप सब उन दैत्यो से भयभीत न होकर शड्कर भगवान के पास जाइये वही कष्टो का निवारण करने मे समर्थ है।

तत्पश्चात् इन्द्रादि सभी देव महेश के स्थान पर पहुँचे। और भगवान शिवजी को साष्टाग प्रणाम कर त्रिपुर के बधार्थ प्रार्थना की। तब शड्कर भगवान् ने कहा -- कि यह त्रिपुराधिप धर्मपूर्वक रहता है। सुरासुरो के द्वारा वे दैत्य अजेय है। वे मेरे भक्त भी है। मै उन्हे कैसे मार सकता हूँ।

तब सभी देव शड्कर भगवान् के पास से निराश होकर विष्णु भगवान् के पास गये। विष्णुजी ने देवताओ से कहा कि सत्य धर्म की स्थिति मे दुख नही हो सकता जैसे कि सूर्य के रहते अन्धकार नही रह सकता। तब देवताओ ने कहा कि आप शीघ्र ही त्रिपुर के विनाश का उपाय कीजिये, एतदर्थ विष्णु भगवान् देवताओ के सहायतार्थ यज्ञ पुरूष का आह्वान् करके त्रिपुरों को नष्ट करने के लिए भेजा परन्तु यज्ञपुरूष पहुँचते ही त्रिपुराधिप के तेज मे शलभवत् भस्मसात् हो गये। शेष यज्ञपुरूषो ने वापस हरि के पास आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया। फिर विष्णु ने सोचा कि मै यत्नपूर्वक दैत्यो को शिव भक्तिहीन बना दूँगा तब शिव उनका नाश कर देगे।

इस प्रकार सोचकर विष्णु ने एक मायावी पुरूष उत्पन्न कर त्रिपुरो को धर्म भ्रष्ट करने के लिए भेजा । विष्णु के द्वारा प्रेरित उस वश्यात्मा ने शीघ्रता से पुर मे प्रवेश किया । उस माया – ऋषि ने तब वहाँ स्वमाया प्रकट की । उस मायावी ने त्रिपुरो के वेद -- धर्म दूर कर दिये ।

तत्पश्चात् सभी देवता पुन शङ्कर भगवान् के पास पहुँचे । शिवजी ने तब स्वीकार किया – मै अधर्मनिष्ठ दैत्यो तथा त्रिपुरो का विनाश करूँगा इसमे सशय नही करना चाहिए । तब विश्वकर्मा ने शिवजी के लिए एक दिव्य रथ बनाया । ब्रह्मा अग्नि उस बाण की शल्य थी । चार वेद उसके चार अश्व थे । विश्व की समस्त वस्तुए उस रथ मे विद्यमान थी । इस प्रकार के रथ पर शिवजी विराजमान हुए । रथ के चलते ही भूमि कॉपने लगी, सकल महीधर डगमगा उठे । शेषनाग कॉप उठे, वे जैसे – तैसे उस समय पृथ्वी का भार धारण कर रहे थे ।

इस प्रकार भगवान् शङ्कर रथाधिरूढ होकर त्रिपुरो को मारने के लिए चल दिये । तब उनके साथ, देवगण भी हल, मूसल– भुशुण्डादि आयुधो को धारण कर चल दिये । पुरत्रय को विनष्ट करने के लिए जाती हुई उस देव सेना की सख्या कौन कर सकता था । इस समग्र जगत को दग्ध करने वाले पिनाकी त्रिपुर को दग्ध करने जा रहे थे ।

तब शीघ्र ही समय पाकर त्रिपुर भी एकी भाव को प्राप्त हुए । त्रिपुरो के एकीभाव को प्राप्त होते ही देवादि–महात्माओ को बडा हर्ष हुआ । शुभ मुहूर्त मे धनुष खीच , ज्या–निर्घोष करते हुए अपना नाम उच्च स्वर से बोलकर असुरो से सम्भाषण करके शिवजी ने उस विकराल बाण को छोडा । उसने त्रिपुरो मे स्थित सभी को जला दिया । जैसे– कल्पान्त के समय मे जगत् के सभी स्थावर–जगम प्रलयाग्नि मे जलकर भस्मसात् हो जाते है , वैसे ही विष्णुमय शर तथा अग्नि शल्य बाण– ज्वाला मे त्रिपुर के बालवृद्ध वनिता जलकर भस्म हो गये । वहाँ जो दैत्य बन्धुओं सहित रूद्र की पूजा

करते थे, वे शिव–भक्त दैत्य शिव भक्ति के प्रभाव से गणत्व को प्राप्त हुए । तब ब्रह्मा हरि, देव, मुनि, किन्नर, गन्धर्व एव मनुष्य आदि सभी शिवजी की प्रशसा का गान करते हुए अपने – अपने धाम को चले गये । गृहो मे पहुँचकर सब परमानन्द को प्राप्त हुए ।[1]

(ड) शिवपुराण की कथावस्तु से परिवर्तन एवं परिवर्धन :–

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य का मूल कथानक "शिवपुराण" मे वर्णित "त्रिपुरदाह" कथानक से लिया गया है । किन्तु उस "त्रिपुरदाह" की सीधी सादी पुरातन कथा को महाकवि मखक ने अपनी प्रतिभा एव मौलिक कल्पना शक्ति के द्वारा अद्वितीय महाकाव्यत्व का स्वरूप प्रदान किया है ।

शिवपुराण मे उल्लिखित "त्रिपुरवृत्तान्त" मे दैत्यो की प्रभा से दग्ध इन्द्रादि देवता परस्पर दुखी हो सर्वप्रथम ब्रह्मा की शरण मे गये, ब्रह्मा जी ने बताया कि शिवजी ही उनका सहार करेगे अत उन्हे शिवजी की स्तुति करनी चाहिए । ब्रह्मा के वचनो से प्रेरित देवता शिवजी के समीप गये, शिव ने उन देवताओ को विष्णु से अपना कष्ट निवेदन करने का सुझाव दिया , तब देवगण विष्णु की शरण मे गये, तत्पश्चात् विष्णु ने "त्रिपुरसहार" के निमित्त देवताओ की अनेक प्रकार से सहायता की तथा अन्त मे शङ्कर भगवान् ने उन त्रिपुरो का सहार किया ।

"त्रिपुरदाह" के इस प्रसग मे अनेको ऐसे प्रसग है जिनका "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे वर्णित "त्रिपुरवध" मे पूर्णतया अभाव है ।

शिवपुराण वर्णित त्रिपुर शिव जी के अनन्य भक्त है उनकी अपने प्रति भक्ति के कारण शिव उनका वध करने में असमर्थता व्यक्त करते हैं, तथा देवताओ से विष्णु

---

1 शि0पु0, रू0 स0 2, प0 अध्याय 1 से 12 तक

के पास जाने का सुझाव देते है ।[1] दैत्य शिव के इतने अधिक भक्त है कि उन्हे शिव भक्ति से विमुख करने के लिए विष्णु को छल का सहारा लेना पडता है । विष्णु अपनी माया द्वारा दैत्यो की शिवभक्ति खण्डित करने के लिए अनेको प्रयत्न करते है । सर्वप्रथम वे देवताओ के कार्य के निमित्त यज्ञो का स्मरण करते है तथा उन उपस्थित यज्ञों से देवताओ को परमेश्वर का यजन करने की आज्ञा देते है । देवताओ द्वारा यज्ञेश की स्तुति पर यज्ञकुण्ड से महाकाया वाले, शूल--शक्ति और गदा हाथ मे लिए सहस्त्रो भूत प्रकट हुए, विष्णु ने उन भूतो को त्रिपुर विदीर्ण करने की आज्ञा दी । किन्तु वे भूत उनकी आज्ञा पूर्ण नही कर पाये तथा त्रिपुर तेज से भस्मीभूत हो गये ।[2]

भूतो के भस्म हो जाने के पश्चात् विष्णु ने अपनी माया से एक महापुरूष उन दैत्यो के धर्म मे विघ्न उपस्थित करने के निमित्त प्रकट किया । विष्णु ने उसको मायामय शास्त्र पढाया तथा उसे अपनी माया से दैत्यो को मोहित करने की आज्ञा दी ।[3] विष्णु की प्रेरणा से उस वशी ने शीघ्र त्रिपुर मे प्रवेश कर माया फैलाई । किन्तु शिवजी के पूजन अर्चन के प्रभाव से सहसा वह माया त्रिपुर मे न चल सकी । तब विष्णु ने नारद जी को स्मरण किया । मायापति भगवान् की आज्ञा से नारद भी उस पुर मे प्रवेश कर उस मायिक से दीक्षित हुए । दीक्षित होकर नारद जी ने त्रिपुरपति के समीप जाकर उसी मायिक से दीक्षित होने के लिए प्रेरित किया । नारद की प्रेरणा से मोहित होकर उस दैत्यपति ने भी दीक्षा प्राप्त की ।[4] दैत्य राज द्वारा दीक्षा प्राप्त करते ही सब त्रिपुरवासी भी उसी धर्म मे दीक्षित हो गये त्रिपुर ने उस मायिक यतीराज के कहने पर अपने यहाँ के लिगाराधन, शिवपूजन तथा सब वेद धर्म दूर कर दिये । तब भगवान् विष्णु कृतार्थ होकर दैत्यो द्वारा शिव भक्ति त्याग का निवेदन करने शिव जी के समीप कैलाश पर्वत गये ।

---

1 मम भक्तास्तु ते दैत्या मया वध्या कथ सुरा ॥
विचार्यता भवद्भिश्च धर्मज्ञैव धर्मत
तावत्ते नैव हंतव्या यावद्भक्तिकृतश्च मे ॥
तथापि विष्णवे देवा निवेद्य कारणत्विदम् ॥
शि0पु0, रू0स0 युद्धखण्ड अध्याय 3/6,7 श्लोक

2 शि0पु0, रू0 सं0 युद्धखण्ड अध्याय 3

3 शि0पु0 रू0स0 युद्धखण्ड अध्याय 4

4 शि0पु0 रू0सं0 युद्धखण्ड अध्याय 5 –श्लोक स0 49–52

उपर्युक्त सम्पूर्ण वृतान्त का "श्रीकण्ठचरितम्" मे वर्णित त्रिपुरकथा मे पूर्णतया अभाव है । महाकवि मखक ने यहाँ पर त्रिपुरो को कही भी शिवभक्त स्वीकार नही किया है । फलस्वरूप तीनो असुरो को धर्मभ्रष्ट करने के लिए किसी मायावी मुनि के उत्पन्न होने और उसके कथानक मे प्रवेश पाने का प्रश्न ही नही उठता । इससे देवो पर भी लॉछ्न हो जाता है कि वह "दैवत्व" स्वशत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए शिवभक्ति जैसे सद्धर्म का भी विघात कर सकता है । महाकवि मखक ने कथानक के इस प्रथम परिवर्तन के द्वारा देवत्व एव शिवभक्ति की रक्षा के साथ–साथ महाकाव्यत्व की भी रक्षा की है । इससे महाकवि मखक की शिवजी के प्रति अगाध भक्ति का परिचय मिलता है जैसा कि उन्होने अपने महाकाव्य मे शिवभक्ति को प्रकट करते हुए शड्कर चरित्र की दासी वाणी की रचना की । [1]

"श्रीकण्ठचरितम्" के समान महाभारत मे भी दैत्यो की असीम शिवभक्ति और उस शिव भक्ति को खण्डित करने के लिए मायापति विष्णु द्वारा किये माया प्रपञ्चो का किचितमात्र भी उल्लेख नहीं मिलता है ।

शिवपुराण मे दैत्यो की भक्ति भग हो जाने के पश्चात् देवताओ द्वारा स्तुति करने पर शरणागतवत्सल शिव ने त्रिपुरवध करने की आज्ञा स्वीकार्य की, उसी समय शिवा देवी अपने पुत्रो सहित उस स्थान मे आई । तब नन्दी, कार्तिकेय और गिरिराज कन्या के साथ सम्पूर्ण देवताओ से स्तुति प्राप्त करते हुए शड्कर भगवान् अपने मन्दिर मे प्रवेश कर गये । सम्पूर्ण देवता महाव्याकुल और व्यग्रमन् होकर उस महाबुद्धि सम्पन्न देवाधिदेव के द्वार मे स्थित रहे । उन व्यग्र देवताओ के अनेक प्रकार के कल–कल शब्द सुनकर महातेजस्वी कुम्भोदर देवताओ को प्रताडित करने लगा जिससे सब देवता हाहाकर करके वहाँ से भाग निकले । देव समाज में बड़ी व्याकुलता छा गई । तब विष्णु ने देवताओ को सान्त्वना देकर "ओम नम शिवाय शुभ कुरू, कुरू शिवाय नम ओम ।"

---

1 "पितृ भारतीविवृतपौष्टिकक्रियाक्रमप्राणभक्तिसहवासिमानस ।
इति स प्रबन्धयति मखको गिर विरचय्य शड्कर चरित्र किकरीम् ॥

श्रीकण्ठ0 3/78

इस मन्त्र से शङ्कर आराधना करने को कहा । विष्णु के सुझाव से सभी देवता पुन शिवोपसना मे तल्लीन हुए । तब साक्षात् शङ्कर ने फिर दर्शन दिया ।[1]

शिवपुराण वर्णित उपर्युक्त वृतान्त का "श्रीकण्ठचरितम्" मे कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।

शिवपुराण से यह स्पष्ट होता है कि त्रिपुर अत्याचारी नही थे और वे शिवभक्ति करते हुए सुख से धर्मपूर्वक राज्य करते थे । इन्द्रादि देव उन त्रिपुरो के तेज से अभिभूत हो गये । अत देवो ने छलबल से त्रिपुर के विनाश का षडयन्त्र रचना प्रारम्भ किया । इसके विपरीत महाकवि मखक ने त्रिपुरो को स्वाभाविक रूप से अत्याचारी ही दिखाया है फलस्वरूप धार्मिक भावना से उनका दमन किया गया ।

शिवपुराण मे देवताओ द्वारा निर्मित अलौकिक रथ पर युद्ध प्रयाण के लिए महाप्रभु सर्वदेवमय भगवान् शङ्कर जब आरूढ हुए उसी समय वेद सम्भव चारो अश्व शिर के बल भूमि पर गिर पडे । तब पृथ्वी को धारण करने वाले वृषरूपी भगवान् धर्म ने स्थित होकर नीचे से क्षणमात्र को रथ उठाया । क्षणमात्र मे वृषेन्द्र भी जघाओ के बल से भूमि पर बैठ गये अतएव रथ पर चढे हुए भगवान् शङ्कर का तेज सहने मे वह भी समर्थ न हुए ।[2] तब ब्रह्मा ने पुन वेदाश्व को उठाकर उस श्रेष्ठ रथ मे नियुक्त किया ।

"श्रीकण्ठचरितम्" मे भगवान् वृषेन्द्र का कोई उल्लेख नही है और न ही अश्वो का गिरने का कोई उल्लेख है । "श्रीकण्ठचरितम्" मे वर्णित दिव्य रथ के घोडे महाभारत अथवा शिवपुराण के समान वेदाश्व नही है अपितु यहाँ तो शिवरथ के लिए स्वय देवताओ

---

1 शि0पु0 रू0सं0 युद्धखण्ड अध्याय 7, श्लोक स0 25–27 ।

2 शि0पु0 रू0 स0 युद्ध खण्ड अध्याय 9, श्लोक स0 8–10

ने ही अश्वभाव को ग्रहण किया है ।[1] शिवपुराण मे "रथबन्धन" की कल्पना विस्तृत होते हुए भी अस्पष्ट तथा नीरस लगती है । परन्तु महाकवि मखक ने साधारण परिवर्तन के द्वारा ही अपनी मौलिक चमत्कार युक्त कल्पना से उसमे चारूत्व उत्पन्न कर दिया है यहाँ पर महाकवि ने "रथबन्धन कल्पना" को सर्वतोभावेन आह्लादिनी बनाया है ।

महाभारत के ही समान शिवपुराण मे भी पाशुपतव्रत का उल्लेख किया गया । शिवपुराण मे शिव युद्ध प्रयाण के समय देवताओ से उनका पशुत्व पृथक्--पृथक् कल्पित करने को कहते है तथा (शिव) को पशुओ का अधिपति स्वीकार करने को कहा ।[2] देवताओ द्वारा शिवजी को पशुपति मान लेने पर शिव पार्वती सहित त्रिपुर को मारने के लिए प्रस्थान करते है ।[3] "श्रीकण्ठचरितम्" मे महाभारत तथा शिवपुराण उल्लिखित पाशुपतव्रत का अभाव है । "श्रीकण्ठचरितम्" मे शिवजी त्रिपुर वध के लिए बिना किसी शर्त के युद्ध क्षेत्र की ओर अकेले ही प्रस्थान करते है, जबकि शिवपुराण एव लिगपुराण[4] मे भगवान् शड्कर पार्वती सहित युद्ध करने जाते है । महाभारत एव मत्स्यपुराण आदि मे त्रिपुरवध के लिए शिवजी के साथ पार्वती के जाने का उल्लेख नही है । "श्रीकण्ठचरितम्" मे पार्वती नायिका प्रत्यक्ष रूप मे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही करती है । पार्वती जी का व्यक्तित्व सर्वत्र शिवजी के व्यक्तित्व से समाच्छन्न है, वे भगवान् शड्कर की आदर्श भारतीय धर्मपत्नी के रूप मे है । वे स्वाधीन भर्तृका [5] एव पद्मिनी मुग्धानायिका[6] के स्वरूप को धारण किये हुए है ।

---

1 "फेनच्छलात्पीतचर मुखेभ्यो भरेण पीयूषमिवोद्गिरन्त ।
शक्र प्रचेता, धनदो यमश्च तस्मिन्धृति धुर्यतया बबन्धु ।।"

श्रीकण्ठ0 20 / 19

2. शि0पु0 रू0 स0 युद्धखण्ड अध्याय 9, श्लोक न0 13,21

3 शि0पु0 रू0 स0, युद्धखण्ड अध्याय 9, श्लोक स0 27

4 लि0 पु0 71/31

5 सा0द0 3/74

6 सा0 द0 3/58

त्रिपुरो की स्थिति मे कुछ परिर्वतन किया गया है । शिवपुराण, महाभारत के कर्णपर्व मे त्रिपुर स्वर्ण – आकाश और भूमि के निवासी है परन्तु महाकवि ने यहाँ पर स्वर्ण आकाश और पाताल का निवासी उन्हे बनाया है ।[1] इससे उनके हैमराजत आयस दुर्गो की सगति सरलता से लग जाती है ।

शिवपुराण मे वर्णित "त्रिपुरवध" मे सम्पूर्ण व्यवस्था हो जाने के पश्चात् जब शिव शर सधान कर त्रिपुर वध के लिए उद्यत हुए तो अगूठे के अग्रभाग मे स्थित हो गणेश जी उसमे विध्न करने लगे । उसी समय आकाशवाणी हुई कि जब तक शिव गणेश पूजन नही करेगे । तब तक त्रिपुरो को नष्ट नही कर सकते । आकाशवाणी सुनकर भगवान् शङ्कर ने भद्रकाली को बुलाकर गणेश का पूजन किया ।[2] पूजन करने पर तीनो पुर एक स्थान मे आकर स्थित हुए । "गणेश–पूजन" का ऐसा कोई प्रसग "श्रीकण्ठचरितम्" तथा महाभारत के "कर्णपर्व" मे उपस्थित नहीं किया गया है ।

शिवपुराण मे त्रिपुरो के प्रतिद्वन्दी सभी देवता है । परन्तु "श्रीकण्ठचरितम्" मे त्रिपुरो के प्रधान प्रतिद्वन्दी और सहारक एक मात्र भगवान् शङ्कर जी है और ब्रह्मा इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, इत्यादि देवो को उपकरण एव सहायक के रूप मे प्रस्तुत किया है ।

शिवपुराण के अनुसार शङ्कर द्वारा छोडे गये अग्नेय बाण से स्थावर-जङ्गम सब कुछ भस्म हो गया, लेकिन अविनाशी विश्वकर्मा मय दैत्य बचा रहा । वह देवताओ का विरोधी न था अत शिव के तेज से रक्षित रहा ।[3] श्रीकण्ठचरितम्" और महाभारत मे त्रिपुरदाह के पश्चात् दानव शिल्पी मय का कोई उल्लेख नही किया गया है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 17/59,60,61

2 शि0पु0 रू0 स0 युद्धखण्ड अध्याय 10 श्लोक स0 4–6

3. शि0पु0 रू0 स0 युद्ध अध्याय 10 श्लोक स0 39–40

"श्रीकण्ठचरितम्" मे त्रिपुरवध को शिवपुराण एव अन्य ग्रन्थो से भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया गया है । प्रस्तुत महाकाव्य मे "त्रिपुरवध" का वृतान्त शिवपुराण तथा महाभारत के समान किसी के मुख से कथा के रूप मे नही कहा गया है । अपितु कथा का प्रारम्भ स्वय गणसभा मे शिव प्रवेश के साथ होता है ।[1]परमेश्वर शिव अपनी सभा मे प्रवेश करते है । जहाँ देवगण पहले से ही शिव दर्शन के लिए उपस्थित है । सभी देवता शङ्कर भगवान् को नमस्कार करते है तत्पश्चात् शङ्कर भगवान् सभी देवताओ से कुशलप्रश्न पूछते है । शङ्कर भगवान् और सभी देवताओ का वार्तालाप आरम्भ होता है । वर्ण्य विषय त्रिपुरवध का इस अनूठे रूप मे प्रारम्भ करके महाकवि मखक ने अपने ग्रन्थ मे कथात्मकता के साथ ही काव्यात्मकता का भी समावेश किया है जो कि प्रशसनीय है ।

शिवपुराण तथा महाभारत के समान "श्रीकण्ठचरितम्" मे देवगण ब्रह्मा और विष्णु की शरण मे नही भटकते अपितु वे अधीर देवता ब्रह्मा, विष्णु एव अन्य देवता सहित परमेश्वर शङ्कर भगवान् की शरण का आश्रय लेने के लिए उनकी सभा मे उपस्थित हो जाते है । भगवान शिव द्वारा उन देवताओ की हत–धैर्य अवस्था का कारण पूछे जाने पर ब्रह्म दुख का कारण निवेदन करते है ।[2] ब्रह्मा द्वारा दैत्यो के अत्याचार का समाचार सुनकर शिवजी के गणो मे क्रोध व्याप्त हो गया । इस प्रसग मे मखक ने शिवगणो के क्रोध का इतना विस्तृत, सहज और मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित किया है ।[3] जो कि शिवपुराण अथवा महाभारत मे उपलब्ध नहीं होता है । गणो के भीषण क्रोध को शिव ने शान्त किया और देवताओ को दैत्यो पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी । देवताओ द्वारा अपनी असमर्थता व्यक्त करने तथा बहुत अनुनय विनय करने पर शिव स्वय ही त्रिपुर सहार करने के लिए तैयार हो गये । और इस निमित्त एक दिव्य रथ का निर्माण करने की आज्ञा दी ।[4]

---

1 व्यग्राणा चतुघटनासु वीक्षमाणो नेत्रान्तैर्वदनममर्त्यमागधानाम् ।
नाथोऽथ प्रमथसभा प्रपद्य तस्यावासीनः शिरसि विलासविष्टरस्य ।। श्रीकण्ठ0 17/9

2. श्रीकण्ठ0 17/17

3 श्रीकण्ठ0 17/46–66

4. श्रीकण्ठ 0 19/41–43

रथादि की व्यवस्था हो जाने के पश्चात् शिवसेना ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया युद्ध प्रयाण के अवसर पर इस प्रसग मे अपने पतियो को छोडने मे असमर्थ गणस्त्रिया की मनोदशा का स्वाभाविक वर्णन[1] इसके जैसा अन्यत्र दुर्लभ है । शिव पुराण मे गण स्त्रियो का कोई वर्णन नही किया गया ।

प्रस्थान की हुई शिव सेना के दैत्य पुरी मे पहुँचने पर दैत्यो का उग्र क्रोध दैत्य स्त्रियो की मनोव्यथा तत्पश्चात् दैत्य – दानवो के परस्पर भीषण युद्ध का सजीव तथा विस्तृत वर्णन है [2] युद्ध वर्णन के इस प्रसग मे देवताओ के साथ– साथ दैत्यो की वीरता का भी चित्रण है । शिवपुराण तथा महाभारत मे युद्ध वर्णन अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे उपलब्ध होता है । वहाँ युद्ध वर्णन के प्रसग मे मात्र शिव जी द्वारा विष्णुमय आग्नेय बाण फेकने का तथा वाणाग्नि मे त्रिपुरो के भस्म होने का वर्णन है । इन ग्रन्थो मे – श्रीकण्ठचरितम् महाकाव्य मे वर्णित देव–दानव युद्ध वर्णन का अभाव है साथ ही दैत्यो की वीरता का भी कोई उल्लेख शिवपुराण मे नही किया गया है ।

भीषण युद्ध के मध्य शिवजी ने विष्णुमय आग्नेय बाण से त्रिपुरो को भस्म कर दिया, और उद्देश्यपूर्ति हो जाने पर अपने निवास स्थान मे पहुँचकर शिवजी ने देवताओ को मुक्त कर दिया ।[3] इस प्रकार "श्रीकण्ठचरितमम्" मे "त्रिपुरवध" कथानक का महाभारत के समान "त्रिपुरदाह" के साथ समापन हो जाता है ।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि "श्रीकण्ठचरितम्" मे उल्लिखित "त्रिपुरवध" का ही विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है । इसमे शिवपुराण वर्णित अवान्तरकथाओ का अभाव है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 21/20–29
2 श्रीकण्ठ0 सर्ग 22, 23
3 श्रीकण्ठ0 सर्ग – 24
4 श्रीकण्ठ0 24/44 – महा0 क0प0 अध्याय 27/41

महाकाव्यागो की पूर्ति करने के लिए महाकवि मखक को इसी "त्रिपुरदाह" कथानक को लेकर बहुत परिवर्तन , परिवर्धन एव विस्तार करना पडा । अन्य महाकवियो की तरह इन्होने भी भगवान शङ्कर प्रधान नायक के निवास स्थान "कैलास" का वर्णन किया है तृतीय सर्ग मे स्वपरिचय दिया । साधारण वसन्त वर्णन से लेकर दोलाक्रीडा, पुष्पावचय, जलक्रीडा , सन्ध्यावर्णन, चन्द्रोदयवर्णन, पानकेलि, एव प्रभात वर्णन आदि बहुत सुन्दर प्रस्तुत किया है ।

सम्पूर्ण महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" की समीक्षा करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि मखक ने बिना कोई विशेष परिवर्तन – परिवर्द्धन के इस कथानक को लेकर महाकाव्यत्व के नियमो का पालन करते हुए स्वकाव्यकौशल के द्वारा इस महाकाव्य को मौलिक स्वरूप प्रदान कर हृदयगम बना दिया है ।

चतुर्थ अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" का पात्र-परिचय- चरित्र चित्रण एवं नायिकादि विश्लेषण

श्रीकण्ठचरितम् का पात्र–परिचय – चरित्र चित्रण एव नायिकादि विश्लेषण –

शिवपुराण की कथा "त्रिपुर दहन" पर आधारित "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे लगभग सभी प्रमुख पात्रो को चित्रित किया गया है । ये विविध पात्र है – शिव, पार्वती त्रिपुरासुर, ब्रह्मा, विष्णु , इन्द्र, वरूण, कुबेर, यम, गणेश कुमार, तण्डु, भृगिरिटी इत्यादि। इनमे से शिव, पार्वती, त्रिपुरासुर, ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला गया है तथा "त्रिपुरदहन" मे इन पात्रो से सम्बन्ध रखने वाली प्राय सभी घटनाओ को इसमे रखने का प्रयास किया गया है । किन्तु अन्य पात्र यथा इन्द्र, वरूण, कुबेर, यम, गणेशकुमार, तण्डु, भृगिरिटी इत्यादि से सम्बन्धित घटनाओ के वर्णन इसमे अत्यल्प है, जिसके कारण इन पात्रो के व्यक्तित्व तथा चरित्र पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पडता है ।

(क) **नायक का स्वरूप :–**

अब सर्वप्रथम यह देखना है कि नायक का स्परूप क्या है, वह किस प्रकार का होना चाहिए । इसका लक्षण कई विद्वानो ने अलग अलग दिया है ।

किसी कथा मे जिन पात्रो का उल्लेखमात्र होता है अथवा जो पात्र कथाप्रवाह को गतिशील करने मे अत्यल्प योगदान देते है, उनमे से कोई पात्र कथा का नायक नही हो सकता है । दुष्ट चरित्र वाले जो पात्र होते है, वे कथाप्रवाह मे सहायक होने पर नायक नही हो सकते, क्योकि वे प्रतिनायक की कोटि मे आते है । नायक ऐसा व्यक्ति होता है, जो अनेक सद्गुणो से युक्त होता है, दुर्गुणो का जिसमे अभाव होता है अथवा अत्यल्प दुर्गुण होते है । जो आदि से लेकर समाप्तिपर्यन्त कथावस्तु मे विद्यमान रहता है, तथा जिसके लिए ही समस्त उद्योग होते है । काव्यशास्त्रियो ने नायक के स्वरूप तथा गुणो का वर्णन इस प्रकार किया है –

"नायक विनीत, मधुर, त्यागी , चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु , प्रसिद्ध वश वाला, स्थिर, युवा, बुद्धि उत्साह स्मृति प्रज्ञा कला तथा मान से

युक्त, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ, और धार्मिक होता है।"[1] तथा

"दानी, पुण्यशाली, कुलीन, दक्ष, लोकप्रिय, तेजस्वी, विदग्ध, शीलवान्, रूप यौवन और उत्साह से युक्त और श्रीमण्डित पुरूष काव्य मे नायक होता है।"[2]

नायकत्व के निर्धारण के सम्बन्ध मे भरतमुनि का स्पष्ट कथन है कि जो आपत्ति या किसी और कष्ट को पाकर पुन अभ्युदय प्राप्त करता हो तथा जिसकी अनेक पुरूषो की तुलना मे मुख्यता हो उसे नायक समझना चाहिए।"[3]

उपर्युक्त कथनो के आधार पर "श्रीकण्ठचरितम्" मे निर्विवादरूप से "शिव" दिव्य नायक सिद्ध होते है। शिव अत्यन्त लोकोपकारी, शूर, क्षमाशील, अपने वचन पर दृढ रहने वाले है। इसके अतिरिक्त काव्य का आधिकारिक इतिवृत्त शिव से ही सम्बद्ध है, इसलिए शिव के चरित से ही कथा को गति मिलती है एव कथा का प्रवाह बना रहता है। शिव से सम्बद्ध, काव्य मे अभिव्याप्त, इतिवृत्त ही यहाँ आधिकारिक इतिवृत्त है। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु के चरित से कथा के बीच बीच मे रोचकता आती है, परन्तु कथा को गति नही प्राप्त होती है। इसलिए वे काव्य मे सर्वप्रमुख पात्र या नायक नही हो सकते अतएव महाकवि मङ्खक ने शिव को लेकर ही कथा का प्रारम्भ किया है, तथा उनको "त्रिपुरदहन" कथा का केन्द्रबिन्दु मानकर सम्पूर्ण कथा लिखी है। इस प्रकार यहाँ शिव को ही नायक के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। और इसीलिए महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" का नामकरण भी इसके नायक "शिव" के नाम पर किया गया है।

---

1 नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष प्रियंवद ।
रक्तलोक शुचिर्वाग्मी रूढवश स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामान समन्वित ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥ – दशरूपक 2/1,2

2 त्यागी कृती कुलीन सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता ॥
– सा0द0 3/30

3 व्यसनी प्राप्य दुख वा युज्यतेऽभ्युदयेन य ।
तथा पुरूषबाहुल्ये प्रधानो नायक स्मृत ॥ नाट्यशास्त्र 34/23

(ख) **नायक के भेद –**

काव्यशास्त्रियो द्वारा नायक के चार मुख्य भेद बताये गये है ।[1] – 1 धीरोदात्त 2 धीरोद्धत 3 धीरललित 4 धीरप्रशान्त । नाट्यशास्त्र के अनुसार देवता धीरोद्धत, राजा धीरललित, सेनापति और मन्त्री धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य धीरप्रशान्त नायक होते है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ नायको के विभिन्न स्वरूपो का औपचारिक रूप से वर्णन कर दिया गया है, क्योंकि परवर्ती लक्षणग्रन्थो दशरूपक साहित्यदर्पण इत्यादि मे धीरप्रशान्त नायक के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के नायको के स्वरूप तथा गुणो का भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है । नाट्यशास्त्र मे देवता को धीरोद्धत कहा गया है ~~जबकि परवर्ती ग्रन्थो मे धीरोद्धत की परिभाषा कहा गया है~~ जबकि परवर्ती ग्रन्थो मे धीरोद्धत की परिभाषा अहड्कारी, चञ्चल, क्रोधी, दर्पयुक्त, माया और कपट मे तत्पर तथा आत्मश्लाघा करने वाले के रूप मे की गई है ।[3] इस प्रकार धीरोद्धत नायक मे अनेक दुर्गुण होते है, किन्तु देवताओं मे दुर्गुणो का अभाव माना जाता है, अत देवता को धीरोद्धत नायक कैसे माना जा सकता है ? जिन महाकाव्यो, नाटको आदि मे देवता नायक है, वहाँ उन्हे धीरोदात्त या धीरप्रशान्त माना गया है, धीरोद्धत नहीं । नाट्यशास्त्र मे राजा को धीरललित

---

1 क) धीरोदात्तो धीरोद्धत स्याद् धीरललितस्तथा ।
धीरप्रशान्त इत्येव चतुर्धा नायक स्मृत ।। अग्निपुराण 337/37,38

ख) धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।।
धीरप्रशान्त काश्चैव नायका परिकीर्तिता । नाट्यशास्त्र 34/18,19

ग) भेदैश्चतुर्धा ल[illegible]द्धतैरयम् । द0रू0 2/3

2 देवा धीरोद्धता ज्ञेया स्युर्धीरललिता नृपाः ।।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणावणिजस्तथा ।। नाट्यशास्त्र 34/19,20

3. क) दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायण ।।
धीरोद्धतस्त्वहड्कारी चलश्चण्डो विकत्थन । दशरूपक 2/5,6

ख) मायापर प्रचण्डश्चपलोऽहड्कारदर्पभूयिष्ठ ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धत कथितः ।। सा0द0 3/33

तथा मन्त्री सेनापति आदि को धीरोदत्त बतलाया गया है । यद्यपि इसमे सन्देह नही है कि राजा धीरललित नायक हो सकता है, किन्तु राजा धीरोदात्त नायक भी अवश्य हो सकता है क्योकि परवर्ती लक्षणकारो ने धीरोदात्त नायक का जो महासत्त्व आदि लक्षण बताया है ।[1] वह अनेक महाकाव्यो नाटको आदि मे नायक भूत राजा के ऊपर पूर्णरूपेण घटित होता है ।[2] अत राजा को केवल धीर ललित कहना उचित नही लगता है । जिन रचनाओ मे राजा धीरललित नायक के रूप मे चित्रित किये जाते है,[3] वहाँ प्राय मन्त्री आदि मे धीरोदात्त के गुण विद्यमान होते है, क्योकि धीरललित नायक का जो लक्षण बतलाया गया है, उसके अनुसार वह चिन्तारहित तथा विभिन्न कलाओ मे आसक्त होता है ।[4] और ऐसा तभी सम्भव है, जब सुयोग्य मन्त्री आदि उसके योग क्षेम की सिद्धि कर दी जाती है ।[5] इस प्रकार के मन्त्री अदि धीरोदात्त के गुणो से युक्त होते है । अत नाट्यशास्त्रकार का मन्त्री आदि को धीरोदात्त कहना असङ्गत नही है, किन्तु राजा को केवल धीरललित बतलाना अनुचित प्रतीत होता है । धीरप्रशान्त नायक के लक्षण के विषय मे नाट्यशास्त्रकार तथा परवर्ती लक्षणकारो मे कोई मतभेद नही है । सभी ने सामान्य गुणो से युक्त द्विजादि को धीरप्रशान्त कहा है ।[6]

---

1 महासत्त्वोऽतिगम्भीर क्षमावानविकत्थन ॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रत । दशरूपक 2/4,5 तथा भावप्रकाशन 4/114

2 द्रष्टव्यम् – रघुवशमहाकाव्यम् अभिज्ञानशाकुन्तलनाटकञ्च ।

3 "रत्नावली" नाटिका का नायक वत्सराज उदयन धीरललित नायक है । उसके राज्य का समस्त भार उसके योग्य सचिव पर है –
"राज्य निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्त समस्तोभर. ।" – रत्नावल्याम्

4 क) निश्चिन्तो धीरललित कलासक्त सुखी मृदु । द0रू0 2/3
ख) निश्चिन्तो मृदुरनिश कलापरो धीरललित स्यात् । सा0द0 3/34

5 सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहित ।
द0रू0 वृत्ति 2/3

6 क) धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ॥ – नाट्यशास्त्र 34/20
ख) सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिक । द0रू0 2/4
ग) सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरशान्त स्यात् – सा0द0 3/34

वस्तुत नाट्यशास्त्र मे नायक के प्रकारो का उल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु उन प्रकारों (धीरोद्धत आदि) की स्पष्ट व्याख्या नही की गई है । वहाँ सामान्य रूप से देवता इत्यादि को धीरोद्धत इत्यादि कह दिया गया है ।

(ग) **धीरोदात्त नायक की विशेषता –**

आचार्य विश्वनाथ ने धीरोदात्त नायक के रूप मे भगवान् रामचन्द्र जी तथा महाराज युधिष्ठिर का उदाहरण दिया है ।[1]

धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है -- "उत्कृष्ट अन्तकरण वाला अत्यन्त गम्भीर क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर, अहभाव को विनय आदि से दबाकर रखने वाला तथा दृढव्रती नायक धीरोदात्त होता है ।[2] यहाँ उत्कृष्ट अन्तकरण (महासत्त्व) का अर्थ है – जिसका अन्तकरण शोक क्रोध आदि से अभिभूत नही होता है । अत धीरोदात्त नायक सुख--दुख इत्यादि द्वन्द्वो को सहन करने मे समर्थ होता है, इसीलिए वह अपनी प्रशसा नही करता है तथा उसका गर्व नम्रता से छिपा होता है । स्वीकृत बात का निर्वाह करने वाला दृढव्रती कहलाता है । स्थिरता रूपी गुण किसी भी प्रकार के नायक मे सामान्य रूप से होता है, किन्तु धीरोदात्त नायक मे यह गुण अन्य नायको की अपेक्षा अधिक होता है, इसीलिए यहाँ विशेष लक्षण (धीरोदात्त–लक्षण) मे "स्थैर्य" का पुन कथन किया गया है । धीरोदात्त नायक मे गाम्भीर्य एव क्षमाशीलता अवश्य होती है । धीरोदात्त तथा धीरोद्धत्त नायको के गुण एक दूसरे के सर्वथा विपरीत होते है । एक मे स्थैर्य एव आत्मश्लाघा न करने का भाव होता है तथा दूसरे मे आत्मश्लाघा का ही भाव होता है तथा एक क्षमाशील होता है तो दुसरा क्रोधी । एक का अहड्.कार विनय

---

1 "तत्र धीरोदात्त यथा – रामयुधिष्ठिरादि ।" सा०द० वृत्ति 3/32

2 क) दशरूपक 2/4,5 तथा भावप्रकाशन 4/114
ख) अविकत्थन. क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्व ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथित ।। – सा०द० 3/32

से ढका होता है, किन्तु दूसरा अत्यन्त अहड्कारी होता है । धीरोदात्त का धीरप्रशान्त से इस प्रकार का विरोध नही होता है, किन्तु इन दोनो के गुणो मे कुछ भिन्नता होती है ।

अस्तु यहॉ पर महाकवि मड्खक के महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे धीरोदात्त दिव्यनायक लोकोपकारी भगवान् शड्कर का विविध गुणो से परिपूर्ण चरित्र प्रस्तुत है

(1) दिव्य नायक शिव –

शिव भक्त महाकवि मड्खक ने "नमस्कार वर्णन" नामक प्रथमसर्ग मे विविध देवताओ का स्तुत्यात्मक मगलाचरण प्रस्तुत किया है । यहॉ सर्वप्रथम भगवान् शिव के तृतीय नेत्र का वहन्यात्मक स्तुति की है । शिव का कामदेव को भस्मीभूत करने वाला तृतीय नेत्राग्नि पुराण प्रसिद्ध है । "श्रीकण्ठचरितम्" के मगलाचरण मे महाकवि ने लोकोपकारी शड्कर भगवान् के तृतीयनेत्राग्नि की स्तुति की है । यही तृतीयनेत्राग्नि कामदेव को क्षणमात्र मे पतगे के समान भस्मीभूत कर देने वाला है । भगवान् खटवाड्गी का वह नेत्रशिखिप्रदीप विजयी हो जिसके निकट किरीटेन्दु की किरणेमात्र उस प्रदीप के परिवेश की शोभा धारण करती है । भगवान् त्रिशूली की वह लोचनपावक आपके पापो को नष्ट करे एव समृद्धि को बढावे कि जो बिना धूम के भी रति के सतत् अश्रुपात का सूत्रधार बन गया । लोक मे वैसे सर्वत्र कार्य–कारण भाव का सम्बन्ध देखा जाता है परन्तु यहॉ पर शिव का नेत्राग्नि निर्धूम लोकोत्तर प्रभावशाली है जो कि काम का वध करके रति के नेत्रो मे अश्रुप्रवाह उत्पन्न कर पति के मृत्यु की सूचना का सूत्रधार बन गया है ।[1]

---

1 जीयात्कृतानड्गपतड्गदाह खटवाड्गिनो नेत्रशिखिप्रदीप ।
यस्यान्तिके शुभदशा निवेशाश्रिय किरीटेन्दुकरा श्रयन्ते ।।
तनोतु भूति दहतादधानि स शूलिनो लोचनपावको व ।
धूमानभिज्ञोऽपि रतेरजस्रमश्रुस्रुतेर्योऽजनि सूत्रधार ।।
श्रीकण्ठ0 1/1,2

भगवान् मृड के भावस्थलीरगतल मे ताण्डवनृत्यकर्ता पावक आपकी रक्षा करे, उस पावक मे ही रतिपति ने अपने शरीर को उन्मालकवत् भस्म कर दिया । शिव का वह नेत्राग्नि आपको सुख प्रदान करे कि जिस ज्वालावलीपल्लवकेलितल्प पर बिना रति के भी कामदेव सो गये ।[1] जो सघन रूप मे भस्म धारण किये है ऐसे शिव भगवान् आपके पापो को विनष्ट करे । शङ्कर अपने शरीर के सभी अङ्गो मे ऐसे सर्पो को मानो कञ्चुक के समान धारण किये है । जो कि अपनी मुक्त को त्याग कर निर्मोकपट्ट हो गये है । [2] जो देव गङ्गा को सार्धचन्द्रा बनाते है, जो ब्रह्म के शिरच्छेदन का हेतु है, जो सर्पो से स्वशरीर को आभूषित किये रहते है । श्लेषार्थ है जो पण्डित गणो को अर्धचन्द्र (धक्का) देते है, जो पुराण कवि के अपमान का कारण है और जो विविध अन्नपानादि से अपने शरीर के पोषण मे ही सदैव लगे रहते है, वे सतत् सेवनीय है ।[3] सर्प समूह जिनका आभूषण है ऐसे शिव के प्रति सुवर्ण वृष्टि करने वाले सफल मेघ, मरूत, आदि प्रणाम करते है , वह नील कण्ठ भगवान को मै "कवि" स्तुति करता हूँ ।[4]

भर्ग की भालभित्ति की सीमान्त शोभा सा स्वाहापति अग्निदेवता आपके पापो को भस्म करे । उसकी ही तापकता के कारण प्रशुष्यमाण किरीटचन्द्र कभी पूर्णता को प्राप्त नही होता । उमापति की वह शराग्नि आपके पापो को क्षीण करे जो वडवाग्नि के समान शत्रुनारियो के नेत्राम्बु से कभी तृप्त नही होती ।[5] शिरस्थ आकाश गङ्गा की तरगो के निनाद के मध्य विद्यमान शेखरचन्द्र की मै "कवि" स्तुति करता हूँ जो कि मानो शिव के द्वारा सिखाये गये उनके अटट्हास का तरगनाद के व्याज से अभ्यास सा कर रहा है । भगवान् शिव के शिर में जो चन्द्र प्रभा युक्त है, जो किरीटचन्द्र

---

1 श्रीकण्ठ0 1/3,4
2 श्रीकण्ठ 0 1/10
3 श्रीकण्ठ0 5/47
4 श्रीकण्ठ0 1/12
5 श्रीकण्ठ0 1/5,6

की कान्ति के प्रवाहित द्रव से उनका शिर गीला है । जिनकी जटाओ से भगीरथी माँ निकली है ऐसे शिव को मै "कवि" नतमस्तक हूँ ।[1] जिनका बाघम्बर सायकाल के ताण्डवनृत्य के समय बाघम्बरोत्थपवन के झोको से उडाये गये शिरगड्गा के जलबिन्दुओ से मुक्त हो, आज भी गजमुक्ताओ से सयुक्त ही दिखता है । सभी देवो मे महादेव के हाथ मे सुधाकलश है । जिनके शिर से तीव्र वेग वाली गड्गा जी प्रवाहित होती है । मुक्ता – विरक्ता जिनके चरणो मे आश्रय लेती है । नगजाशैलपुत्री जिनकी धर्मपत्नी है, जिनके गले सर्पो की माला है ऐसे आश्चर्यकारी मायारूपी महेश्वर को मै "कवि" वर्णित करता हूँ ।[2]

महाकवि मड्खक ने शिव को महादानी के रूप मे भी चित्रित किया है । ऐसे नेत्राग्नि शम्भु की मै स्तुति करता हूँ जो दानी–महादानी है अपनी देह तक दान कर देते है ।[3] सभी देवता जिनकी वन्दना करते है । ऐसे शिव के चरणो की वन्दना शक्र के शिर पर लगे हुए पारिजात पर रहने वाले भ्रमर करते है । इन्द्र जिनके चरणो पर अपना शिर झुकाते है और जो अष्टमीचन्द्र को शोभा के लिए धारण करने वाले है ।[4] जो "विरूपाक्ष" नाम से प्रसिद्ध है । लोकत्रय–गमन समर्थ एक बैल जिनका वाहन है, जो वक्षस्थल मे सूर्य चन्द्र को धारण करने वाले है । वे भगवान् "स्थाणु" आयुध धारण करके हमारे पापो को विनष्ट करे ।[5] जिनके चरणो पर विष्णु ने अपनी वनमाला के पुष्प चढाये तथा स्वकचमेघविद्युत से उन चरणो की नीराजना की । जिन

---

1 श्रीकण्ठ0 1/9,11

2 श्रीकण्ठ0 5/10,13

3 श्रीकण्ठ0 1/13

4 श्रीकण्ठ0 5/1

5 श्रीकण्ठ0 5/25

शिव की पूजा करते समय ब्रह्म द्वारा सब पुष्प समाप्त हो जाने के कारण, बडे क्षोभ के साथ अन्त मे स्वआसन् कमल से भी उनकी पूजा करना चाहते है । भक्तिवश पदमाश्रय चतुर्मुख ब्रह्म ने हर्षपूर्वक शिव की प्रतिदिन वन्दना की ।[1]

मड्खक ने शिव के ताण्डव नृत्य का वर्णन भी किया है । कि नृत्तोत्सव काल मे जिनका दण्डपाद गगनसागर की सेतुमुद्रा का रूप धारण करता है और तारक जिसके स्वेदबिन्दु से लगते है जो अपने शिर पर ब्रह्म के मुण्ड को धारण करते है जो मुण्ड सर्पो की फूत्कार से काला हो रहा है ऐसे अलौकिक शिव है जो ताण्डव नृत्य करते समय अत्यन्त क्षुभित लोल शरीर को धारण करते है । उनके शरीर से उस समय बलात् शुभ्र विभूति चतुर्दिक विकिरित होती रहती है । ऐसा विदित होता है कि मानो त्रिलोक की विपदाओ को दूर हटाकर अब वे शिव शिरोगड्गा का जल जो कि स्वत भी शरीर के तीव्र विक्षेप के कारण कणश विकरित हो रहा है उसके साथ साथ भस्म छिटक रहे है ।[2]

महाकवि मड्खक ने भगवान के हरिहर स्वरूप और नरसिंह रूप का भी चित्रण किया है । कैटभ को जीतने वाले हरिहर स्वरूप का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है । जो भक्तगण गौरी मॉं के चरणो मे नतमस्तक होते है उनके पति शिव के शिर मे गड्गा प्रवाहमान होती है । ऐसे प्रभु अपने भक्त के सकटकाल मे नरसिह का रूप धारण करते है ।[3] ऐसा शिव का लोकोपकारी रूप प्रस्तुत किया है । कवि ने

---

1 श्रीकण्ठ0 5/3,4,11

2 श्रीकण्ठ0 5/18,24,51

3 श्रीकण्ठ0 5/37,38

गौरी माँ से उत्पन्न गणपत भगवान् का भी सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है ।[1] शिव का कल्याणकारी स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वे भला कब किसकी सर्वांगसिद्धि का हेतु नही बनते है जो कि सूर्य के दाँत उखाडने, ब्रह्म के शिरश्छेदन, विष्णु के चक्षूत्पाटन तथा कामदेव के सर्वशरीरनाश मे कारण बनते है । सबको सर्वांगपूर्णसिद्धि प्रदान करते ही है । स्वय शरीर से कपिश, नेत्राग्नि से सदा ही मैत्रीभाव धारण करने वाले तथा सदानुरूद्ध औषधिपति चन्द्र को धारण करने वाला जिन शिव का जटाजूट सर्पो का सुखमय निवास्स्थान है । यहाँ पर विरोधाभास है । बभ्रु, नकुल, शिखिमयूर एव नागदमनी प्रमृति औषधियो का स्वामी चन्द्र भी जिस जटाजूट के द्वारा सदा धारण किया जा रहा है वह जटाजूट सर्पो का भी सुखद निवास स्थान है, यह कितने कौतूहल का विषय है ।[2]

सभी देवता त्रिपुरासुर के अत्याचार से त्रस्त होकर शिव के पास जाकर कष्ट निवारणार्थ उनकी वन्दना करते है । हे उमारमण । स्वचक्षुओ से निद्रा को दूर करो तथा यहाँ नेत्रो मे धामत्रयी सूर्यसोमअग्निरूपा विकास को प्राप्त हो कर सुख का आश्रयस्थली बने । यह आपकी सेवा करने के लिए आए हुए इन्द्रादि देवगण हाथ जोडकर बाहर खडे प्रतीक्षा कर रहे है । हे उग्र । बज्र के द्वारा पीसे गये असख्य गर्वीले असुरो के शिखारत्नो की धूलि से जिस इन्द्र की सहस्रो चक्षुएं भयभीत होती है, देवताओ मे श्रेष्ठ वह इन्द्र आपके सम्मुख शिर नीचा करके शान्त भाव से खडे है । जिसके चरणद्वय पर गिरे हुए देवकेशपाश, उस इन्द्र के पदनखज्योति से शिरोमणि भूषित हो उठते है । जिसके चरणो मे सभी देवता शिर झुकाते है , ऐसे उन इन्द्र पर थोडा दया कीजिए ।[3] एकादशरूद्ररूप मे विभक्त आपको तथा भवानी को (द्वादश – 11 रूद्र + 1 भवानी) एक साथ देखने

---

1 श्रीकण्ठ0 5/29

2 श्रीकण्ठ0 5/52,53

3 श्रीकण्ठ0 16/36,37

के लिए जो द्वादश चक्षुओ को धारण कर रहे है एव जो तारकासुर की स्त्रियो के कुचो पर से कुड्कुम पत्रावली को समाप्त करने वाले है, वे कुमार आपके चक्षुओ की प्रीति को प्राप्त करे । आपके ललाट के मध्य मे जो कुड्कुमतिलक की भाँति शोभित है और जिस नेत्राग्नि ने पञ्चशर की पत्नी रति के शरीर को अलड्करणता से अनभिज्ञ बना दिया है, वह स्वाहापति अग्नि देखिये । दूर पर नतशिर हो गजानन की शुण्डा से निकले हुए जलबिन्दुओ से खिन्न हो रहे है ।[1]

पृथ्वी की भाँति अन्तरिक्ष मे स्वपुष्पक विमान मे लगी स्वर्णघटिका की गमनततिमा के ब्याज से शतश स्वरत्नकलशो को स्थापित करने वाले आपके मित्र कुबेर आपकी सेवा की प्रतीक्षा कर रहे है । स्वभावत ही विकराल भ्रूभगो के कारण भयकर मुख सूर्य पुत्र यम के स्वदण्डपाश के साथ आपके द्वार पर दण्डानति करने पर सब देवगण उस यम को आपका प्रतीहार ही समझ रहे है । आदर के साथ माँ गगा के वारिपूर को शिर पर धारण करके यद्यपि आपने प्रथम से ही इस वरूण का पक्ष ग्रहण कर रखा है तथापि अब यह जलनाथ वरूण आपके दृष्टिपातो से पवित्र होवे ।[2] यह पावकदेव अपनी ज्वालाओ से आपके समस्त गणो को दुखी कर रहे है । परन्तु वे गण भी अपने स्वेदजल से इसके प्रवर तेज को शान्त कर रहे है । देखिये यह विनम्र पवन अपने मित्र अग्नि को दुर ही छोड रहे है । क्योकि उस मित्र अग्नि के सान्निध्य से गौरी को क्लान्ति होगी और इससे पवन द्वारा की जाने वाली आपकी सेवा मे त्रुटि उपस्थित होगी ।[3] देखिये स्वविषाक्त फूत्कारो के द्वारा देवो को अत्यन्त दुख देने वाले भी आपके सर्प देवो के द्वारा सतत् नमस्कार किये जा रहे है ।यद्यपि यह रसातलवासी है, परन्तु आपने इन्हे स्वशिर पर धारण करके देववन्द्य बना दिया है । कही पर देवताओं से तिलक़ित, कही

---

1 श्रीकण्ठ0 16/36,37

2 श्रीकण्ठ0 16/41,42,46

3 श्रीकण्ठ0 16/38,39

पर नागो से विलसित, कही पर गाते हुए किन्नरकुलो से अधिष्ठित और कही सूर्य चन्द्र से शोभित आपका द्वार सम्प्रति तो साक्षात् विश्वरूप ही हो रहा है।[1]

देवसभा मे भगवान् शिव के शीर्षासन पर विराजमान होने पर नन्दी ने देवताओ के आगमन की सूचना दी। देवताओ ने आकर स्वस्वप्रणामाञ्जलि समर्पित की। उस समय इन्द्र आदि देवताओ ने शिव की स्तुति करते हुए कहा – हे देवाधिदेव। सभी हृदयो मे निवास करने के कारण ही आपकी "पुरूष" सज्ञा है। हे त्रिनयन। आपसे छिपा क्या है, आप सब कुछ देखते है। इन वचनो के द्वारा देवताओ ने अपनी विपत्ति की सूचना दे दी। प्रकृति से ही निर्मल आपका स्वरूप गगा जल से मुझे पुनीत करता है। आप प्रभु कारणत्रयस्वरूप है, साथ ही प्रपञ्च से अलग भी है।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ मे महाकवि मङ्खक ने दार्शनिक रूप से शिव का स्वरूप प्रस्तुत किया है। उन्होने जैन, बौद्ध एव वेदान्त आदि का समर्थन एव साख्य दर्शन की आलोचना की है। हे शिव। आपको माया कभी स्पर्श नही कर सकती, इसलिए उपनिषद् और वेदान्त नेति नेति कहकर आपकी स्तुति करते है।[3]

तीनो लोको के पालनहार प्रभु आपको व्यर्थ मे ही लोग तटस्थ कहते है, यदि प्रकृति ही जगत्कर्त्री है, तो हे परमपिता परमात्मा। बिना आपकी दया के वे कैवल्य तो प्राप्त करे। मिथ्या रूप मे महद् आदि मे लोग व्यर्थ ही 'तत्त्व' शब्द को प्रयुक्त करते है। पच्चीसवे भी एक आप ही वास्तविक तत्त्व हो। यहाँ पर मङ्खक ने भगवान् शिव को सर्वस्व स्वीकार करते हुए साख्य दर्शन की आलोचना की है। मङ्खक इतना शिव भक्त हैं कि उन्हे कण–कण मे भगवान् शिव दिखाई देते है। यह त्रैलोक्य

---

1. श्रीकण्ठ० 16/52,56
2. श्रीकण्ठ० 17/14,18,19
3. श्रीकण्ठ० 17/28

तुम्हारे ध्वनि स्परूप का विवर्त है । शून्य रूप से बौद्ध , विश्वात्म रूप मे जैन तथा स्वभावत चार्वाक के द्वारा भी हे शङ्कर । आप ही स्वीकृत हो ।[1]

महाकविकल्पित विविध वस्तुवर्णनो मे दिव्यनायक शिव का व्यावहारिक चरित्र चित्रण प्रस्तुत किया है । वसन्त दोलाक्रीडा " पुष्पावचय– जलक्रीडा एव युद्धस्थल आदि वस्तुवर्णन मे भगवान् शिव का लौकिक स्वरूप प्रस्तुत कर बडा ही मनोहारी व्यावहारिक चित्रण किया है । इन स्थलो मे शिव का धीरोदात्तत्व लोकानुरञ्जक रूप महाकवि मङ्खक ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है ।

षष्ठ सर्ग मे भगवान् शङ्कर जगत्जननी पार्वती के साथ वसन्त की शोभा देखते है । कि शिशिर ऋतु मे पुष्पो के अभाव मे भ्रमरकुल के भोजन का अभाव हो जाता है जैसे ही बसन्त ऋतु आती है वैसे ही पुष्पो का मकरन्दरस अलिकुल को प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हो जाता है ।[2] वसन्त मे खिलते हुए पुष्प, भ्रमर की झकार, कोयल की मीठी ध्वनि, कामदेव का ज्वर आदि का ऐसा वर्णन किया है कि पाठक पढकर उद्वेलित हो जाये ।

शिव पार्वती से कहते है कि हे देवि । नाचते हुए मधुकर तथा केतक के सदृश स्वकटाक्षो से इस वसन्त पर अनुग्रह करो । कामदेव के क्रीडाकृष्णसार मृगो के विहार से यह वनभूमि शबल हो जाये ।[3] देखिये यह पवन आन्दोलित रक्त पुष्प पलाश शोभायमान हो रहा है । विरहिणियो के लिए यह सर्वथा अकाल मुत्यु का हेतु है , क्योकि

---

1 श्रीकण्ठ0 17/20,22

2 श्रीकण्ठ0 6/1

3 श्रीकण्ठ0 7/10

पुष्पगुच्छो के रूप मे यह शतश स्वहतपान्थो का रक्तजीव हो तो धारण कर रहा है । मदसहचरगन्ध का हेतु परिमल विशेष है । मलयानिल मे कामदेव मदमस्त हो जाता है ।[1] चकोराक्षियो के शरीर मे चन्दन के द्वारा अपना स्थान ग्रहण कर लिए जाने के कारण अत्यन्त खिन्न यह कुङ्कुम, पुष्पगुच्छ के रूप मे देखो, विरचितपाश सा प्रतीत हो रहा है । जिस प्रकार वसन्त मे पुष्प खिलते है वैसे ही तरूणी भी अपने रूप से भरपूर होती है ।[2] चन्दन पर्वत की मुखश्वास के समान यह दक्षिण पवन, हे स्मितमुखि । कामदेव की विजय के निमित्त कोयलो के रूप मे, गरूडरत्नशङ्ख को मुखरित कर रहा है । यह दक्षिणपवन से मस्त कोयल की कूक अत्यन्त उद्दीपक है ।[3]

इस प्रकार शिव वर्णित बसन्त की अनुपम सुषमा को देखकर पार्वती अपने मनोविनोद के लिए दोलाक्रीडा की अभिलाषा नन्दी द्वारा शिव से निवेदित की । शिव ने पार्वती का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर कहा – हे चन्द्रमुखि । नन्दी के द्वारा प्रस्तावित दोलाक्रीडा तो अत्यन्त स्पृहणीय है । तुम शीघ्र ही स्वदोलाक्रीडा द्वारा मेरे नेत्रो की अमृत पारणा करो ।[4] हे सुसहतोरू । यह मणिजटिल दोला स्वमणिरश्मिकरो का, तुम्हे आरोहण इच्छुक जानकर सहारा प्रदान कर रही है । देखिये यह दोला तुम्हारे चरणस्पर्श की सम्भावना से आह्लादित पवनचालित स्वर्णपीठ मरीच बाहुओ से अन्तरिक्ष मे नृत्य सा कर रही है वायु से प्रेरित शतश. कनककिकणियो की ध्वनि के व्याज से तुमसे अभ्यर्थना करती हुई इस दोला को अब शीघ्र अनुग्रहीत करो ।[5] मेरे हृदय स्वदोला को स्वर्ग तक बढाओ और मेरी दृष्टियो के साथ–साथ दोला का ऊर्ध्वाध गमन करो कि जिससे तुम्हारे कण्ठ की

---

1 श्रीकण्ठ0 7/20,21
2 श्रीकण्ठ0 7/16,18
3 श्रीकण्ठ0 7/22
4 श्रीकण्ठ0 7/54
5 श्रीकण्ठ0 7/58–60

मुक्ताओ के द्वारा आकाश मे एक नवीन ही तारकसृष्टि उत्पन्न हो जाये । उस दोलन से उत्पन्न ध्वनि का वर्णन बडा ही रोचक किया है । श्रमजात तुम्हारी दीर्घ–दीर्घतर निश्वासो से और नुपूर से उत्पन्न ध्वनि एक क्षण मे अन्तरिक्ष तक गूँज जाती है ।[1]

महाकवि मखक ने सप्तम सर्ग मे शिव और पार्वती का दोलाक्रीडा प्रस्तुत कर नवमसर्ग मे जलक्रीडा का वर्णन किया है । इसमे उनका दाम्पत्यप्रेमप्रकर्षातिशय प्रकट हुआ है । बाघम्बर धारी भगवान् शड्कर अपनी पार्वती की प्रत्येक इच्छा स्नेहपूर्वक पूरी करते है । तभी तो उनका पत्नी प्रेम अत्यन्त स्पृहणीय होकर निखर उठा है । जहॉ महाकवि कालिदास ने "कुमारसम्भवम्" मे शिव–पार्वती जैसे दिव्य दम्पत्ति के रूप तथा स्नेह का अश्लील वर्णन किया है इसीलिए अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलकारिको के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है , वहीं मखक ने इस दिव्य दम्पत्ति का प्रेम मर्यादित एव औचित्यपूर्ण ढग से प्रस्तुत किया है । महाकवि मखक ने जलकेलि वर्णन बहुत ही सुन्दर एव कलात्मक रूप मे प्रस्तुत किया है ।

अचलराजकन्या के साथ–साथ स्वय भगवान् शिव ने जलकेलि कुतूहल से पूर्ण हो आकर मानसरोवर के पुलिन को सुशोभित किया । नेत्राग्नि ज्वालाओ के प्रतिफलन से पीतजलवाले मानसर को, जो जलक्रीडा के लिए सजाये हुए सुमेरू पर्वत के सदृश शोभित था , चूडा चन्द्र को धारण करते हुए भगवान् शिव ने पार्वती के साथ निमज्जन करके, पवित्रता प्रदान की । उस सर की प्रसन्नता का द्योतक विपुल शुभ्रफेन छा गया । उस शुभ्रफेनपुष्पोत्कर को तरगबाहुओ से बिखेरकर उसने शिव की पूजा की और हरित वर्णा लहरियो के हरिन्मणिककणो को भेट के रूप मे पार्वती को सादर अर्पित किया ।[2]

देवसभा मे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, वरूण, कुबेर, यम, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि सभी उपस्थित है । और दिव्यतम् नायक भगवान् शिव शीर्षासन पर विराजमान है

1. श्रीकण्ठ0 7/55–57
2 श्रीकण्ठ0 9/45,50,51

शिव अपनी महिमा मे सर्वथा पूर्ण है वही अक्षर है वही सबके जनक परमेश्वर का प्रार्थनीय स्वरूप है। शिव अपने अर्थ के अनुरूप सदा ही सबके लिए कल्याणकारी है। चराचर जगत् के कल्याण मे वे इतना तन्मय रहते है कि न उन्हे तन की चिन्ता और न मन की, न भूख –प्यास का ध्यान, न वस्त्र की चाह और न वाहन की अभिलाषा। तन पर वस्त्रो की जगह लिपटे हुए साँप, शरीर पर भस्म, गले मे ककाल, निवास के लिए श्मशान, कितना रहस्यपूर्ण है यह विरोधाभास। इतना ही नही शिव नारीश्वर होकर भी काम विजेता, ग्रहस्थ होते हुए भी भोग सुविधा से परे तपस्वी समाधिस्थ, भयकर विषधर और शीतल चन्द्रमा दोनो उनके शरीर की शोभा मस्तक मे प्रलयकालीन अग्नि, सिर पर हिमशीतल गड्गा का श्रृड्गार। ऐसा अद्भुत समन्वय जिसके जीवन मे हो वही निन्दा और स्तुति के विष को पचाकर अमरत्व लाभ कर सकता है। पीने को तो बहुत से लोग विभिन्न कारणो से विष पी लेते है, परन्तु वे लोग अपना ही विनाश करते है। विष पीने की सच्ची महिमा तो तब है जब कि वह कण्ठ से नीचे जाकर हृदय को विषैला न बनाये और न वाणी द्वारा विष का वमन करे – शिव के विषपान का यही रहस्य है समष्टि का हित और समष्टि का कल्याण। इसी पर महाकवि मखक ने स्वग्रन्थ का नाम "श्रीकण्ठचरितम्" रखा। जो अन्दर है और जो बाहर है, वही बाहर है वही अन्दर है ये तो घट–घट वासी है। जबकि विष्णु आदि सभी देवताओ को यहाँ पर मखक ने निस्तेज रूप मे दिखाया है। इन्द्र आदि सभी देवो ने क्रमश शिव के चरणो मे साष्टाग प्रणाम किया। भगवान् आशुतोष उनकी श्रद्धाभक्ति से अत्यन्त तुष्ट है। शिव ने क्रमश प्रत्येक देवता की प्रशसा करके उनकी विपत्ति पूँछकर धैर्य बन्धवाया। ब्रह्मा आदि देवो ने सर्वप्रथम मिलकर शिव की स्तुति की तत्पश्चात् ब्रह्मा ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए, त्रिपुर को दिये गये अपने वरदान तथा त्रिपुरो के अत्याचारो से विनष्ट प्राय देवो के दुख वर्णित किये। शिव ने तत्काल त्रिपुरवध को अड्गीकार कर लिया और एक चक्रवर्ती सम्राट की भाँति अनुकूल रणसज्जा का आदेश प्रदान किया।

"श्रीकण्ठचरितम्" मे भगवान् शिव अपने दिव्य गुणो के साथ पूर्णरूप मे केवल 17वे सर्ग की इस देवसभा मे निबद्ध हुए है , अन्यत्र वे परोक्ष रूप में वर्णित है। युद्ध

मे भी भगवान् शिव मात्र दो बार दर्शन देते है । भृकुटिमात्र से कामदहन के समान ही, पल भर मे शर--सन्धान कर त्रिपुर को भस्मसात कर देते है ।

स्फटिक पत्थर की प्राकृतिक भूमि पर प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब के स्वाभाविक पीठासनो, जिन पीठासनो मे स्वाभाविक कैलासपर्वत से उत्पन्न विविध माणिक्य आदि जडे हुए थे, इसके साथ कैलासहिमश्वेतिमावितान के साथ–साथ शेखरचन्द्ररश्मिपुञ्ज के द्विगुण वितानजाली, यत्र--तत्र प्रविष्ट सूर्यरश्मिदण्डो से द्विगुणित स्वर्णदण्डो से शोभित, शिरस्थ द्युगङ्गा की तरगो के कल–कल बन्दिगायन से मण्डित, शोभाकृष्ट इन्द्र आदि देवो के भ्रशप्राप्त मुकुट–रत्नो के अनुपम पुष्पो से सुसज्जित एव कार्तिकेय के वाहन मयूरो के वर्हचमरो से उपवीज्यमान सभा मे प्रात सन्ध्याकर्म को पूर्ण करके, "सन्ध्या सपत्नी के सम्भाषण आदि से सशकित " गौरी के द्वारा ईष्याकटाक्षो से वीक्ष्यमाण तथा त्रिपुर वधूजनो के लीलाकस्तूरिकापक के नाशक शिव ने प्रवेश किया ।[1]

चाटुकारिता मे व्यग्रता के साथ तल्लीन देव बन्दियो के मुखो पर दृष्टि डालते हुए शिव उस देवसभा मे शीर्षासन पर विराजमान हुए । मरकतमणिमय आसन की उच्छरित किरणो से आप्लुत कामारि का अभिनव भस्माच्छादित भी शरीर स्वकण्ठनीलिमा के ही सादृश्य को प्राप्त हो रहा था । चामरवाहिनियॉ धीरे–धीरे ही चमर डुला रही थी, उन्हे सन्देह था कि कही वेग से चामर व्यजन करने से अनवसर ही नेत्राग्नि प्रदीप्त न हो जाये ।[2]

अत्यन्त शान्ति से धीरे–धीरे प्रवेश करने वाले विनम्र देवगणो के आगमन की सूचना नन्दी ने भगवान् शिव को दी । देवो ने बडी विनम्रता के साथ शिवचरणो मे साष्टाग

---

1 श्रीकण्ठ0 17/1–4

2 श्रीकण्ठ0 17/9,10,12

प्रणाम किया । पुरारि की नेत्राग्नि से ताप और शेखरचन्द्र से शीत का अनुभव एक साथ ही देवो को हुआ । अपनी अपनी योग्यता के अनुसार आसन ग्रहण कर लेने के पश्चात् इन्दुशेखर के द्वारा कुशलक्षेम पूँछे जाने पर इन्द्र आदि देवो ने सुधासिक्त मधुर पदो मे शिव की स्तुति की ।[1]

स्तुतिमुखर देवो पर कृपा रस की अजस्त्र वर्षा करते हुए भगवान् चन्द्रशेखर ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया । मेरे सानिध्य को प्राप्त होने वाले आप देवो की अधैर्ययुक्त भक्ति पूजा आदि किसी बडे भारी विप्लव की सूचना दे रही, क्योकि आप सबके मुख प्रातकाल के निस्तेज चन्द्रमा की साम्यता कर रहे है । ब्रह्मा का चित्त विशेष रूप से विक्षिप्त हो रहा है । विष्णु का सुदर्शन चक्र निष्प्रभाव हो रहा है । जिन इन्द्र की सहस्त्र पद्म चक्षओ मे निवास करने वाली श्रीपद्माकर का स्मरण नही करती थी वह इन्द्र निमीलितेन्द्रिय हो रहा है । अत्यन्त क्षीण भी पवन दीर्घ निश्वासो के कारण पुनरपि चचल तथा पीवर हो रहा है । अपने तेज एव तैक्षण्य को खोकर सूर्य का यह पाण्डु मण्डल दिन मे भी चक्रवातो को रात्रि की शका उत्पन्न कर रहा है । अग्नि का तेज तो सर्वथा सत्त्वहीन हो रहा है । अस्तगामी सूर्य के तेज से तेजस्विता प्राप्त करने वाले वरूण की दृष्टि स्पष्ट ही सजल दिखाई दे रही है , अन्य सब देवो का पूर्ण तेज उनकी अपनी निश्वासो से दीप सा बुझा जा रहा है ।[2]

भगवान् शिव के द्वारा इस प्रकार व्यवहृत होकर चित्त का स्वास्थ्य लाभ करके देवो ने त्रिपुरारी को देखकर पुन् अपना मुख नीचा कर लिया । तब ब्रह्मा ने एक अपराधी की भाँति त्रिपुर को अपने द्वारा वर प्रदान आदि का निवेदन किया और विपत्ति का वर्णन करते हुए कहा – हे त्रिनयन । अधिक क्या कहे , त्रिपुर स्वबन्धुओ को पकड ले गये है । वे अपनी निश्वासो से स्वचालित चामरो की वायु को, असुरो की प्रीत्यर्थ द्विगुण

---

1 श्रीकण्ठ० 17/14–17

2 श्रीकण्ठ० 17/34–44

कर रही है । सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्ग को निवीर्य समझकर वे दैत्य अब शीघ्र ही हमारा मूलोच्छेदन कर देगे ।[1]

उपर्युक्त देवविपत्ति को सुनकर शिव के गणो को सर्वथा क्रोधावेश आ गया वे अनेक रौद्र भावो से पूर्ण हो गये ।

तब परम्–धैर्य देने वाले भगवान् शिव ने अपने दाहिने हाथ को उठाकर प्रमथो के कोप–कोलाहल को शान्त कर दिया । शिर सिन्धु शीतल प्रभावो से उनके सम्पूर्ण क्रोधाग्नि का शमन कर दिया । सूर्येन्दुवहिन रूप नेत्रत्रय तेज को देवो के ऊपर फेकते हुए उनमे तेज का सञ्चार किया । मेघ सा गम्भीर नाद करते हुए शिव इस प्रकार बोले – आप लोगो के वदनो से सूच्यमान यह क्या दैन्य भाव आपके हृदयो मे समाया हुआ है । मात्र शाप से दैत्यो को भस्म कर देने मे समर्थ ब्रह्मा के होते हुए यह त्रिपुर विपत्ति कितनी देर तक ठहर सकती है । फेनमात्र से ही वृत्रासुर का नाश करने वाले इन्द्र देवता क्यो नही शत्रुओ का नाश कर डालते । विष्णु का धनुष शत्रु स्त्रियो का भ्रूलास्य और खड्ग नन्दक उन चक्षुओ का अन्जन कैसे सहन कर रहा है । ब्रह्मा का मुख सामवेद विशेष, ऐरावत का दान मदजल विशेष, और यम का दण्ड लगुड विशेष शत्रुओ मे भेद अभेद उपाय विशेष को दृढ करे । ब्रह्मा , इन्द्र आदि देव असुरो का साम–दाम–दण्ड भेद से विनाश कर दे । फिर जिसकी दिशा मे सूर्य का भी तेज क्षीण पड जाता है, वह दक्षिणपति वरूण भला किसके द्वारा सह्य है । हे देवो । यद्यपि आप लोगो ने स्वय ही दैत्यो का अब तक नाश किया है तथापि इस समय आप लोगो के बल–वीर्य को हमारा तेज भी सहस्र गुण बनाये ।[2]

---

1 श्रीकण्ठ0 17/66

2 श्रीकण्ठ0 19/9–16,20,22,25,26

शिव की उपर्युक्त वाणी को सुनकर सन्तुष्ट देवो ने पुन निवेदन किया कि हे भगवान् ! हमारा तेज आपके द्वारा ही प्रदत्त है, परन्तु हमारे तेज को उन त्रिपुरो ने सर्वथा व्यर्थ कर दिया है । और अब हम लोग आपके विशेष तेज को धारण करने मे भी समर्थ नही है , एतदर्थ उन त्रिपुरो का तो आप स्वय सहार कीजिए । दीपक रोदसी के अन्धकार को नष्ट करने का साहस नहीं किया करता ।[1] शिव ने त्रिपुरवध स्वीकार कर लिया सुसारथीयुक्त और मेरे भार को सह सकने मे समर्थ कैलाश के समान रथ मेरे लिए उपस्थित करो । उस रथ पर स्थित हो मेरा बीरत्व शत्रु भ्रू विलास का शामक हो ।[2] भगवान् शिव की इस वाणी को सुनकर देवो का मुख पुन अग्नि के तेज के समान प्रदीप्त हो उठा । प्रसन्नता से भरकर देवाङ्गनाऐ कोलाहल करने लगी । उस कोलाहल के प्रतिध्वनि के व्याज से कैलाश ने भी मानो शङ्ख ध्वनि की ।[3]

महाकवि मखक ने भगवान् शिव का रौद्र रूप चौबीसवे सर्ग मे चित्रित किया है । युद्ध प्रदेश क्रीडा-ग्रह की स्थिति को प्राप्त हो गया , उसका बडा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है । प्रलय के देवता शिव यदि चिर काल तक कही अपना भैरव स्वरूप व्यक्त करे तो अकल्पनीय सहार का दृश्य उपस्थित हो जाये । यही कारण है कि युद्ध स्थल मे भगवान् रूद्र के महाकाल स्वरूप का दर्शन क्षणमात्र के लिए ही होता है । विवृद्ध शत्रुत्व के वशीभूत हो त्रिपुरों के एकत्र स्थित होने पर देवो ने उनके वैर भाव को समझते हुए शिव की रहस्यपूर्ण दृष्टियो को पुन-पुन. देखा । तीनो लोको की दैत्य व्याधि को शान्त करने वाले उन महारूद्र ने नाचती हुई भ्रकुटि के समान चचल वक्र धनुष पर, उसी भृकुटि से देदीप्यमान ललाट-ज्वाल मालाओ से प्रदीप्त अग्निशर को सघनित किया। उन्मुक्त बाण मे एक से अनेक होते हुए, यमराज की ज्वाला-जिह्वाओ के समान, उन

---

1 श्रीकण्ठ0 19/27-30

2 श्रीकण्ठ0 19/41-43

3 श्रीकण्ठ0 19/46-47

तीनो दैत्यो को एक साथ ही ग्रसित कर लिया ।[1] तीनो दैत्य बाण से निकली हुई अग्नि से तत्काल ही भस्मीभूत हो गये उनके शरीरो की भस्म आकाश मे छा गयी ।

त्रिभुवन गुरू शङ्कर ने उस लोकत्रय व्याधि को नष्ट करके अपने रूद्र स्वरूप को प्रकट किया । श्रेष्ठजन खलजनो को नष्ट करने के लिए क्षणिक ही विक्रिया को धारण किया करते है ।[2] असख्य स्तुतियो का आस्वादन करते हुए भगवान् शिव ने, चरणानति करते हुए देवताओ को प्रीतिपूर्ण चक्षुओ से देखकर उन लोगो को अपने-अपने ग्रहो को प्रस्थान करने की आज्ञा दी । स्वय भी नन्दी पर सवार होकर पार्वती सहित कैलास पर्वत की ओर चल दिये ।[3]

महाकवि मखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" मे भगवान् शिव को दिव्य नायक के सभी गुणों से परिपूर्ण दिखाया है। वे परम् उदार, सतत उपकार रत्, शरणागतवत्सल एव दूसरो के दुखो को हरने वाले, महादानी है, वह अनादि एव अनन्त है, उनकी महिमा अगोचर है वे देवाधिदेव महादेव है ।

॥॥ नायिका पार्वती :-

महाकवि मखक ने पार्वती का भगवान् शिव की अर्धाङ्गिनी के रूप मे स्तुत्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है , न कि उनका शक्ति एव दुर्गा के रूप मे चित्रण किया है । और व्यावहारिक वर्णन मे वे सदैव परोक्ष रूप से ही वर्णित है । कही भी वे प्रत्यक्ष रूप मे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही करती हैं। पार्वती का व्यक्तित्व सर्वत्र शिव के व्यक्तित्व से समाच्छन्न है । उनमे स्वतन्त्रता की भावना लेशमात्र भी नही है । वे भगवान् शिव की आदर्श भारतीय धर्मपत्नी के रूप मे है । मखक ने यहॉं पर उमा भवानी के पिता

---

1 श्रीकण्ठ0 24/4,6-7,11

2 श्रीकण्ठ0 24/38

3. श्रीकण्ठ0 24/44

दक्ष के द्वारा सम्पादित यज्ञ का वर्णन किया है । जिसमे पार्वती के पति शिव को नही शामिल किया था और दक्ष ने सभी देवताओ को शामिल किया था । जब माँ पार्वती शिव की आज्ञा लेकर वहाँ गयी और अपने पति का अपमान देखकर वही सती हो गयी । इस प्रकार दक्ष के यज्ञ का अन्त अश्रुपूर्ण स्नान से हुआ ।[1]

साथ ही साथ नायिका पार्वती स्वाधीनभर्तृका [2] एव पद्मिनी मुग्धानायिका [3] के स्वरूप को भी धारण किये हुए है ।

भगवती पार्वती का मुख, चन्द्र का और उनकी दन्तज्योत्स्ना, प्रसिद्ध चन्द्रिका का तिरस्कार करती है । क्योकि चन्द्रमा कलकयुक्त है जबकि पार्वती का मुखमण्डल निष्कलक है और दाँतो की धवलिमा का कहना ही क्या? भगवती पार्वती सिहाधिरूढ है। और वह सिह से डरती है । एतादृश सर्वथा निष्कलक माँ पार्वती का वदनेन्दुबिम्ब तुम्हारी रक्षा करे । नृत्य आरम्भ मे प्रोद्धत चण्डिका का दण्डपाद , ससार के दण्डपादो को नष्ट करते हुए, आपकी सदैव रक्षा करे । उसके सामने ज्योत्स्ना तो उसका कोटि अश भी नही प्रतीत होती अर्थात् पार्वती का वर्ण ज्योत्स्ना से कई गुना अधिक चमकीला है [4] आकाशस्थल को द्विचन्द्रमय बनाता हुआ पार्वती का पानपात्र आपको यश प्रदान करे । उनके जूडो के सर्पो की मणियो की चमक ही उस प्याले मे मद्य–सी प्रतीत होती है ।[5]

---

1 श्रीकण्ठ0 5/17

2 कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ।। सा0द0 3/74

3 प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ।।

सा0द0 3/58

4. श्रीकण्ठ0 1/18,19

5 श्रीकण्ठ0 1/20

ताण्डवनृत्त्य करते समय ब्रह्माण्ड के भी ऊपर पहुँचने वाला पार्वती का दण्डपाद श्रेष्ठजनो को प्रिय हो । उनके नूपुरो की ध्वनि से आकृष्ट होकर ब्रह्मा के वाहन हस ब्रह्मा को समाधि से विचलित कर देते है । भयकर नखो वाले हुकारी सिह पर स्थित पार्वती के सुन्दर मुख की हम वन्दना करते है । उस मुखलावण्य का किचित्मात्र लाभ प्राप्त करने के लिए चन्द्रमा अवश्य उस मुख की सेवा करता, यदि उसे अपने शश का भय न होता ।[1] चन्द्रमा का शश, पार्वती के सिह से भयभीत है, उस शश भय के उपरोध से चन्द्रमा पार्वती के सलावण्य मुख की सेवा से विरत हो जाता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" के "साधारण वसन्तवर्णन" नामक षष्ठ सर्ग मे भगवती पार्वती का व्यावहारिक रूप मे चित्रण किया गया है । दिव्य नायक चन्द्रशेखर के साथ दिव्य नायिका भगवती पार्वती कैलास की बसन्त शोभा देखने के लिए निकलती है । भगवान शिव वसन्त की शोभा का मधुर वर्णन करते है और पार्वती अन्यमनस्क होकर सुनती रहती है । तत्पश्चात् नन्दी भी बसन्तश्री का भव्य वर्णन करते है । साथ ही नन्दी पार्वती की दोलाक्रीडा की अभिलाषा को शिव से निवेदित करते है । तब भगवान् शिव ने पार्वती के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करके कहा – हे चन्द्रमुखि । नन्दी की यह उक्ति सर्वथा प्रासङ्गिक है । आप शीघ्र ही दोलाक्रीडा द्वारा मेरी नेत्रो को अमृत पारणा प्राप्त कराओ ।[2] शिव के बारम्बार प्रेमानुनय करने पर पार्वती दोलाक्रीडा करती है और बहुत देर तक दोलाक्रीडा से मन बहलाती है । जब भगवती पार्वती दोलाक्रीडा से थक जाती हैं । तब शिव उन्हे अपनी बाहु का सहारा देकर उतारते है और बाहु के सहारे -- सहारे विश्राम कुटिया तक पहुँचाते है । विश्राम के पश्चात् भगवती पार्वती कुसुमावचय

---

1. श्रीकण्ठ0 1/46,47

2 श्रीकण्ठ0 7/54

करती है, तत्पश्चात् वह शिव के साथ मानसरोवर मे जलक्रीडा का आनन्द लेती है । जलक्रीडा के बाद वह दिव्य दम्पत्ति रात्रि मे विश्राम हेतु पुन अपनी कुटिया मे चले जाते है । इसके पश्चात् दिव्य नायिका भगवती पार्वती के कही भी प्रत्यक्ष दर्शन नही होते है ।

(III) प्रतिनायक त्रिपुरासुर –

आचार्य धनञ्जय ने प्रतिनायक के स्वरूप को इस प्रकार चित्रित किया है – "लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध या कठोर, पाप करने वाला तथा व्यसनी व्यक्ति, प्रधान नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है ।[1]

कविराज विश्वनाथ ने भी स्वग्रन्थ साहित्यदर्पण मे प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है -- धीरोद्धत, पापी और काम क्रोधादि से उत्पन्न व्यसनो मे फॅसा हुआ पुरूष "प्रतिनायक" कहलाता है ।[2] धीरोद्धत नायक अत्यन्त मायावी, प्रचण्ड, चपल , घमण्डी, शूर अपनी आत्मश्लाघा मे सदैव निरत रहने वाला होता है ।[3]

प्रतिनायक अपने उद्धत्यपूर्ण क्रिया कलापो से प्रधान नायक के अभीष्ट कर्मों मे विघ्न उपस्थित करता है । प्रधान नायक के प्रतिकूल आचरण करने वाला "प्रतिनायक" होता है । प्रतिनायक अपनी प्रशसा के पुल बॉधने वाला, निरन्तर कपट मे निरत रहने वाला, अहकारी , पापाचार मे तत्पर, आदि दोषो से युक्त होता है । प्रतिनायक स्वप्न मे भी प्रधान नायक का उत्कर्ष और सुख सहन नही कर सकता है । प्रतिनायक के

---

1 "लुब्धो धीरोद्धत स्तब्ध पापकृद्व्यसनी रिपु ।।" द0रू0 2/9

2 "धीरोद्धत पापकारी व्यसनी प्रतिनायक "– सा0द0 3/131

3 "मायापर प्रचण्डश्चपलोऽहकारदर्पभूयिष्ठ " ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धत कथित ।।" सा0द0 3/33

चरित्र का साक्षात् निबन्धन काव्य मे प्राणप्रतिष्ठा का एक प्रधान स्तम्भ बन जाता है । और सबसे प्रमुख बात तो यह है कि प्रतिनायक के जीवन वृत्त तुलना से ही प्रधान नायक के चरित्रवृत्त मे निखार आता है ।

उचित तो यही रहता है कि प्रतिनायक के अत्याचार आदि से किसी महाकाव्य का प्रारम्भ करके उसके निधन से ही महाकाव्य का समापन् किया जाय । परन्तु सस्कृत महाकाव्य परम्परा उसे बीज से प्रारम्भ करती है ।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" नामक महाकाव्य मे त्रिपुरासुर का प्रतिनायकत्व वर्णित है तीन पुरो मे अलग–अलग रहते हुए तीनो असुर तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली, यें तीनो बन्धु त्रिपुरासुर के नाम से सुविख्यात हुए । हैम, राजत, और आयस दुर्ग वाले आकाश, पृथ्वी, तथा पाताल के तीन पृथक पृथक पुरो मे निवास करने के कारण वे "त्रिपुर" नाम से सम्बोधित किए गये । ब्रह्मा से उन्होने वरदान पाया था कि उनकी मृत्यु शत्रु के एक ही बाण से एक ही साथ होगी । इन्हे विश्वास था हम लोग अलग अलग पुरो मे निवास करेगे तो कोई भी शत्रु उन्हे एक ही बाण से नही मार पायेगा । भगवान शिव के पुत्र स्कन्द के द्वारा तारकासुर का वध हो जाने पर तारक के ये तीनो पुत्र ब्रह्मा का कठोर तप करके उन्हे प्रसन्न करते है और ब्रह्मा से अमरत्व के लिए याचना करते है परन्तु वे अमरत्व के लिए मना कर देते है , तब त्रिपुरो ने आकाश, पृथ्वी तथा पाताल मे स्वनिवासो की मन्त्रणा करके एक बाण से एक कालिक मृत्यु का वरदान माँगा । ब्रह्मा ने अन्त मे त्रिपुरत्व साधक वरदान के प्रति एवमस्तु कह ही दिया ।

चतुर्मुख ब्रह्मा के आदेशानुसार विश्वकर्मा के पुत्र "मय" नामक शिल्पी ने तीन पुरो का निर्माण किया । तब तीनो असुर "त्रिपुरो" मे अलग अलग मृत्यु के भय

---

1. अल्पमात्र समुदिष्ट बहुधा यद्विसर्पति ।

से निडर होकर निवास करने लगे । अब ये त्रिपुरासुर अपनी राक्षसी प्रवृत्ति से कई सहस्त्र वर्षो तक देवो को दुख देते रहे । वैसे त्रिपुर और सैनिको के अत्याचारो का वर्णन साक्षात तो नही है । यहाँ तक कि पीडित देव स्वय भी स्वदुखो को नही कहते है असुरो से त्रस्त देव ब्रह्मा के साथ देवाधिदेव भगवान् शिव के पास गये । वहाँ शिव से देवो के दुख निवारणार्थ उन त्रिपुरो को भस्मीभूत करने की प्रार्थना की । त्रिपुरो से सम्बन्धित यह चरित्र "परमेश्वरदेवसमागम्" नामक सत्रहवे सर्ग मे पूर्वपीठिका के रूप मे शिव के समक्ष श्रुतिकवि ब्रह्मा ने ससूच्यशैली मे प्रस्तुत किया । अर्थात त्रिपुरासुर का तपोवर्णन, ब्रह्मा द्वारा वर प्रदान, वरग्रहण कर असुरो द्वारा देवो का उत्पीडन आदि उनका चरित्र अर्थवाद रूप मे उपस्थित हुआ है न कि यथातथ्य रूप मे विद्यमान है । देवो के प्रति असुरो द्वारा किये गये अत्याचारो की धुँधली सी स्मृतिमात्र है । यहाँ तीनो असुरो का अलग चित्रण नही किया गया अपितु एक साथ ही उनका चरित्र दिखाया गया है ।

"दैत्यपुरीक्षोभवर्णनम्" नामक बाइसवे सर्ग मे सम्मिलित रूप मे तीनो का क्षोभ चित्रित किया है । त्रिपुरासुर भगवान् शिव से युद्ध करने के लिए स्वसैन्यबल के साथ उपस्थित होते है । इस सर्ग मे प्रतिनायकनिष्ठ रौद्ररस का स्थायीभाव क्रोध के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का वर्णन हुआ है ।

"युद्धवर्णनम्" नामक सर्ग मे प्रतिनायक त्रिपुरासुर का औद्धत्यपूर्ण आचरण स्पष्ट रूप मे देखने को मिलता है । वे सच्चे धीरोद्धत स्वभाव के प्रतिनायक है । त्रिपुरो को इस बात की कोई चिन्ता नहीं है कि देवाधिदेव भगवान् शङ्कर ही उनके प्रति युद्ध अभियान कर रहे है । वे बिना सोच विचार के स्वसैन्यबल के साथ युद्ध भूमि मे उपस्थित हो जाते है । भयकर सुरो– असुरो का युद्ध हो रहा है, विपक्षी रूद्र भगवान् से जीतने की कोई सभावना नही है फिर भी बीर त्रिपुर जी जान से घनघोर युद्ध मे सलग्न है । उनका उत्साह और साहस उनकी असुर सेना मे प्राण फूँक देता

है, युद्ध की विकरालता और भी बढ जाती है अन्तत अपने मुख्य प्रतिद्वन्दी भगवान् शिव को ही मारने के लिए तीनो एकत्र होते है । त्रिपुरो ने अपनी बाण वर्षा से देवो के शरीरो को समाच्छादित कर दिया । उस युद्ध सर मे वे दनुजमदगज गरज रहे थे अस्त्रो से कटे हुए हाथ ही उस युद्ध सर मे कमल थे, लूनदण्ड देवो के श्वेतछत्र ही महाफेन , निर्मूठ तलवारे ही शैलमाला, तथा लीला से नृत्य प्रसक्त ही देवकबन्ध भ्रमरचक्र थे ।[1] छोडे गये आग्नेयास्त्र के प्रतिरोध के लिए, छोडे गये वरूणास्त्र की घनमालाऐ अग्निज्वालाओ से मिलकर भयकर धूम अन्धकार आकाश को समाच्छन्न कर रही थी दोनो तरफ की सेनाओ द्वारा बाणाग्नि की वर्षा से दिन मे ही रात्रि का दृश्य उपस्थित कर रही है । ऐसे मे क्रोधावेश मे आकर त्रिपुर एकत्र स्थित होकर जैसे ही भगवान् शिव को मारने के लिए सोचा कि बस भगवान् शिव ने देवो के नेत्रो का सकेत पाकर दिव्य शरसन्धान द्वारा उन त्रिपुरो को सदा के लिए भस्मीभूत कर दिया ।

सुर–असुर का भेदक तत्त्व बुद्धि बल एव शारीरिक बल है । देवता प्राय बुद्धि बल पर विश्वास करते है जब कि असुर शारीरिक बल पर ही इतना अहकार करते है अतएव पराक्रमशाली असुर देवो की अपेक्षा बुद्धिहीन सर्वदा देवो से पराजित होते है । दैवी सम्पत्ति सुमति और आसुरी सम्पत्ति शारीरिक बल आज लोक व्यवहार मे भी देखा जाता है ।

(IIII) **अन्य पात्र :–**

(अ) **नन्दी :–**

महाकवि मखक ने प्रथम सर्ग मे प्रधान नायक भगवान् शिव का वाहन नन्दी का स्तुत्यात्मक वर्णन किया है । व्यावहारिक रूप मे नन्दी शिव का वाहन, सहचर,

---

1 श्रीकण्ठ0 17/14

द्वारपाल, और गणाध्यक्ष के रूप मे आये है । वे चतुर्मुख ब्रह्मा आदि देवो को भी सावज्ञ शिर सकेत करने मे समर्थ है ।[1] पार्वती की दोलाक्रीडा के प्रस्ताव की पूर्वपीठिका के रूप मे नन्दी द्वारा किया गया "वसन्तवर्णन" काव्य की दृष्टि से अनुपम है । युद्ध मे भी नन्दी अपूर्व कौशल का प्रदर्शन करते है ।

सर्वत्र ही भगवान् शिव के चरणो का सस्पर्श लाभ करता रहूँ, इस विचार से स्फटिकाद्रि कैलास के द्वारा धारण किया गया उसका जगमस्वरूप, अथवा शिव के जटाजूट मे बधे हुए स्वसुतचन्द्र को देखने के लिए आगत क्षीराब्धि सा शिव का वाहन वृषभनन्दी आपकी कुशलता का हेतु होवे । [2] शिव की सेवा मे रहकर, मात्र चरणनिक्षेप से ही विश्व को स्वर्णमय बनाकर उनका स्ववाहन वृषभ उन्हीं को जीत लेता है ।[3] शिव ने मरूत के लिए सात दिन तक निरन्तर स्वर्ण की वर्षा की । जबकि इधर नन्दी को वरदान मिला हुआ है कि उसके खुर स्पर्शमात्र से लोहा स्वर्ण बन जायेगा । वह वाहनरूप मे भगवान् शिव के साथ–साथ विश्व भर मे घूमता रहता है और इस प्रकार सर्वत्र ही स्वचरण स्पर्श से पृथ्वी को स्वर्णमयी बनाता रहता है । इस प्रकार नन्दी द्वारा काञ्चनीकरण की शक्ति की देशकालकृत कोई सीमा नही है जबकि भगवान् शिव द्वारा मात्र सात दिन ही स्वर्ण वर्षा की गई । शिव का भक्त वृषभ "नन्दी" स्वर्णवर्षण मे उनका भी अतिक्रमण कर जाता है । परन्तु वह भी नन्दी की सेवा तप से प्रसन्न होकर स्वय महादानी शिव के वरदान की कृपा है । शिव जब प्रसन्न होते है तो वह अपना सर्वस्व दान कर देते है ।

नन्दी ने भगवान् शिव के समक्ष "वसन्तश्री" का बहुत सुन्दर एव मनोहारी चित्रण किया है – "वसन्तश्री" का पान करके चक्षु मतवाले हो रहे है । बालसूर्य के

---

1 श्रीकण्ठ0 17/14

2. श्रीकण्ठ0 1/54

3 श्रीकण्ठ0 5/53

सस्पर्श से शरीर भी अत्रस्त है । हे नाथ । मधुसौन्दर्य का दर्शन करके चित्त अपने मे नही समाता । सूर्याग्निचन्द्रस्वरूप अपने चक्षुओ को दुर तक दौडाइये, उनके द्वारा दिशा नायिका के शरीर मे रक्त कस्तूरी तथा श्वेतचन्दन के अड्गराग की सिद्धि हो जाये । यह वसन्त, अपने नवपल्लवो की श्यामल आभा से आकाश को श्यामल बनाते हुए, दिशाओ को स्फटिक रश्मियो से ज्योत्स्ना के समान उज्जवल बनाते हुए, एव सर्वविध सुगन्धि को सर्वत्र फैलाते हुए, सर्वत्र उल्लसित हो रहा है । यह दिशाऐ, कनककेतकसिन्धुवार आदि बल्लियो से शबलीकृत होकर , वसन्त के द्वारा कामदेव की विजय की इन्द्रधनुष-पक्ति सी लग रही है । सूर्य पहले दक्षिण दिशा को स्वीकार किये था और मरूत उत्तर को । अब वसन्त ने दोनो मे परिवर्तन करा दिया॥[1]

मन्द मन्द वायु से हिलती हुई चम्पक कलियो पर बैठे हुए भ्रमरो को भी, दे देव । देखिये वसन्त ने दोलाक्रीडा सिखा दी है । यदि आपकी आज्ञा हो तो, स्वकपोल-प्रभाओ से चम्पक पीतिमा को मलिन करने वाली पार्वती भी दोला को विभूषित करें एव अपनी गण्डपाण्डुता से आकाश की श्यामता को दूर करे ।[2]

नन्दी के द्वारा सावज्ञ निवेदित देवो को विनय से शिर झुकाऐ हुए प्रवेश किया । [3] महाकवि ने यहाँ पर नन्दी के रूप मे द्वारपालो के अहमन्य स्वरूप को बडी सफलता के साथ साक्षात् सा उपस्थित कर दिया है ।

भगवान् शिव के राजद्वार मे हठ से प्रवेश करते हुए देवो के आवागमन का भ्रूसकेत से विधि निषेध करने मे अभ्यस्त नन्दी की भौहे क्रोध मे अपने आप नाच उठी । मुरजवादन मे अभ्यस्त नन्दी के हाथ, क्रोध मे पृथ्वी को बडी देर तक पीटते

---

1 श्रीकण्ठ0 7/46-49

2 श्रीकण्ठ0 7/51,52

3 श्रीकण्ठ0 17/14

रहने पर भी नही थके । शत्रुओ के हाथियो के गण्डस्थलो पर नन्दी इस प्रकार कराघति करते थे मानो वे शिव के रणोत्सव मे मुरजवादन ही कर रहे थे ।[1] महाकवि मखक ने नन्दी के विविध स्वरूप प्रस्तुत किये है । नन्दी का चरित्र अद्वितीय एव उत्कृष्ट रूप मे चित्रित किया है ।

(ब) **ब्रह्मा :–**

चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा त्रिपुरासुर को वर प्रदान ही कथानक का मूलभूत कारण है । इस कथानक के बीज का वपन उन्होने ही किया था । तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष, नामक असुरत्रय ने इन्ही ब्रह्मा को अपनी घोर तपश्चर्या के द्वारा प्रसन्न किया था । इन तीनो ने ब्रह्मा से सीधे अमरत्व माँगा था परन्तु ब्रह्मा के द्वारा अमरत्व के लिए मना करने पर शत्रु के एक ही बाण से तीनो असुरो की मृत्यु का एक साथ ही होने का वरदान माँगा । इसके लिए ब्रह्मा ने एवमस्तु कह दिया । बाद मे उन असुरो द्वारा देवो को उत्पीडित करने पर ब्रह्मा स्वय देवसभा मे शिव के समक्ष एक अपराधी की भाँति अपने द्वारा त्रिपुरो को वर प्रदान करने के विषय का वृतान्त सुनाया अन्ततोगत्वा भगवान् शिव से उन तीनो को भस्मीभूत करने की प्रार्थना की । और युद्ध मे श्रीकृष्ण की भाँति, त्रिपुरारि के पृथ्वी रथ का सारथित्व स्वीकार किया । उनके ही सफल सारथित्व से त्रिपुर का नाश सम्भव हो सका । युद्ध के सारथि ब्रह्मा इस प्रकार "त्रिपुरवध" कथानक के सूत्रधार भी है ।

महाकवि मखक ने ब्रह्मा का स्तुत्यात्मक वर्णन किया है । वे पुराणकवि, श्रुति कवि, एव सृष्टिकर्ता है । हंस उनके वाहन है । वे कमलासन भी है । भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से उनकी उत्पत्ति हुई है । व्यवहारिक रूप में ब्रह्मा त्रिपुर के वरदाता तथा त्रिपुरारि के पृथ्वीरथ के सफल चतुर्मुख सारथी है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 18/51,52

ब्रह्मा का स्तुत्यात्मक वर्णन "श्रीकण्ठचरितम्" के प्रथम सर्ग मे किया है । ब्रह्मा ने प्रसन्न हो तत्काल दर्शन दिया । उनकी एकरूपा सृष्टि मे मधुर कलादि अनेक रसो का आस्वाद होता है । श्लेषार्थ – ब्रह्मा अपने काव्यगत प्रसादगुण के कारण त्रिलोकी मे "पुराणकवि" माने गये । उनके एक रूप काव्य मे अनेक श्रृड्गार , वीर, आदि रसो का आस्वाद होता है । विष्णु के नाभि कमल से उत्पन्न होने के पूर्व, उस विष्णुकुक्षि मे स्थित प्रलयकालीन चराचर कारण सृष्टि का साड्गोपाड्ग ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण ही ब्रह्मा अब उत्पन्न होने के बाद सकल सृष्टि को खेल–खेल मे ही बना डालते है । ऐसे ब्रह्मा आपकी रक्षा करे ।[1]

जिनके मानस रूपी स्वच्छ मानस मे विहार करने की कामना से कितने ही हसो ने ब्रह्मा का वाहनत्व नही प्राप्त किया । वे हस अपना वेतन, ब्रह्मा के आसनकमल के मृणालनाल को खाकर , अयाचित ही पा लिया करते है । भक्तिपूर्वक वे ब्रह्मा "शिव भगवान्" आपकी स्तुति कर रहे है । तथा स्ववाहन हसो को सयमित भी कर रहे है । हे शिव । आप इन्हे अपने दर्शन प्रदान कीजिए ।[2]

व्यावहारिक रूप मे ब्रह्मा का प्रत्यक्ष दर्शन देवसभा और युद्ध मे रथ के सारथी के रूप मे होता है । श्रुतिकवि ब्रह्मा ने देवसभा मे गम्भीर ध्वनि से शिव को सादर निवेदन किया – देवताओ के मनोज्वर के वादो की भाति वे असुरत्रय भला किसको दुसह ताप नही देते । हे त्रिनयन । वे तीनो असुर त्रिभुवन के शत्रु है, सर्वप्रथम अपने यम -- नियम के कठोरतप पालन के द्वारा ऋषिमुनियो को भी पीछे छोडते हुए दृढ निश्चय के साथ मुझे प्रसन्न करने के लिए घोर तप किया ।उनके घोर तप से त्रिलोक

---

1 श्रीकण्ठ0 1/24,25

2 श्रीकण्ठ0 16/30,31

के बाधमान होने पर मैने उन्हे दर्शन दिया । उन दैत्यो से मैने कहा कि हे पुत्रो । मै तुम्हारी तपश्चर्या से अत्यन्त प्रसन्न हूँ कि तुम्हे जो भी वर मॉगना है मॉग लो । उन दैत्यत्रय ने बडी विनम्रता से मुझसे कहा कि हे वरद्! अन्य साधारण वरो से क्या होगा । आपके मुखवचन सुधा का पान करने के कारण बस हम लोगो की "अमृत्यु" सिद्ध होवे । मेरे यह कहने पर कि मै अमरत्व नही दे सकता तब उन दैत्यो ने पुन सादर कहा -- यदि आप मुझे इस प्रकार का तप करने पर भी अमरत्व नही प्रदान कर सकते तो ऐसा वर दीजिए कि हम तीनो की मृत्यु शत्रु के एक ही बाण से एक ही साथ होवे । मेरे एवमस्तु के साथ इस प्रकार का वरदान पाकर उन तीनो ने स्वर्ण, रजत, और लौह की तीन नगर "मय" नामक शिल्पी से बनवाकर रहने लगे । पदमरागतोरण की प्रभाओ से सजात आग्नेय वप्र से परिवेष्टित स्वर्णपुरी को जिसकी खिडकियो पर दैत्यसुमुखियॉ बैठी थी, दैत्यराज तारकाक्ष ने अपना निवास स्थान बनाया । श्वेत भवनो के सम्पर्क से चन्द्रोज्ज्वल अनुपम राजतनगर मे परम्पराक्रमी कमलाक्ष ने अपना आवास स्थान बनाया विद्युन्माली ने कृष्णायस् मय लौहनगर को अपना आवास बनाया । वे तीनो त्रिपुर कहलाऐ । वे लाखो वर्षो तक देवताओ को दु सह दु ख देते रहे । उनके नाममात्र सुनकर भी देवॉगनाऐ पवनलोल लताओ की तरह हो जाती है । वे तीनो धातुओ के समान कुपित होकर इस समय दु सह सन्निपात सा दु:ख दे रहे है । इनकी शान्ति का उपाय हे भर्ग । आपकी कृपादृष्टि ही हो सकती है, अन्य कुछ नहीं । जो सतानक लताऐ किसी समय क्रीडासक्त अप्सराओ की सूर्यकान्त मणियो की उष्मा को भी सहन नही कर सकती थी, वे इस समय उन दैत्यो के सैनिको के द्वारा विधूनित होकर अब पावाग्निज्वालाओ को भी, दुष्टावमान की तुलना मे सहय समझ रही है ।[1]

त्रिपुर के दुष्ट सैनिक कल्पवृक्षादि को उखाड़ कर उठा ले गये है । दिग्गजो को भी वे पकड ले गये है । और दिग्गजो को उनके सैनिको ने कल्पवृक्षाद्रि स्तम्भो

---

1 श्रीकण्ठ0 17/46--64

मे सर्प रज्जुओ से बॉध रखा है । परिताप से उनका मद सूख गया है । लज्जा से वे शिर नीचा किये रहते है, यद्यपि उनके शिरो से भूभार उतर चुका है । अधिक क्या कहे, वे लोग समस्त पृथ्वी को बीर रहित समझकर हम देवो को शीघ्र ही नाममात्र अवशेष कर डालेगे ।[1]

ब्रह्मा ने यहाँ ससूच्यशैली मे अपना और दैत्यो का सम्पर्क वर्णन किया है और स्वय ही देवताओ की ओर से त्रिपुर भस्मीभूत की प्रार्थना भी भगवान् शिव से की । ब्रह्मा सारथीरूप मे युद्धस्थल मे उपस्थित अवश्य है । तथा यम, कुबेर, वरूण, इन्द्र की अश्वचतुष्टयी को सयमित करते समय अपने चतुर्मुखत्व का गर्व भी धारण करते है । परन्तु फिर भी वे स्वर्था अलक्ष्य है । उनका गर्व कवि प्रौढोक्ति से ही सिद्ध हुआ है ।

त्रिपुर के भस्मीभूत हो जाने के पश्चात् चतुर्मुख ब्रह्मा सारथित्व का स्वरूप छोडकर स्वस्वरूप धारण कर भगवान् शिव की स्तुति करते है और अपने ब्रह्मा धाम को प्रस्थान करते है ।

(स) <u>विष्णु :-</u>

महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" के प्रथम सर्ग मे भगवान् विष्णु का मगलात्मक स्वरूप चित्रित किया है ।[2]

व्यावहारिक रूप मे वे भगवान् शिव के बाण का रूप ग्रहण करते है । विष्णु का व्यक्तित्व पूरे महाकाव्य मे कही भी उभर कर नही आया है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 17/66
2 श्रीकण्ठ0 1/26--31

(द) **इन्द्र वरूण कुवेर यम –**

ये लोग शिव रथ के अश्वचतुष्टय के रूप मे परिकल्पित किये गये है । प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" मे कही भी देव व्यक्तित्व से प्रत्यक्ष नही वर्णित किये गये । यह सभी लोग प्रधान नायक शिव के सहायक रूप मे वर्णित है ।

(ट) **गणेश कुमार :–**

"नमस्कारवर्णन" नामक प्रथम सर्ग मे महाकवि मखक ने इनको सकलविघ्नोपघातक शिवपुत्र गजानन मयूर वाहन का भृगुनन्दन परशुराम का प्रधान मल्ल कार्तिकेय की स्तुति की है ।[1]

व्यावहारिक रूप मे "युद्धवर्णन" नामक तेइसवे सर्ग मे गणेश कुमार की युद्ध वीरता का चित्रण किया गया है ।[2] परन्तु है दोनो ही सर्वत्र ससूच्यशैली मे ही, प्रत्यक्षत वे कही भी नही दिखाई देते । न ही वे एक दो वाक्य किसी से कहते है ।

(ठ) **तण्डु और गिरिटी :–**

तण्डु तथा भृगिरिटी ने युद्ध मे अच्छी वीरता दिखाई है । परन्तु ये लोग भी सर्वत्र अप्रत्यक्ष ही है । महाकवि मखक ने गणक्षोभ का विस्तृत निबन्धन किया है तथा गणो की वीरता का युद्ध मे भी वर्णन किया है, लेकिन देवसैन्य का सर्वथा अभाव है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 1/38–42

2 श्रीकण्ठ0 23/31–42

पञ्चम अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" में प्रकृति चित्रण

श्रीकण्ठचरितम् मे प्रकृति चित्रण

सस्कृत वाड्मय मे विश्व के सर्वाधिक प्राचीन और पवित्र ग्रन्थ वेदो, पुराणो से लेकर लौकिक सस्कृत साहित्य के महाकाव्यो, नाटको आदि मे प्रकृति चित्रण और उसके प्रति सहज प्रेम की अभिव्यक्ति की गयी है। वेदो मे प्रकृति का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है। वैदिक देवता प्रकृति के ही किसी न किसी रूप के अभिव्यञ्जक है। वैदिक ऋषियो ने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया। अनेक ऋचाओ मे ऊषा के मनोहर सौन्दर्य की स्तुति की गयी।[1] ऋग्वेद मे गगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियो [2] एव यजुर्वेद मे पशु–पक्षियो[3] आदि का सजीव वर्णन किया गया। पुराणो मे भी गगा आदि नदियो एव वृक्षारोपण आदि का वर्णन है। महाकाव्यो मे चित्रित प्रकृति की छटा न केवल उनके चारूत्व को बढाती है अपितु अपने प्रति मानव प्रेम को भी अभिव्यक्त करती है। सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य प्रकृति चित्रण से भरा पडा है और हमारे प्रकृति प्रेम का इससे बढकर प्रमाण और क्या हो सकता है कि महाकाव्य के लक्षण मे प्रकृति–चित्रण की अनिवार्यता स्वीकृत की गयी है। आचार्य भामह के अतिरिक्त सभी आचार्यों के द्वारा प्रकृति चित्रण यथा – समुद्र, पर्वत, नगर, ऋतु, वन, सूर्योदय, चन्द्रोदय, नदी, उद्यान, प्रात मध्यान्ह, रात्रि, जल, क्रीडा, मध्यान्ह इत्यादि के वर्णन को आवश्यक माना है, भामह इस विषय मे मौन है।

साहित्य मे प्रकृति का अर्थ वनस्पति जगत ही नहीं होता। सूर्य, चन्द्र, सागर, पर्वत, नक्षत्र, ऋतुऐ, पशु–पक्षी, लोकलोकान्तर दिशाऐ और साय–प्रात उषाकाल आदि सब प्रकृति के अन्तर्गत ही आते हैं। मानव चतुर्दिक् प्रकृति से परिवेष्ठित है। मनुष्य प्रतिक्षण प्रकृति का उपयोग करता है। परिवर्तन क्रम के अनुसार समय–समय पर प्रकृति के सभी चित्र मनुष्य के मानस–पटल पर उतरते रहते हैं। वह उनसे यथेष्ट रूप मे प्रभावित भी होता है।

---

1 ऋग्वेद 1–123–10, 3–61–4

2. ऋग्वेद 10–75–5

3 यजु0 24–20–40

प्रकृति का अजस्र स्रोत सतत प्रवाहित होता रहा है । प्रकृति का प्रत्येक दृश्य शुद्ध सात्विक आहलाद् के साथ-साथ निर्मल कर्म-प्रेरणा से ओत-प्रोत है ।[1] प्रकृति के कोमल रूप तो रमणीय लगते ही है, उसके भीषण स्वरूप भी मानव के मस्तिष्क मे मधुर-आन्दोलन उत्पन्न करते है । प्रकृति के कोमल-भीषण छायातप मे वह अहर्निश सुख-दुख की आँखमिचौली खेलता रहता है । प्रकृति कभी तो मानव-विचार-भावो का आलम्बन बनती है और कभी-कभी अपनी अद्भुत विभूतियो से मानव के उन-उन विचार-भावो का शतश उद्दीपन करती रहती है । स्वतन्त्र वर्ण्य रूप मे आरोपित और समासोक्ति भाव से वह आलम्बनत्व धारण करती है । उसके वर्ण्यरूप के 'मानवीकरण' तथा 'स्वाभावोक्ति' रूपात्मक दो स्वरूप होते है । स्वाभावोक्ति उपयोगितावादी अथवा वैज्ञानिक गवेषणात्मक भी हो सकती है । कभी यह कर्म का निरूपण मात्र हो सकती है और कभी स्वरूपवर्णन परक । कर्म स्वरूप उभयात्मक भी हो सकती है । मेघ-पवन-हस दूतादि आरोप यदि कार्यसाधक है तो भ्रमर दूतादि व्यग्यात्मक है । दार्शनिक आरोपो का तो कहना ही क्या । समासोक्ति आरोपण के कई रूप होते है –

1 व्यवहार समारोप

2 धर्म समारोप

लौकिक वस्तु मे लौकिक वस्तु व्यवहार या धर्म समारोप, लौकिक वस्तु मे सर्वथा अलौकिक अथवा शास्त्रीय व्यवहार अथवा धर्म समारोप, इसी प्रकार अलौकिक वस्तु मे अलौकिक वस्तु व्यवहार या धर्म समारोप और अलौकिक वस्तु मे लौकिक वस्तु व्यवहार या धर्म समारोप । आलम्बन रूप मे प्रकृतिचित्रण की परिणति भाव के अन्तर्गत आयेगी ।

उद्दीपक मे वर्णित प्रकृति के प्रति परम्परा प्राप्त कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ प्राचीन काल से चली आ रही है । कभी-कभी सयोगवश भी प्रकृति के द्वारा सहृदय का भावोद्दीपनत्व सम्पन्न हो जाता है । सूर्यचन्द्र-मलयपवनादि जहाँ अनुकूल परिस्थिति मे अनुकूल भावो

---

1 ऋग्वेद 3/33/1

का उद्दीपन करते है, वही प्रतिकूल परिस्थिति मे वे ही उन्ही भावो का प्रतिकूल उद्दीपन भी करते हे फिर भी वे सहृदयावर्जक होते है ।

कवि प्रकृति के इन सभी प्रकारो का कभी तो मात्र एक रेखाचित्र उपस्थित करता है कभी उनका एक पूर्ण सश्लिष्ट चित्र । रेखाचित्र ससूच्य होते है तथा सश्लिष्ट चित्र दर्शनीय । रेखाचित्र एव सश्लिष्ट चित्र साधारण भाषा मे भी हो सकते है और अलकारिक भाषा में भी । चित्रण साधारण वर्णनात्मक भी हो सकता है तथा गम्भीर भावात्मक भी । सभी चित्र स्वत सम्भव, कविप्रौढोक्ति सिद्ध अथवा कविनिबद्ध प्रौढोक्ति सिद्ध हुआ करते है ।

वैदिक साहित्य मे भी प्रकृति – चित्रण यथेष्ट रूप मे मिलता है । विशेषता यह है कि वेद मे ऊषा, नदियॉ, सूर्य, चन्द्र और अन्य प्राकृतिक शक्तियो का मानवीकरण करने के स्थान पर ऐसा दैवीकरण किया गया है प्राकृतिक शक्तियो का यह अधिदेवतस्वरूप अर्थवाद तथा अद्वैतवाद से अनुप्राणित है ।

महाभारत घटना प्रधान सग्रहात्मक महाकाव्य है । इस महाकाव्य के विशाल कलेवर मे कुछ प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण प्रसगत हुआ है, साहित्यिक रूप मे नही रामायण महाकाव्य की स्थिति महाभारत से सर्वथा भिन्न है । रामायण महाकाव्य को प्रकृति चित्रण की दृष्टि से भी आदि काव्य कहना समीचीन होगा । इसका प्रकृति चित्रण इतना सरस, सुकोमल, पूर्ण एव हृदयग्राही है । रामायण में प्रत्येक विषय का चित्रण सहज–स्वाभाविक है और नैतिकता एव साहित्यकता का उज्ज्वल आदर्श है । इसमे अन्त प्रकृति के सदृश ही वाह्यप्रकृति का भी सर्वथा आदर्श–स्तुत्य चित्रण हुआ है ।

सस्कृत के साहित्यिक महाकाव्यों और नाटको की परम्परा मे प्रकृति का चित्रण अपनी एक विशिष्ट परम्परा के अनुसार हुआ है । इनमे प्रकृति ने मानव के अत्यन्त

निकट का साहचर्य प्राप्त कर लिया है । नखशिखवर्णन मे प्राकृत अप्रस्तुत विधानो की बहुलता तथा प्रकृति दृश्य मे मानव-भावनाओ का आरोपण इसी साहचर्य को प्रमाणित करते है । इनमे भी श्रृगार भावना ही प्रधान है । गद्य महाकवि बाणभट्ट और प्राकृत काव्य "सेतुबन्ध" के कर्त्ता प्रवरसेन किन्ही अशो मे इसके अपवाद है । कविकुलगुरू कालिदास का काव्यसौन्दर्य अनुपम है । कालिदास का प्राकृतिक चित्रण सहज सरस सुकोमल एव हृदयग्राही है । भवभूति का प्रकृति चित्रण पवित्रता एवं शालीनता मे आदिकवि वाल्मीकि के निकट तक पहुँचता है । उनकी प्रकृति सागर की भाँति गम्भीर विशाल तथा उदार है, भवभूति मे स्त्रैणता नही है । भारवि का महाकाव्य ओजस्विता एव अर्थगौरव से दीप्तिमान है । महाकवि माघ मे सभी गुण विद्यमान होने पर भी लालित्य एव पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना प्रधान है । महाकवि रत्नाकर और हर्ष दोनो ही श्रृगार प्रधान कवि है । भारवि, माघ, हर्ष तथा रत्नाकर मे पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना अत्यधिक है । प्रकृति चित्रण की दृष्टि से महाकवि मखक को साधारणतया किसी कोटि विशेष मे नही रखा जा सकता है । श्रृगार भावना का इनमे भी अच्छा पुट प्राप्त होता है, पाण्डित्य प्रदर्शन से भी यह अछूते नही है । इन्होंने मौलिक कल्पनाओ के द्वारा ऊँची ऊँची उडान भरी है । "कर्णिकार मख" इनकी काव्यार्जित उपाधि है इसी प्रकार कालिदास को "दीपशिखा कालिदास", भारवि को "आतपत्र भारवि" माघ को "घण्टा माघ" रत्नाकर को "ताल रत्नाकर" की उपाधि प्राप्त हुई । महाकवि मखक की कल्पना सूक्ष्म एव सजीव है । साधारणतया प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् मे पूर्ण प्रकृति चित्रण प्राप्त होता है । कैलास[1] वसन्त,[2] वन-विहार,[3] दोलाक्रीडा,[4] कुसुमावचय,[5] जलक्रीडा,[6]

---

1 श्रीकण्ठ0 सर्ग 4
2 श्रीकण्ठ0 सर्ग 6
3 श्रीकण्ठ0 सर्ग 7
4 श्रीकण्ठ0 सर्ग 7/54-66/
5 श्रीकण्ठ0 सर्ग 8
6. श्रीकण्ठ0 सर्ग 9

सन्ध्या,[1] चन्द्र,[2] समुद्र [3] तथा काश्मीर [4] वर्णन आलम्बन प्रधान प्राकृतिक वर्णन है ।

(क) **कश्मीर वर्णन -**

श्रीमण्ठचरितम् मे "देशवशादिवर्णनम्" नामक तृतीय सर्ग के अन्तर्गत महाकवि मखक ने कश्मीर का मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है । कश्मीर प्रदेश के सतीसरोवर मण्डल का एव वहाँ के पर्वतो का वर्णन करते हुए कवि कहता है - कि कश्मीर देश धनपति कुबेर के उत्तर दिशा का ललाट भूषण है । इस प्रदेश मे "सतीसरोवर" नाम का मण्डल है । वह ब्रह्मा के विविध यज्ञो के अवभृथ स्नान का एक मात्र स्थान प्रतीत होता है । वह "सतीसरोवर" मण्डल हिमाच्छादित पर्वतो से आवेष्ठित होने से एव दुग्धसागर से मानो उसकी प्रदक्षिणा की जा रही हो ऐसा आभासित होता है । हिम पर्वतो से आच्छादित होने से देश के मध्य मे कश्मीर प्रदेश का स्थान दुर्जेय है ऐसा ध्वनित होता है ।[5] आगम के अनुसार कश्मीर देश मे उत्पन्न सर्पो को गरूड का भय नही होता है क्योंकि यहाँ पर पर्वतो का बाहुल्य है इसलिए कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह प्रदेश सर्पो के कुलो को अभय बनाता है ।[6]

महाकवि मङ्खक कश्मीर के कुकुम पुष्पो एव उन पुष्पो से सुवासित वायु का वर्णन करते हुए कहते है कि कुकुम पुष्पो की अधिकता से कश्मीर भूमि तीनो लोको मे शोभायमान है । ~~इससे तीनो लोको मे तिलक भूत लोको मे शोभायमान है~~ । इससे तीनो लोको मे तिलक भूत कश्मीर भूमि सुवासित होती है ।[7] कश्मीर देश मे कुकुम पुष्पो के आधिक्य से एव कुकुमपुष्प युक्त वायु के द्वारा कामोद्दीपन होने से कामिनियो

---

1 श्रीकण्ठ0 सर्ग 10
2 श्रीकण्ठ0 सर्ग 11
3 श्रीकण्ठ0 सर्ग 12/36-55/
4 श्रीकण्ठ0 सर्ग 3
5 श्रीकण्ठ0 सर्ग 3/1,3
6 श्रीकण्ठ0 सर्ग 3/13
7 श्रीकण्ठ0 सर्ग 3/6

मे मानग्रहण असम्भव ही है। क्योकि यह कुकुम वायु रक्ताम्बर की तरह इधर उधर कुकुम रज की पक्तियो को बिखेरती हुई विरहिणियो की बाध्यता को ससूचित करती है। अतएव कुकुम वायु के प्रभाव की अधिकता से यहाँ की मानिनियाँ अपने मान को छोडकर काम के वशीभूत हो जाती है।[1] यहाँ के कुकुम पुष्प जब वितस्ता नदी मे गिरते है तो वह वितस्ता नदी कितनी शोभायमान होती है – कश्मीर देश मे वितस्ता नदी प्रवाहित होती है इस नदी के तट पर कुकुम पुष्प के वृक्ष है, इन वृक्षो के पुष्प नदी मे गिरते है, इसलिए पुष्प सौरभ के लोलुप भ्रमर उसमे सौरभो को लूटते है। वे भ्रमर पक्तियाँ वितस्ता नदी मे स्नान करती हुई स्त्रियो की चोटी की तरह परिलक्षित होती है। इससे स्वर्गलोक की नदी की अपेक्षा वितस्ता नदी का पावनातिशयत्व द्योतित होता है।[2] यूपदार आदि वृक्षों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि इस सतीसरोवर मण्डल मे यूपदार की अधिकता से कलि प्रदेश मे इनका अर्गल भाव उपवर्णित है।[3]

कश्मीर की स्त्रियो के रति विलास का वर्णन बहुत सूक्ष्म एव मनोहारी है – यहाँ की स्त्रियो के विलास को देखकर मुनिजन भी धैर्यच्युत हो जाते है क्योकि रतिविलास मे यहाँ की नारिया निपुण होती है, ऐसा ध्वनित होता है। यहाँ की कामिनियो के कुचो की कठिनता एव पीनता तथा पुष्टत्व अवर्णनीय है इसलिए यहाँ की रमणियो का आलिगन नायको को अतिशय रसानुभूति प्रदान करता है।[4] यहाँ विलासी कामिनियाँ रात्रि मे अपने चन्द्रमुख से घूँघट हटाकर अपने भवनो मे निशङ्क होकर विलास करती थी। उन कामिनियो के मुख की कान्ति कृष्ण पक्ष मे भी पूर्व चन्द्रमा का भ्रम पैदा करती थी।[5] यहाँ कवि ने कामोद्दीपन का उत्प्रेक्षात्मक वर्णन किया है – कश्मीर

---

1 श्रीकण्ठ0 3/26
2 श्रीकण्ठ0 3/7
3 श्रीकण्ठ0 3/2
4 श्रीकण्ठ0 3/22
5 श्रीकण्ठ0 3/25

मे इन्द्र के द्वारा किये गये विलास से निकले हुए रसायनो से कामदेव नित्य नूतन यौवन को प्राप्त करता है । यहाँ माघ के महीने मे हिमपात होता है । इससे कवि उत्प्रेक्षा करता है कि जैसे – मानो कामदेव हिम्मपात के बहाने से जर्जरित सफेद केशो को छोडकर पुन यौवनत्व को प्राप्त करता है । इसलिए यहाँ के लोग हेमन्त ऋतु मे काम के वशीभूत होकर नित्य ही स्त्रियो का भोग करते है । इससे हेमन्त ऋतु मे काम का प्रभाव सूचित होता है ।[1] कश्मीर देश मे उत्पन्न रमणियो के द्वारा कटाक्षपात मात्र से कामोत्पत्ति होती है । इसलिए इन कमिनियो की दृष्टि काम वधुओ के भर्तृहरण जन्य असह्य शोक कण्टक को हरती है । यहाँ पर कवि ने जो "अगार -- शकटिका" (अगीठी) का वर्णन किया है वह अनुपम एव अतुलनीय है – हेमन्त ऋतु म अन्तपुर के घरो मे जलती हुई अग्नियुक्त शकटिका अत्यधिक शोभित होती है । इस अगार शकटिका मे बहुत से छिद्र होते है उन छिद्रो से जलती हुई अग्नि की ज्वालाऐं निकलती है । यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि भगवान् शङ्कर ने अपने इसी अग्निमय नेत्र से कामदेव को भस्मीभूत कर दिया था । इसलिए कामदेव भी अत्यधिक अग्निमय नेत्रसमूहो से भगवान् शङ्कर को जीतने का प्रयास करता है ऐसा प्रतीत होता है । कश्मीर वासी हिम ऋतु मे ठड्क को दूर करने के लिए अगीठी (अगार शकटिका) का सेवन करते है । ठड के दूर होने पर कामोद्दीपन होता ही है स्वत सिद्ध है ।[2] शिशिर ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि शिशिर ऋतु मे विलासिनियो के मधुपान के स्थान मणिसमूहो से सुशोभित होते है । अपने धनुष को धारण किये हुए कामदेव के चित्त का भेदन करने मे वे मयूख सर्वसमर्थ थे ।[3]

महाकवि मखक के अनुसार कश्मीर एक धार्मिक स्थल है जहाँ पर याज्ञिक कार्य चलता रहता है और जहाँ कपटेश्वर भगवान् निवास करते है । उसी का सुन्दर वर्णन किया है – कश्मीर के ब्राह्मण बालक अग्निशालाओ की तीन अग्नियो के धूम्रपुञ्ज के

---

1 श्रीकण्ठ0 3/8
2 श्रीकण्ठ0 3/29
3 श्रीकण्ठ0 3/5

स्पर्शमात्र से उत्कृष्ट अजिन धारण का पुण्य प्राप्त करते है। अग्निशाला से उठा हुआ तीनो अग्नियो का धूम्रपुञ्ज ब्राह्मण पुत्रो को निष्पाप बनाता है। तात्पर्य यह है कि उस समय कश्मीर देश मे रात दिन तीनो वेदो मे उक्त रीति के द्वारा यज्ञ कार्य चलता रहता था।[1] तीनो लोको के पाप की पीडा से नितान्त खिन्न मन वाले "कपटेश्वर" नाम के महेश्वर यहाँ अपने नेत्राग्नि ज्वाला की शान्ति के लिए काष्ठमय शरीर को धारण करते हुए अपने को गूढ जल मे डुबो दिया।[2] भगवान् विष्णु भी इस भूमि को पवित्र बनाते है। भर्तृस्नेह की अधिकता से भगवती लक्ष्मी के द्वारा किये गये वशीकरण मन्त्र के प्रयोग से भगवान् विष्णु चिरकाल तक अनुभूत क्षीर समुद्र के सुख को छोडकर चक्रधर के रूप मे कश्मीर प्रदेश को पवित्रतर बनाते है।[3]

महाकवि मङ्खक ने कश्मीर प्रदेश के "शारदापीठ" का वर्णन करते हुए माँ सरस्वती की कृपा का वर्णन किया है – कश्मीर भूमि को प्राप्त कर भगवती वाग् देवी अपनी चरण कमलो की धूल से यहाँ के नागरिको को सारस्वत दृष्टि से सम्पन्न करती है। कश्मीर मे शारदापीठ है, इसलिए माँ शारदा के चरण कमलो की सेवा से ही कश्मीरी लोग बिना प्रयास के अनेक शास्त्र मे पारगत दिखलाई पडते है।[4] भगवती वाग् देवी की कृपा कटाक्ष से यहाँ के बालक भी अनायास विद्या को प्राप्त करते है।[5]

उपर्युक्त कश्मीर प्रदेश मे सरोवर, पर्वत, नदी, वृक्ष, ऋतु, धार्मिक स्थल एव कश्मीर वासियो पर सरस्वती अनुकम्पा, तथा अगार शकटिका इत्यादि का महाकवि

---

1 श्रीकण्ठ0 3/4
2 श्रीकण्ठ0 3/14
3 श्रीकण्ठ0 3/12
4 श्रीकण्ठ0 3/9
5 श्रीकण्ठ0 3/20

मड्खक ने बहुत ही सूक्ष्म, सजीव तथा मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। जो कि अनुपम एव अतुलनीय है।

(ख) कैलास वर्णन –

महाकवि मखक ने कैलास पर्वत का आलम्बन प्रधान वर्णन बहुत ही मनोरम किया है। पवित्र अनुष्टुप छन्द मे हिमाच्छादित कैलास पर्वत का वर्णन पाठक के हृदय मे पवित्र शुभ भावो का सचार करता है। कालिदास,[1] भारवि,[2] और माघ[3] के समान महाकवि मखक ने भी कैलास पर्वत की पवित्र गुफाओ कन्दराओ का उल्लेख किया है। कवि कैलास की हिम स्फटिक धवलता से मन्त्र मुग्ध सा हो गया है। कैलास की दुग्धोपम ज्योत्स्ना --श्वेतता का वर्णन अनुपम एव अतुलनीय है। महाकवि मखक ने छोटे छोटे सूक्ष्म एव सजीव चित्रो की श्रृखला से ही कैलास पर्वत की भव्य श्रृखलाओ को व्यजित करने का प्रयत्न किया है। अनुष्टुप छन्द एव प्रसादमयी भाषा द्वारा कैलास धवलिमा का पावन वर्णन प्रस्तुत किया है। वर्णन की यथार्थता यह है कि महाकवि मखक ने कैलास से निकलती हुई किसी नदी का वर्णन नही किया है। वर्णन मे कैलास के पौराणिक महात्म्य का ही प्राधान्य है। कैलास पर्वत का आलम्बन रूप सश्लिष्ट चित्र द्रष्टब्य है। चन्द्रमा की सान्द्र किरणो – जैसे भास्वाला तथा धनपति कुबेर की पत्नी के मधुर हास – सा कैलास पर्वत, शिवजी का निवास स्थल है। स्वच्छ स्फटिक शिखरो से मृग प्रतिबिम्बित यह कैलास तो ऐसा लगता है कि मानो ब्रह्मा ने जैसे इसे शशि – राशि से ही निर्मित किया हो।[4] कैलास की आकाश व्यापिनी शुभ्ररश्मियाँ ब्रह्मा के आसन पद्म के मृणालनाल की शोभा धारण करती है ब्रह्मा स्वर्ग में रहते है। स्वर्ग पृथ्वी से अपर स्थित है। स्वर्गस्थित ब्रह्मा के आसन कमल का मृणालनाल स्वभावत

---

1. कुमारसम्भवम् – कालिदास 1/10,11–13/
2 किरातार्जुनीयम् – भारवि 5/5,11,23–28/
3 शिशुपाल० – माघ 4/27,38,40,42,45,51,62,66–67
4 श्रीकण्ठ० 4/1–2
5 श्रीकण्ठ० 4/3–4

ही अध आगत होना चाहिए । मृणालनाल शुभ्र सरल होता है । रश्मियाँ भी शुभ्र सरल है । अत वे ब्रह्मासन पद्मनाल ही है । शिवजी के मत्थे पर स्थित भी चन्द्र इस कैलास की दुग्धधवल रश्मियो के लाभ के कारण इन रश्मियो को ही क्षीरसागर समझकर स्वय को सचमुच क्षीरसागर मे ही स्थित समझता हुआ , क्षीर सागर मे निवास करने की अपनी इच्छा को नही त्याग पाता – यद्यपि वह क्षीर सागर से दूर शिवजी के मस्तक पर रह रहा है । समुद्रमन्थन के समय चन्द्र भी समुद्र से ही निकला था ।[1]

अपनी चतुर्दिक प्रसरणशील रश्मियो के द्वारा कैलास पर्वत दिशा नायिको के मस्तक पर कर्पूर के शुभ्र तिलक बिन्दु से लगाता प्रतीत होता है । अतएव प्रसारित रश्मिसमूह कर्पूर तिलक जैसा प्रतीत होता है । अपनी ऊँची ऊँची व्याप्त विशाल श्रृगमालाओ के द्वारा पूर्ण श्वेतशोभाढ्य कैलास पर्वत पृथ्वी के भार को धारण करने मे स्वय को असमर्थ नही बताता अर्थात अपनी विशालता से पृथ्वी भार को धारण करने मे अपने को पूर्णतया समर्थ पाता है, ऐसा वह कैलास पर्वत चारो ओर नवसुधा ज्योत्स्ना को प्रस्त्रवित करता रहता है । कैलास की शुभ्र किरणो के द्वारा वर्षाकालीन श्याममेघ की कालिमा आत्मसात कर लिऐ जाने के कारण वह वर्षा–मेघ शरदकालीन मेघ भाव को नहीं छोडता ।[2] वर्षा मेघ कैलास श्वेततावश शारदपयोद ही प्रतीत होता है । स्फटिकरश्मियो के परिमण्डल से घिरे हुए कैलास की गगा श्वेत परिमण्डल रूपा प्रदक्षिणा करती हुई सी लगती है क्योकि वह श्वेतता मे कैलास से हार जो गई है ।[3] कैलास प्रदेश मे कैलास की स्फटिक शुभ्रता के कारण काली रात्रि दिन सी और दिन, शिव जी के कण्ठ की श्यामिका आभा से आभासित होकर रात्रि सा प्रतीत होता है । तुलनात्मक कृष्णश्वेत वर्णोत्कर्ष का अभूतपूर्व निबन्धन है ।[4]

---

1 श्रीकण्ठ0 4/3–4
2 श्रीकण्ठ0 4/5–7
3 श्रीकण्ठ0 4/10
4 श्रीकण्ठ0 4/12

हरिणलाछन चन्द्रमा की किरणो के समान कान्तिवाली अपनी स्वच्छ धवल रश्मियो रूपी यश छटा को चारो ओर बिखेर कर कैलास अशेष पर्वतो को राजा वाला बनाता है । श्वेताभा बिखर कर कैलास को सब पर्वतों का राजा बलात् पूर्वक मनवाये दे रही है । ताण्डव प्रसक्त शिव जी के चरणपात से उद्धत कैलास पर्वत के श्वेत रज कणो को प्रतिरात्रि आकाश तारो के रूप मे धारण करता है ।[1] यहाँ पर रजकण ही तारे है । दिशाओ मे दूर तक प्रभापखो को फैलाऐ हुए यह कैलास मानसरोवर मे बैठा हुआ विश्व लक्ष्मी की क्रीडा हस सा लगता है । कैलास मानसरोवर के निकट ही स्थित है । अत्युच्च स्फटिक श्रृगमालाओ मे यत्र–तत्र प्रविष्ट नवश्याम अम्बुदखण्ड कृष्णाक्षर–पक्ति से प्रतीत होते है । अम्बुदसकुलित स्फटिक शिलाए कैलास की प्रशस्तिपट्टिकाए सी शोभित होती है ।[2] कैलास की प्रभामाला द्यावा पृथ्वी की सीमान्त रेखा या माँग , दिशाओ का रेशमी अवगुण्ठन दिवकुजर के भाल पर डालने का मुखपट, भर्ग की द्वितीय विभूति, मानसरोवर का फेन और सर्प की छोडी हुई केचुल के समान शोभित होती है । स्वच्छ स्फटिक भित्तियो मे प्रतिबिम्बित जगत् को धारण करते हुए लगता है कि मानो कैलास ने शिव जी से शिक्षा पाकर कल्पान्त के समय सम्पूर्ण जगत् को आचमन कर लिया हो । सूर्य – प्रतिबिम्बित पाण्डुशरीर को धारण करने वाला कैलास घनी इरा मजरी के फूलो का बडा – सा गुच्छा प्रतीत होता है । स्फटिक शिलाओ मे प्रतिबिम्बित कुमार गुह हा मयूर पातालवासी सर्पो को पकडने के लिए, पाताल को प्रस्थित होता हुआ सा प्रतीत होता है ।[3]

---

1 श्रीकण्ठ0 4/13–14

2 श्रीकण्ठ0 4/23–25

3 श्रीकण्ठ0 4/27–33

4. श्रीकण्ठ0 4/63–64

विश्वात्मा एव अपने स्वामी शिव जी के दिगम्बरत्व जैन साधु वेश धारण करने पर, कैलास दिशा विदिशाओ मे विस्तृत अपने किरण तन्तुओ के ताने बाने से उन शिव जी के लिए श्वेताभवस्त्र बुनता सा प्रतीत होता है ।[1] कैलास अन्तरिक्ष मे क्षीर सागर, हिमगिरि और कभी नीचे न गिरने वाला देवस्रोतस्विनी गगा का प्रवाहपूर प्रतीत होता है । शशिज्योत्स्ना के प्रतिद्वन्दी प्रभाजाल को दिग्दिगन्तर मे विकीर्ण करता है चकोरियाँ इसकी आभारश्मियो को चन्द्ररश्मियाँ समझकर व्यर्थ ही पुन पुन उन्हे चाटने के लिए अपनी जिह्वाए सक्रिय करती है । यह कैलास प्रभास्तोम चन्द्रभासो का द्विगुणितरूप, चन्द्रशेखर का अट्टहासानुप्रास , पार्वती की हस्ति सुधा की पुनरूक्ति तथा देवगगा लहरी की पुनरावृत्ति प्रतीत होता है । ऐसे पर्वतराज कैलास के गुणो का गुणगान कौन कर सकता है ।[2]

दाहोपद्रव के अवसर पर कामदेव के द्वारा अपना अमूल्य कोष, किन्नरियो के रूप मे, न्यासीकृत होकर आज भी जिस कैलास के पास कन्दराओ मे सुरक्षित है ।[3] कोई किसी सच्चे समर्थ के पास ही अपना अमूल्य कोषादि न्यास रूप मे रखता है । वह महाजन भी न्यासीकृत कोषादि को बडे यत्न से किन्ही निभृत स्थानो मे छिपाकर रखता है । ऐसे गुप्त स्थान कन्दरा से बढकर कही हो सकते है । यही कारण है कि कैलास ने कामकोष किन्नरियो को अपनी कन्दराओ मे छिपा रखा है । स्वभावत किन्नरादि पर्वत गुफओ मे निवास करते है । महाकवि मखक की यह उत्प्रेक्षा बडी ही काल्पनिक है ।

शिखरो पर छाये हुऐ श्याममेघ, जो भ्रमरो से भी अधिक कृष्ण है, प्रज्जवलित औषधियो के उठते हुए काजलधूम से लगते है ।[4] औषधि–दीप नीचे और कज्जल मेघ

---

1 श्रीकण्ठ0 4/34
2 श्रीकण्ठ0 4/63–64
3 श्रीकण्ठ0 4/19
4 श्रीकण्ठ0 4/47

ऊपर है । वायु विलोडित बडे बडे कपालमाला जिन वृक्षो के उच्च शिखरो पर शाभित है जो चचल करपत्रो मे हरी रूद्राक्षमाला को धारण करते है और तटो के किनारे दीर्घकाल से तपोलीन जिनके शरीरो से दीर्घजटाए अर्थात् उपशाखाऐ निकल कर भूमि को छू रही है । ऐसे वे तपस्या मे दृढता को प्राप्त कैलास पर्वत के वृक्षवर्ग कैसे अडिग खडे रहते है । प्रत्युत् वे वायुवेगो को रजपूरित कर देते है ।[1] जो कैलास निर्मलता मे साधुओ के पवित्र हृदय के समान है । उस कैलास पर्वत मे कही पर एक दो छोटे छोटे तमाल तरू प्रकाण्ड सुशोभित हो रहे है । श्वेताभा मे यह कृष्ण तमाल ऐसे लगते है कि जैसे मानो यह कैलास की कुक्षि मे चमकते हुए आपीत तम शकल है ।[2] अर्थात पारदर्शी कुक्षि मे पीततम झलक रहा है । सश्लिष्ट चित्रांकन शैली मे यह कैलास पर्वत का आलम्बन प्रधान वर्णन सर्वथा अलौकिक है । मानवीकरण तथा मानवभावनाओ का आरोपण भी कही कही आ अवश्य गया है, परन्तु वह अश्लीलता की कोटि से बहुत दूर है ।

शिव जी की नेत्राग्नि कैलास पर्वत की रत्नसानुओ मे प्रतिफलित होकर भयकर दावाग्नि का इन्द्रजाल सा उपस्थित करती है । इन्द्रजाल इसलिए कि भयकर दावाग्नि तो प्रज्वलित हो रही है लेकिन कुछ जलता नही है ।[3] प्रज्वलित भयकर सूर्य कान्तमय बडी बडी गुफाओ को धारण करने वाला कैलास दिन मे भगवान् रूद्र द्वारा डाली गई वहिनमयी दृष्टि को धारण कर रहा है ।[4] व्योम को पार कर जाने मे सर्वप्रथम अत्यधिक ऊँचा समस्तदिशाओ को बलात् आलिगन करने वाले अति विस्तृत ब्रह्माण्ड को खप्पर बना देने वाले अत्यन्त चौडे और पाताल मे व्याप्त होने वाले मूल पर्वत की आधार शिलाए प्रभाजाल वाले कैलास की तुलना मे आने का दुसाहस तो सुमरू पर्वत भी नही करता ।[5]

---

1 श्रीकण्ठ0 4/56
2 श्रीकण्ठ0 4/58
3 श्रीकण्ठ0 4/16
4 श्रीकण्ठ0 4/36
5 श्रीकण्ठ0 4/62

इस प्रकार महाकवि मखक ने दिव्य नायक भगवान शड्कर का निवास स्थान कैलाश पर्वत का हृदयग्राही एव मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है ।

(ग) वसन्त वर्णन –

भगवान् शड्कर के कैलाश पर्वत पर निवास करने के बाद एक समय ऋतुराज वसन्त उल्लसित थी । शिशिर ऋतु मे पुष्पो के अभाव से भ्रमरो का अनशन व्रत चलता था । वसन्त ऋतु के आगमन पर प्रचुर मात्रा मे पुष्पो के उद्गम से मधुप कुल द्वारा उन पुष्पो के मकरन्द का पान मानो पूर्व से चले आ रहे अपने अनशन व्रत का पारायण किया हो और आज तक जिन मानिनियो का मानापनोदन असम्भव था और नायको से वारम्बार प्रार्थित जो मानिनियाँ अद्यावधि अपने मान को नही छोडी वे भी खिल हुए पुष्प राग कोकिलो की कूज, भ्रमरो की झकार आदि के द्वारामदन बाण से अत्यधिक आविद्ध होकर दक्षिण पवन के सस्पर्श से कम्पित शरीर वाली अपने-अपने नायको का गाढालिगन किया ।[1] वसन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुऐ कामतन्त्र की ग्रन्थिमात्र को ही खोलने मे असमर्थ होती है अर्थात् वसन्त ऋतु को छोडकर कामशास्त्र का अवबोध अन्यत्र असम्भव है क्योंकि रसराज वसन्त ही काम सम्बन्धी अखण्ड पाण्डित्य को धारण करता है । अत्यधिक सौन्दर्यशाली होने से वसन्त ऋतु जितनी कामकथाओ का अन्तरग है उतनी अन्य कोई भी ऋतुऐ नही है । ऐसा कवि की प्रौढोक्ति से सिद्ध होता है ।[2] यह वसन्त ऋतु श्रृगार रस के काव्यो के प्रणयन मे समस्त उपकरणो को प्राप्त कर लिया है । चचल पलाश ओष्ठपुट के द्वारा भ्रमर कुल के भ्रू विच्छेप से खिले हुए कमल दल की तरह निष्यन्द वाली ऑखो से और सभी विचित्रताओ से युक्त यह वसन्त ऋतु काम को उत्पन्न करता ही है ।[3]

---

1 श्रीकण्ठ0 6/1
2 श्रीकण्ठ0 6/4
3 श्रीकण्ठ0 6/5

सूर्य के उत्तरायण हो जाने से वसन्त ऋतु मे दक्षिण दिशाआ से मलयपवन चलता है। वह मलय पवन काम जनित सताप को शान्त करता है। दक्षिण दिशा मे मलयगिरि एव चन्दन वन भी है, इसलिए चन्दन सौरभ से आर्द्र मलय पवन कामजनित सन्ताप को शिथिल बनाता है।[1] मानिनियो के किञ्चिद उष्ण सन्ताप से वसन्त ऋतु मे दिन क्रमश वृद्धि को प्राप्त करता है तात्पर्य यह है कि वसन्त ऋतु मे दिन के बडे हाने के कारण विरह से मानिनियाँ अत्यधिक निश्वास छोडती है। जैसे–जैसे मधुमास मे विरहिनियो के जीवन आशा क्षीण होती जाती है वैसे ही इस वसन्त ऋतु मे रात्रियाँ भी क्षीणता को प्राप्त करती है।[2] वसन्त रूपी सिह को देखकर स्त्रियो का मान लौहमयी श्रृखला को भेदकर पलायित हो जाता है सिह के भय से गजो का पलायन लोक प्रसिद्ध है।[3] उडते हुए मकरन्दो से गीले किसलयो से कोकिलो की कूजो से एव आम्र मञ्जरियो से काम के कण्ठगत होने से वसन्त ऋतु से पथिक समूह भीति की तरह हो जाता है।[4] विरहिणियो के पीडा द्वारा, माधव्यो द्वारा, विजय वैजन्ती द्वारा एव अट्टहासो द्वारा तथा रात्रि मे कोकिलो के निरन्तर कूजन से वनो का दृश्य अत्यधिक कामोद्दीपक होता है जो विरहिणियो के लिए असह्य हो जाता है।[5]

कनेर के पुष्प के वर्ण सौभाग्य एव सुगन्धि के हीन होने से दृष्टि एव नासिका के विवाद से इस महाकवि ने लोकोत्तर विछित्ति का आश्रय करके वर्णन किया है। श्रीकण्ठचरितम् के टीका कार कश्मीरवासी विद्वान् राजानक जोनराज ने अपनी व्याख्या की पाद टिप्पणी मे इसको अधिक स्पष्टता प्रदान की है। महाकवि मखक की काव्यार्जित उपाधि "कर्णिकार मखक"[6] है। इसी प्रकार अपनी मौलिक कल्पना से युक्त काव्य निर्माण से कालिदास

---

1 श्रीकण्ठ0 6/6
2 श्रीकण्ठ0 6/7
3 श्रीकण्ठ0 6/8
4 श्रीकण्ठ0 6/11
5 श्रीकण्ठ0 6/12
6 "विवृण्वता सौरभरोरदोष वन्दिव्रतं वर्णगुणै स्पृशन्त्या।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे श्रावेण दृष्टेर्ववृधे विवाद ॥" श्रीकण्ठ0 6/13

को "दीपशिखा कालिदास"[1], भारवि को "आतपत्र भारवि"[2], माघ को "घण्टा माघ"[3], रत्नाकर को "ताल रत्नाकर"[4] आदि विशिष्ट उपाधियो से विभूषित किया गया ।

अध्यापन कर्म मे निपुण नायिकाओ के द्वारा पढाये जाने से जो कोकिल अद्यावधि कुछ भी अध्यापन करने मे असमर्थ थी वह भी इस समय वसन्त ऋतु मे बिना अध्यापन के वापी मे कुशलता को प्राप्त किया [5] । यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानव काम का प्रभाव तीनो लोको मे व्याप्त है । अशोक पुष्प की रज से काम रूपी गज का मुख सिन्दूरित हो गया । अशोक पुष्प के रज के उद्दीपन से माननीयो का मान भड्ग हो गया इसी प्रतिवस्तु उपमा अलकार के प्रदर्शन व्याज से अन्तिम चरण मे कवि यह स्पष्ट करता है कि जैसे उदय कालिक सूर्य अन्धकार को दूर कर देता है उसी तरह से यह अशोक पुष्प की रज बालातप को प्राप्त कर माननीयो का मान भड्ग करता है । यहाँ अन्धकार के द्वारा माननीयो के मान का निरूपण किया गया है और दोनो मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का समन्वय है । इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने भी अपने शब्दो मे वसन्त ऋतु का सुन्दर चित्रण किया है –

"पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्य ।
स्फुरत्प्रबालोष्ठमनोहराभ्य ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापु
र्विनम्रशाखा भुजबन्धनानि ।।"[6]

महाकवि मखक की उत्प्रेक्षा है कि वसन्त ऋतुओ मे मानो तापातिशय से गिरते हुए तुषार जल के रूप से गिरती हुई शीतलता से कोकिल के शब्दो को बढाती हुई भूमि

1 रघु0 – म0 कालिदास 6/67
2 किरात0 – म0 भारवि 5/39
3 शिशु0 – म0 माघ 4/20
4 हरविजय – म0 रत्नाकर 19/5
5. श्रीकण्ठ0 6/14
6 कुमारसम्भव – कालिदास 3/39

विरह की चिन्ता से पृथ्वी पर लिखती हुई विरहिणियो के रूदन का स्थान है ।[1] अकारण आमवृक्ष के ऊपर सौरवन के लोभ से भ्रमण करती हुई भ्रमर की पक्ति पूर्णपान के लिए अपनी देह की ही कल्पना कर ली । तात्पर्य यह है कि उपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति उपकृत व्यक्ति समस्त रूप से अपने देह को समर्पित कर देता है ।[2] ऋतुराज वसन्त कामदेव का नवीन अमात्य है । चचल भ्रमर समूहो के भ्रकुटि की छटा से यह ऋतु चक्रवर्ती समस्त युवतियो का मान का खण्डन कर देता है जैसे कि नवीन सचिव अपने भ्रकुटि विक्षेप से समस्त लोको का मान खण्डन कर देता है, उसी प्रकार से यह वसन्त भी लोगो के मान विनष्ट कर देता है ।[3] इसी प्रकार महाकवि भारवि ने स्वग्रन्थ मे वसन्त ऋतु का सुन्दर चित्रण किया है । जो उत्प्रेक्षा , रूपक अलकारो से परिपूर्ण है जैसे --

विकसितकुसुमाधर हसन्ती
कुरबकराजिवधूविलोकयन्तम् ।
ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्ण
सशरमनङ्गमशोकपल्ल्वेषु ।।[4]

अप्सराये मानो यह दृश्य देख रही है कि अशोक के पत्तो पर कामदेव अपना बाण लिए बैठा है और वह विकसित पुष्परूपी अधरो से हँसती हुई कुरबक पुष्प रूपी वधू को देख रहा है । एक ओर काम की कामुकता है तो दूसरी ओर वधुओ पर काम बाण निक्षेप है, इससे स्पष्ट होता है कि महाकवि मखक के श्रीकण्ठचरितम् और महाकवि भारवि के किरातार्जुनीयम् की साम्यता है, दोनो महाकवियो ने वसन्त ऋतु का सुन्दर चित्रण किया है । वसन्त ऋतु मे अङ्गनाऐ क्रीडा करती है इसीलिए झूला झूलने से ऊपर की

---

1 श्रीकण्ठ0 6/24
2 श्रीकण्ठ0 6/25
3 श्रीकण्ठ0 6/26
4 किरात0 भारवि 10/32

आर जाती हुई स्त्रियॉ अप्सरा की तरह परिलक्षित होती है । अप्सराये स्वर्ग मे होती है स्त्रियो के क्रीडा से यह प्रतीत होता है कि कामदेव ने विश्वामित्र की तरह आकाश मे दूसरी सृष्टि कर दी है । महर्षि विश्वामित्र ने त्रिशकु के स्नेह से निश्चित रूप से आकाश मे दूसरे स्वर्ग की रचना की । प्राचीन काल मे स्त्रियो एव अप्सराओ का भेद आकाश मे सचरण मात्र से था । इस समय अप्सराये क्रीडा करती हुई स्वर्ग को स्पर्श करती हुई प्रतीत हो रही है ।[1]

ऋतुराज वसन्त स्वाभाविक ही मादक होता है । रति सर्वस्व राजा काम के सेनापति तथा सान्धिविग्रहिक विदेशमन्त्री मलयपवन एव भ्रमरादि वर्ण्यकेन्द्र होते है । महाकवि मखक ने प्रसादगुण पूर्ण शैली मे वसन्त ऋतु का क्या मनोहारी चित्रण किया है –

"वसन्त के मधुर शौर्य सम्भार का क्या कहना, उसने जड प्रकृति के पचभूतो मे भी चित्तविकार उत्पन्न कर दिये है । वायु स्वय सुखमय हो रहा है, आकाश विमल है, जल सुरम्य हो रहे है, तेज तरूण हो रहा है और पृथ्वी नवशस्यश्यामलपरिधाना हो रही है । मदमस्त पसन्त राज ने राज्यपुरोहित उस द्विरेफ को बना रखा है जो धूसरलक्ष्मीक है, सदा मधु मद्य पराग मे ही लीन रहता है । और प्रत्यक्ष ही पुष्पवती लताओ का सेवन किया करता है ।[2] इस प्रकार वसन्त ऋतु का आलम्बनात्मक वर्णन किया है ।

सम्राट रतिनाथ के द्वारा सूझ बूझ के साथ नियुक्त सुबुद्ध सेनापति ऋतुराज ने काम सचिवालय के विभिन्न विभागो को उन उन विभागो के उपयुक्ततम अधिकारी चन्दन,

---

1. श्रीकण्ठ0 6/56

2 श्रीकण्ठ0 6/37,38

मलयपवन, नक्षत्रराज, तरूण कोकिल, भ्रमर और अशोक चम्पकादि मे बॉटकर समग्र जगत ही स्मरयोग्य बना दिया ।[1] यहाँ पर वसन्त का उद्दीपक भावापन्न वर्णन प्रस्तुत किया है ।

भनभनाते हुए कृष्णकलेवरभ्रमण से युक्त पीताभचम्पक गुच्छ कामदेव का कामानुशासन लिखने को उद्यत हैम मसीपात्र सा लगता था – सभ्रमरचम्पक सभी को सकाम बनाता था ।[2] अनूठी उत्प्रेक्षा और उद्दीपकभाव से युक्त वर्णन है । जिनके नवकिशु करदपुट ईषत्स्फुरित हो रहे है, चचलालिभावा जिनकी चपल भूलताए है, परन्तु विकसित अरविन्द जिनके निष्पन्ददृग् है वे ऐसे गम्भीर मुद्रावाले कवि श्री वसन्त निश्चय ही कोई श्रृगार काव्य प्रणयनोद्यत से लग रहे है ।[3] वसन्त ऋतु का क्या श्रृगार रस पूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया । आता हुआ मलयपवन, स्वचापग्रहणार्थ व्यग्रता से फैलाई गई दीर्घकाम भुजा सा शोभित हो रहा था । जिस प्रसरित पवनभुजा मे सौगन्ध्य लोलुपसकुलालिसमूह निविडमौर्वीचिह्न से लग रहे थे ।[4] अर्थात् कितनी निरपराधविरहिणिनियो का प्रतिघात इस भुजा के द्वारा हो चुका है ।

महाकवि मखक ने वसन्तराज का उद्दीपकात्मक सश्लिष्ट चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत किया है । कुरवक वृक्ष नवविकसित कलिकाओ के द्वारा आमन्त्रित भ्रमरो के द्वारा समाच्छन्न होकर मूर्ति रूप मे शोभित हो रहा था । लगता था कि वे भ्रमर, भ्रमर न होकर आलिगन करने वाली नायिका के स्तनाग्र का सन्क्रान्त कस्तूरिका लेप ही है । अत कुरवक के सभ्रमर पुष्पगुच्छों ने भ्रमररूप मे विद्यमान कुच कस्तूरिका के द्वारा स्पष्ट ही सिद्ध कर

---

1 श्रीकण्ठ0 6/50
2 श्रीकण्ठ0 6/51
3 श्रीकण्ठ0 6/4
4 श्रीकण्ठ0 6/66

दिया कि उसे किसी नवयौवना ने अवश्य आलिगन किया है ।[1] महाकवि मखक द्वारा छठवे सर्ग मे प्रस्तुत वसन्त वर्णन सर्वथा पारम्परिक है ।

(घ) **चन्द्र वर्णन -**

निश्चय ही तब रात्रि के द्वारा चन्द्रमा के रूप मे कामदेव का कोषघट ही ऊपर स्थापित किया गया । क्योंकि उस घट के रक्षक कलकसर्प ने तत्काल ही विरहिणियो को डस जो लिया ।[2] निखातधनकोषो पर सर्प बैठे रहते है । वे उस धन के ग्रहणकर्ता को काट खाते है । चन्द्रोद्दीपिता विरहिणियो की मूर्च्छा तथा मृति प्रभृति चन्द्रकलक के सर्पत्व के साधक तथा सर्प चन्द्र के कामनिधानघटत्व के साधक है । उद्दीपनरूप मे चन्द्र का सम्बन्धातिशयोक्ति प्रधान वर्णन है ।

हे चन्द्र । निश्चय ही तुम्हारी किरणे नवकेतकखण्डो से बनाई गई है , क्योंकि शुभ्रज्योत्स्ना हमारे शरीरो को काटो के समान दुख दे रही है ।[3] केतक मे कॉटे होते है और केतक रज शुभ्र होती है । समुद्रमन्थन के पश्चात् निश्चय ही यह चन्द्र के रूप मे बडवाग्निभस्मपिण्ड ही निकला था । क्योंकि विरहिणी अश्रुओं से इसकी भी तृप्ति नही होती है ।[4] एकान्त मे मुझे रिझाने के विचार से प्रियतम ने ठीक ही मेरे मुख को कमल कहा था । क्योंकि यह नायिका का मुख चन्द्रमा का सम्पर्क पाकर मलिन जो हो जाता है ।[5] भगवान् त्रिनेत्र ने व्यर्थ ही क्रुद्ध होकर कामदेव का निग्रह किया था । वह काम तो तुम चन्द्र के द्वारा पुनरपि अजरामर बना दिया गया है ।[6] दीन वह विरहिणी प्रतिरात्रि

---

1 श्रीकण्ठ० 6/53
2 श्रीकण्ठ० 10/45
3 श्रीकण्ठ० 11/57
4 श्रीकण्ठ० 11/58
5 श्रीकण्ठ० 11/60
6 श्रीकण्ठ० 11/63

चन्द्रकान्त मणिकुट्टिम मे प्रतिबिम्बित हो, ज्योत्स्ना सम्पर्क से भयभीत होकर पाताल मे प्रवेश की इच्छा वाली सी प्रतीत होती है ।[1] पाताल मे चन्द्रमा के अभाव से ज्योत्स्ना सम्पर्क न होगा । तब उसे दाह भी न होगी । महाकवि मखक ने चन्द्र का उद्दीपक प्रधान वर्णन किया है ।

चन्द्राशीर्वादकुलक[2] मे कवि ने 18 पद्यो मे चन्द्र का आलम्बनात्मक भव्य एव हृदयग्राही चित्रण किया है । सस्कृत साहित्य मे यह वर्णन अनुपम एव अतुलनीय है । जैसे – "जो नक्षत्रो का राजा है और प्रतिदिन पशिचमदिशा का आश्रयण करता है । जो अत्यन्त विस्तृत मण्डल वाला है और सदा तमोनाश मे ही प्रयत्नशील रहता है, जो कमलो का आयासकर्त्ता है और जो श श के द्वारा आवासित है, ऐसा वह विचित्र चरित्र शीतल रश्मि चन्द्र आपके ताप को दूर करे । श्लेषार्थ – जो ब्राह्मणो का राजा होकर भी नित्य मदिरासक्त रहता है, जो पद्मा को सदा ही दुख देता है यद्यपि वह विष्णु के द्वारा अध्यासित है, ऐसा वह शिशिरकिरण विरोधाभासी है ।" [3]

कवि निबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध चन्द्र का आलम्बन प्रधान वर्णन – गगन भूरूह का यह श्वेतपुष्प चन्द्र विजयी हो, मध्यकलक तो मानो साक्षात भ्रमरपुज ही है ।[4] कौन भगवान् शिव के शेखर चन्द्र की स्तुति नहीं करता, कि जिसकी सुधा के प्रभाव से मृतमुण्ड भी सप्रमाण हो उठता है ।[5] हे शिशिररूचि । आप जैसा अन्य कौन क्रीडा सागर है कि जिसके लिए उजालीरात्रियो मे स्वय सागर भी क्रीडा कन्दुक बन जाता है ।[6]

---

1 श्रीकण्ठ0 12/30

2 श्रीकण्ठ0 12/56–73

3 श्रीकण्ठ0 12/71

4 श्रीकण्ठ0 12/74

5. श्रीकण्ठ0 12/80

6 श्रीकण्ठ0 12/76

(ङ) **सूर्यास्त वर्णन –**

दिन भर विस्तृत नभ का अतिक्रमण करते–करते अत्यन्त शिथिल पादपल्लव होकर सूर्य सायकाल, मधुर निर्झर नाद स्वागत से प्रह्वहित हो, विश्रामार्थ अस्ताचल को प्राप्त हुआ। उदीयमान चन्द्र के प्रभाव से द्रवित चन्द्रकान्त मणियो के जल के छिडकाव के कारण, अस्ताचल पर्वत पर सूर्य की रश्मियो की ऊष्मा शान्त हो गई।[1]

पश्चिम सागर के लिए प्रस्थित सूर्य के साथ--साथ अपने पिता सागर से भेटने की अभिलाषुका लक्ष्मी ने स्वनिवास्–पद्म के पटलपट बन्द करके उसे छोड दिया।[2] सूर्यास्त होने पर कमल स्वाभाविक ही सकुचित हो जाते है। जाने के लिए उद्यत प्रियपति को द्युतिपटाचल पकडकर रोकने की इच्छावाली कमिलिनियॉ अन्त मे सकुचित कर पटलाविकल हो गई।[3] रविकर के सम्मुख अरविन्दनी ने अपना पद्मपाणि जा धारण किया सो मानो उसने स्ववल्लभ सूर्य से पुन प्रत्यावर्तन का सूचक धर्म हस्त सकेत ही ग्रहण किया था। मानो यात्री हाथ उठाकर स्वप्रिय को धैर्य देता और पुन लौटने की प्रतिज्ञा करता है। नेत्रकमलनिमीलन से विक्षुब्ध महाराज दिवस अपनी सूर्य पद्मरागमणि पीठिका के पादकिरण भग्न हो जाने के कारण निराश्रय हो गये।[4]

आदिवसान्त स्वप्रियतमा सकण्टका पद्मिनी के साथ राग–विराग मे विक्षतकर सूर्य दैवगतिवश आकाश से पश्चिम सागर मे गिरते समय कुछ भी पकड कर स्वरक्षा में सर्वथा असमर्थ रहा क्योंकि उसके कर विक्षत जो थे।[5]

महाकवि मखक ने सूर्यास्त का आलम्बनात्मक वर्णन किया है। सस्कृत कवि परम्परा के अनुकूल कितनी भव्य समासोक्तियॉ है।

---

1 श्रीकण्ठ0 10/1,2
2 श्रीकण्ठ0 10/3
3 श्रीकण्ठ0 10/5
4 श्रीकण्ठ0 10/7,8
5 श्रीकण्ठ0 10/15

(च) <u>सागर वर्णन –</u>

विमान से यात्रा करने वाले व्यक्तियो की स्त्रियो के कुचो पर, ज्वार से उठी लहरो के द्वारा समुद्र शतश मणि – मुक्ताए उछाल देता है । वे मणि मुक्ताए उन कामिनियो के गले मे बिना प्रयत्न ही हारलता की शोभा धारण करती हैं ।[1]

सप्तर्विमण्डल तक उठी हुई समुद्र की लहरो के पद्मरागानुरजित जल को सप्तर्षियो ने, मदिरावशिष्ट समझकर , सन्ध्या के समय के आचमन के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी स्पर्श तक नही किया ।[2] समुद्र–मन्थन से मदिरा निकली थी । इसी मदिरा का अवशिष्ट ही समुद्रजल को ऋषियो ने समझा इसीलिए अधर्म मान कर स्पर्श तक नही किया ।

उत्तुग लहरो के द्वारा लाए गये पद्मराग मणियो के अरूणवर्ण से अनुरजित हो शुक्रबुधादि नक्षत्र भी मगल का ही भ्रम पुष्ट करते थे । यद्यपि वे स्वभावत श्वेत ज्योति है । मगलनक्षत्र रक्तवर्ण होता है । अन्तसुप्त भगवान् विष्णु के नाभिकमल की गन्ध वाली लहरो के आकाश मे छा जाने पर, सन्तानकबल्लिपुष्पो को भी छोडकर भँवरे उन लहरो पर झपट पडे ।[3]

बडवाग्निज्वालाओ से युक्ताग्रभागवाली लहरे, सोते हुए हरि के पलग के निकट रखे हुए दीपको के दीपक–दण्ड सी लगती थी ।[4] उत्तुगचचल लहरो पर स्थित जलपरियाँ अपने पतियो के साथ–साथ ही अयत्नपूर्वक दोला क्रीडा सुख को प्राप्त हुई ।[5] विमानो

---

1 श्रीकण्ठ0 12/36
2 श्रीकण्ठ0 12/38
3 श्रीकण्ठ० 12/40, 41
4 श्रीकण्ठ0 12/43
5 श्रीकण्ठ0 12/49

के द्वारा व्यापार करने वाले व्यापारियो की स्त्रियो के मुखो मे अनेको चन्द्रमण्डलो का भ्रम करके समुद्र ने किन विमानो के अन्दर स्वतरगो को नही फेका ।[1] सर्वत्र ही उडते हुए विमानो के अन्दर तरग जल भर गया ।

महाकवि मखक ने उपर्युक्त समुद्र का आलम्बनात्मक वर्णन किया है ।

(छ) <u>तम वर्णन –</u>

क्या यह काल गणनापति का हैमसूर्यमषीपात्र उलट गया है कि जिसमे से निकलकर यह तममषी विश्व को सर्वथा श्याम बना रही है ।[2] बुझती हुई अर्थात् सूर्यास्त के कारण सूर्यकान्ताग्नि का धूमपुज सा यह अन्धकार समूह चक्रवाको की ऑखो मे अश्रुओ का सृजन कर रहा है ।[3] वास्तव मे रात्रि के आगमन के कारण चक्रवाक दुखित हो अश्रुपात करते है ।

उष्णकर की रश्मियो के पी जाने अर्थात् अन्धकार के द्वारा निगल लिए जाने के कारण उष्ण सा होकर अन्धकार ने, भ्रमरो के रूप मे, खिले हुए कुमुदो के उदरो मे ताप शान्ति के निमित्त करवटे अदली–बदली ।[4]

महाकवि मखक ने उपर्युक्त आलम्बन प्रधान तम का वर्णन किया है ।

द्यावापृथिवी को जीतने की इच्छा वाले रतिपति की सेना की धूलि के रूप मे यह अन्धकार सर्वत्र छा गया । क्योकि सभी प्राणियो के द्वारा उसी के भय से ही

---

1 श्रीकण्ठ0 12/51
2 श्रीकण्ठ0 10/19
3. श्रीकण्ठ0 10/21
4 श्रीकण्ठ0 10/31

निद्रा के ब्याज से आँखे बन्द कर ली गई ।[1] यह अन्धकार का उद्दीपक वर्णन है,

(ज) **प्रभात वर्णन -**

महाकवि मखक ने प्रस्तुत महाकाव्य मे सोलहवे सर्ग के अन्तर्गत प्रभात वर्णन किया है - निशा नायक चन्द्र के अस्त हो जाने के बाद जगत जननी माता पार्वती वन्दिनियो के साथ भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए प्रभात कालोचित राग से प्रभात गान किया है । हे रूद्र । तुम निद्रा को छोडो, अन्धकार के दूर हो जाने पर आपके कण्ठ की कान्ति चारो दिशाओ मे स्फुरित होती है अर्थात् चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तुम्हारा चूडा चन्द्र ही इस समय शोभित होता है ।[2] यह चन्द्रमा जल के फेन की तरह समुद्र मे निमग्न हो जाता है । सूर्य की प्रभा भी अभी नही उदित होती इसीलिए सकेत स्थल से अभिसारिकाओ का वापस आने का यह समय है । वे उत्कण्ठा वाली अभिसारिकाये वापस आने के समय मे एक भी पद रखने मे असमर्थ थी ।[3] हे नाथ । चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया है, इसलिए समुद्र भी तरग हीन हो गया है, विरह के वशीभूत चक्रवाक गर्म साँस को छोड रहा है, सूर्य कान्त की मणियाँ कान्ति को विस्तारित कर रही है । उदयाचल से गर्म किरणे निकल रही है प्रभात हो गया है इसलिए आप भी दृष्टि विक्षेप कीजिये । कमल युक्त सरोवर मे रागयुक्त पुष्प सकुचित हो गये है उनके उदर मे भ्रमर समूह गुञ्जार कर रहे है । अतएव निद्रा का समय नही है ।[4]

सूर्य की ज्वाला समूहो से नीराजित ग्रहो का चक्रवर्ती सम्राट यह दिनकर उदित हो गया है, चन्द्र अस्ताचल पर्वत मे डूब चुका है ।[5] महाकवि मखक के समान माघ ने भी प्रभातवर्णन का सुन्दर चित्रण किया है -

---

1 श्रीकण्ठ0 10/30
2. श्रीकण्ठ0 16/1
3 श्रीकण्ठ0 16/3
4 श्रीकण्ठ0 16/7
5. श्रीकण्ठ0 16/9,10

"उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा

वहिमरूचौ हिमधाम्नियातिचास्तम् ।

वहति गिरिरय विलम्बिघण्टा

द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ।।"[1]

महाकवि माघ ने रैवतक पर्वत के एक ओर सूर्योदय और दूसरी ओर चन्द्रास्त को देखकर महाकाय हाथी के दोनो ओर लटकते हुए दो विशाल घण्टो की कल्पना की है । महाकवि मखक ने प्रभात वर्णन मे कल्पना की ऊँची उडान भरी है । भगवान् सूर्य के उदित हो जाने पर उनके सातो अश्वो के उच्छ्वास से आकाश मे स्थित वे तारे तिरोहित हो गये जो स्त्रियो के द्वारा परित्यक्त कुसुम ही आकाश मे तारो की तरह शोभित थे । इस समय भगवान् के उदित हो जाने पर उनके सातो अश्वो के उच्छ्वास से आकाश मे स्थित वे तारे तिरोहित हो गये है । उषा काल मे पूर्व दिशा मे जो रक्त वर्ण दिखाई पडता है उसके प्रति कवि की यह उत्प्रेक्षा है कि रात्रि कामिनियाँ निश्चित रूप से आकाश मे मदिरापान की थी क्योंकि मदिरासेवन के लिए जिन उपकरणो की आवश्यकता होती है वे सभी आकाश मे विद्यमान थी । चन्द्रमा पान पात्र का स्थान था, तारा पक्तियाँ पुष्प शैय्या थी, रात्रि भामिनी थी, इसलिए प्रभात है । यह अरूणिमा मदराग ही थी ऐसा समझना चाहिए ।[2] यह सिद्धान्त है कि सूर्य के उदय होने पर कुमुदिनी सकुचित हो जाती है । इसकी उत्प्रेक्षा करते हुए कवि कहता है कि गौरी नाथ । सामने दिखलाई पडने वाली कुमुदिनी सूर्य की नववधू है, ऐसा माना जाता है जैसे सखियो से घिरी हुई कोई नवोढा पति के द्वारा आलिगन पर लज्जित होती है वैसे सूर्य रूपी पति के किरण रूपी दीर्घ हस्त से आलिगित यह कुमुदिनी भ्रमर के योग होने पर ही सकुचित होती है ।[3] खिले हुए कमल पुष्प के पराग को इधर उधर बिखेरते हुए पवन मन्दगति से

---

1 श्रीकण्ठ0 4/20

2. श्रीकण्ठ0 16/14

3 श्रीकण्ठ0 16/2

बह रहा है । उत्प्रेक्षा के द्वारा वहाँ हेतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि कमल पुष्प के मध्य मे स्थित भ्रमरो के मधुर झकार को सुनने के लिए गीतात्म मुग्धक मृग मन्द गति वाले हो गये ।[1] हे नाथ ! इस समय निद्रा का परित्याग करे । आपके नेत्रो मे सूर्य, सोम, अग्नि रूप तीन धाम निवास करते है अत अपने तीनो नेत्रो के विकास से इन्द्र प्रमुख देवों पर अनुग्रह करे क्योकि वे देवता आपके नेत्रोन्मीलन के लिए अञ्जलिबद्ध आपकी स्तुति कर रहे है । इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु , कार्तिकेय, वरूण , कुबेर, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी देवता भगवान् शङ्कर की निद्रा परित्याग की कामना कर रहे है । महाकवि मखक ने इसी आधार पर विविध उपमानो एव उत्प्रेक्षाओ द्वारा प्रभात काल का सुन्दर वर्णन किया है ।

शुभ्र फेनपिण्ड के समान चन्द्रमा धीरे-धीरे समुद्र मे डूब गया । अभी उष्णरश्मि के आलोक से प्राची दिशा अनुरजित नही हो पायी है । अब केवल क्षण मात्र के लिए ही अन्धकार शेष है । यही चचल नेत्र अभिसारिकाओ के लिए स्वप्रियो के गृहो से प्रतिनिवर्तन का उचित काल है ।[2] उन्हे तत्काल स्वगृहो को वापस आ जाना चाहिए ।

समुद्र मे जल निस्तरग हो रहा है क्योकि चन्द्र प्रभाव घट गया है और चन्द्रमा आकाश मे डूब रहा है । चक्रवाक के आनन मे, वियोग रात्रि के समाप्त हो जाने के कारण, उष्णनिश्वास पवन भी समाप्त हो रहा है । परन्तु सूर्यकान्तमणियो मे वहिन तथा उदयाचल पर सूर्य तथा दृष्टिपथ मे द्यावापृथिवी प्रकाशित हो रहे है । हे त्रिनयन । आपकी यह आठो मूर्तियाँ निश्चय ही भिन्न भिन्न है – क्योकि जल, चन्द्र औरपवन तो निमीलित तथा अग्नि, सूर्य एव द्यावापृथिवी उन्मीलित हो रही है ।[3] सूर्यकान्तज्वाला

---

1 श्रीकण्ठ0 16/24
2 श्रीकण्ठ0 16/3
3 श्रीकण्ठ0 16/5

मालाओ के द्वारा नीराजना किया जाता हुआ यह ग्रहराजसूर्य उदय को प्राप्त हा रहा है और रात्रि मे जो चन्द्र सुन्दरियो की मुखद्युति का चोर बना था, वह चन्द्र इस समय अन्धेरी कन्दराओ मे छिप रहा है ।[1] यह शिक्षाप्रद है कि सज्जन सदैव सम्मान पाता है और चोर स्वय ही लज्जा के वशीभूत होकर डूब मरता है ।

यह प्रभापति सूर्य उदयगिरि की चोटी पर पहुँचने के लिए अपने रथ का अनन्य सदृशवेग से चला रहा है । उसके रथचक्रो के वेग से गिरने वाले पत्थरो की घडघडाहट को ही तो सुनकर कमलकुल उद्बुद्ध हो उठता है ।[2] अपने प्रियतम सूर्य की सहायता करने के लिए निश्चय ही कमलिनी वर्ग, अपने मुखो को उद्घाटित कर तम को पी जाने का प्रक्रम कर रहा है । यह निशकभाव से उनमे प्रवेश करते हुए, भ्रमर शतश पीत उस तम की ही तो राशियाँ दीख रही है ।[3]

उपर्युक्त प्रभात का शुद्धालम्बनात्मक वर्णन हुआ है । ब्रह्मा, विष्णु, गणेश आदि सभी देवता शङ्कर के भ्रूविक्षेप की कामना से उनके चरण चचरीक हो गये । ऐसा विविध उपमानो एव उत्प्रेक्षाओ से वर्णन किया गया है ।

(झ) जलक्रीडा वर्णन :-

अचलराजकन्या पार्वती के साथ-साथ स्वय भगवान् ने जलकेलिकुतूहल से पूर्ण हो, आकर मानसरोवर के पुलिन को सुशोभित किया । नेत्राग्नि ज्वालाओ के प्रतिफलन से पीतजलवाले मानसर को, जो जलक्रीडा के लिए सजाये हुए सुमेरू पर्वत के सदृश शोभित था , चूडाचन्द्र को धारण करते हुए भगवान् ने पार्वती के साथ निमज्जन करके पवित्रता प्रदान की । उस सरोवर की प्रसन्नता का द्योतक विपुल शुभ्रफेन छा गया ।

---

1 श्रीकण्ठ0 16/9
2 श्रीकण्ठ0 16/13
3 श्रीकण्ठ0 16/20

उस शुभ्रफेन पुष्पोत्कर को तरगबाहुओ से बिखेर कर उसने शिवजी की पूजा की तथा हरितवर्णा लहरियो के हरिन्मणिककणो को भेट के रूप मे पार्वती को सादर अर्पित किया।[1] मखक ने नवम् सर्ग के अन्तर्गत जलक्रीडा वर्णन प्रस्तुत किया।

(ज) **दोलाक्रीडा वर्णन -**

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के सप्तम् सर्ग मे दोलाक्रीडा वर्णन आया है। उसमे भगवान् कैलाशाधिपति शिव मॉ पार्वती के साथ कैलाश पर्वत की वसन्त ऋतु की शोभा को देखने के लिए गये। शङ्कर के मस्तक पर स्थित तीसरे नेत्र की कान्ति से यह चन्द्रचूड बगीचे की वृक्ष पक्ति को पल्लवाङ्कुरण से युक्त कर दिया शिखरस्थ चन्द्रमा की दीप्ति से वे पुष्पो से भी सयुक्त हो गये। अग्नि की कान्ति रक्त होती है, चन्द्रमा की रश्मियॉ श्वेत होती है। इसलिए दो प्रकार की रश्मियो से दोनो प्रकार के कार्य की निष्पत्ति उत्प्रेक्षा मुख से कवि यहाँ वर्णन करता है। रक्त के सयोग से पल्लवत्व को प्राप्त हुई एव श्वेत के सयोग से पुष्पत्व को प्राप्त किया।[2] भगवान् शिव के तीनो नेत्रो के एव गौरी देवी के सौम्य दृष्टिपात से कामदेव के हृदय मे भय एव अभय की सन्धि उत्पन्न हुई अर्थात् अशोक पर वास करने वाला कामदेव भगवान् शङ्कर के दृष्टिपात से डरा हुआ एव मॉ गौरी के दृष्टिपात से निडर सा हो गया।[3]

भगवान् चन्द्रचूड के वसन्तवर्णन से प्रसन्न भगवती पार्वती अपने मनोविनोद के लिए दोलाक्रीडा की अभिलाषा नन्दी के माध्यम से भगवान शिव से निवेदित करती हैं।[4] भगवान् शकर माता पार्वती के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करके कहते है कि

---

1 श्रीकण्ठ0 9/45,50,51

2 श्रीकण्ठ0 7/2

3 श्रीकण्ठ0 7/3

4 श्रीकण्ठ0 7/5

हे चन्द्रमुखी पार्वती ! नन्दी जो कहता है वह तो सर्वथा प्रसड्ग के अनुकूल है । इस समय आप अपने दोलाक्रीडा से मेरे नेत्रो को अमृत पान कराइये जब तक मै आप की दोलाक्रीडा का अवलोकन नही कर लेता हूँ । तब तक अपने नेत्रो के उपवास की ही कल्पना करता हूँ ।[1] इसके बाद भगवान् शकर के इस प्रकार के अनुकूल प्रस्ताव को स्वीकार कर रोमाच शरीर वाली भगवती पार्वती आनन्दपूर्वक दोला पर आरूढ हो गई ।[2] जैसे बादल रहित आकाश विद्युत कान्तियो से अत्यधिक शोभा को धारण करता है उसी प्रकार स्वर्ण वर्ण वाली भगवती पार्वती दोलारोहण से आकाश अत्यधिक उद्दीपित हो रहा है ।[3] भगवती पार्वती शरीर सौन्दर्य लोकोत्तर है इसलिए दोलाधिरूढ पार्वती के ऊपर नीचे जाने से ऐसा परिलक्षित होता है कि समस्त दिशाओ को व्याप्त करती हुई कोई लोकोत्तर लावण्य सागर आकाश मे व्याप्त हो गया ।[4] दोला के ऊपर जाने के समय भगवती पार्वती के मुख चन्द्र से पराजित होकर यह रजनीकर चन्द्र पर्वत पुत्री के नूपुर ध्वनि के द्वारा श्वेत हस की तरह हो गया ।[5] दोला पर चढने के समय आनन्द से उडते हुए उत्तरीय से झकार करते हुए रसनाओ से मञ्जीर की ध्वनियो से यह पार्वती कामदेव के तीनो लोको के विजय वैजयन्ती की तरह अत्यधिक शोभित हुई ।[6]

---

1 श्रीकण्ठ0 7/53--55
2 श्रीकण्ठ0 7/61
3 श्रीकण्ठ0 7/62
4 श्रीकण्ठ0 7/63
5 श्रीकण्ठ0 7/64
6 श्रीकण्ठ0 7/66

षष्ठ अध्याय

अलङ्कार निरूपण

अलड़्कार निरूपण

(क) सस्कृत काव्यशास्त्र मे अलड़्कार –

सस्कृत काव्यशास्त्र मे अलड़्कारो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य--शास्त्र के लिए प्रचलित अपर नाम "अलड़्कारशास्त्र" भी अलड़्कारो के महत्त्व को सिद्ध करता है। आचार्य राजशेखर ने इसे वेद का सातवॉ अड़्ग मानते हुए कहा है कि अलड़्कार वेद के अर्थ का उपकारक होता है तथा अलड़्कारो के अभाव मे वेदार्थ का बोध नही हो सकता है।[1] "अलड़्कार" शब्द "अलम्" अव्यय "कृ" धातु और घञ् प्रत्यय के योग से बना है। "अलड़्क्रियतेऽनेनेत्यलड़्कार" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा शब्दार्थ का अलड़्करण हो, वह अलड़्कार है। आचार्य रूद्रट ने कवि प्रतिभा से उदभूत कथनविशेष को ही अलड़्कार माना है।[2] कथन के विविध ढग है, अत अलड़्कार भी अनेक हो सकते है। आचार्य आनन्दवर्द्धन वाणी की अनन्त शैलियो को अलड़्कार मानते हुए उसकी सड़्ख्या भी अनन्त मानते है [3]

सर्वप्रथम अलड़्कारो का विवरण "अग्निपुराण" एव "नाट्यशास्त्र" मे मिलता है परन्तु इन ग्रन्थो मे रस की अपेक्षा अलड़्कारो को अधिक महत्त्व नही दिया गया है। अग्निपुराण तथा नाट्यशास्त्र के पश्चात् सर्वप्रथम अलड़्कारो का व्यवस्थित विवेचन भामह के काव्यालड़्कार मे प्राप्त होता है। आचार्य भामह को अलड़्कार सम्प्रदाय का प्रधान प्रतिनिधि माना जाता है। अलड़्कार सम्प्रदाय से तात्पर्य उस सिद्धान्त से है जिसमे रस एव ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के पूर्व अलड़्कारो को ही काव्य का जीवन अथवा प्राण माना जाता था। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलड़्कार ही काव्य मे सर्वाधिक

---

1 उपकारत्वात् अलड़्कार सप्तममड़्गमिति यायावरीय। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगति। – का0 मी0 – राजशेखर

2 अभिधान–प्रकार–विशेषा एव चालड़्कारा। -- काव्यालड़्कार – रूद्रट

3 अनन्ता हि वाग्विकल्पा। तत्प्रकारा एव चालड़्कारा। – ध्वन्यालोक

सौन्दर्य की वस्तु है और रस आदि सब अलड्कारो मे ही अन्तर्भूत है । इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्य है – दण्डी, रूद्रट , उद्भट, जयदेव एव अप्पय दीक्षित आदि । रूद्रट ने अलड्कारो के साथ ही रस का भी समान रूप से विवेचन किया है । पूर्वोक्त अन्य आचार्यों ने रस, भाव, गुण, आदि का न्यूनाधिक रूप से निरूपण अवश्य किया है किन्तु प्रधानता अलड्कारो को ही दी है । आचार्य जयदेव के मतानुसार अलड्कार रहित काव्य की कल्पना उष्णत्वविहीन अग्नि के समान है ।[1]

अलड्कार सम्प्रदाय से भिन्न अन्य सम्प्रदायो मे अलड्कारो की स्थिति इससे भिन्न है । रीति सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले आचार्य वामन ने गुणो को काव्यशोभा का उत्पादक बताकर अलड्कारो को केवल उन शोभा का अभिवर्द्धक माना है ।[2] वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुन्तक समस्त अलड्कारो को केवल वक्रोक्ति का ही विविध रूप मानते है ।[3] आचार्य विश्वनाथ ने अलड्कारो को शब्दार्थ का अस्थिर कर्म माना है ।[4] ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन की दृष्टि मे काव्य मे अलड्कारो का स्थान अत्यन्त गौण है । उनके मतानुसार अलड्कारो की विवक्षा रसपरत्वेन ही होनी चाहिए ।[5] ध्वनिकार के अनुयायी आचार्य मम्मट ने अलड्कारो को काव्य का केवल उत्कर्षाधायक तत्त्व माना है और उन्हे अपरिहार्य धर्म मानने का निषेध किया है ।[6]

(ख) विभिन्न काव्य–सम्प्रदायों मे अलड्कारों की स्थिति –

अलड्कारो का स्परूप एव काव्य मे उनके महत्त्व को जानने के लिए काव्यशास्त्र

---

1 अड्गीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलड्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती ।। – चन्द्रालोक 1/8

2 अ काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा । काव्यालड्कारसूत्र 3/1/1
ब तदतिशयहेतवस्त्वलड्कारा । वही – 3/1/2

3. वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते य सहस्रधा ।
यत्रालड्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ।। वक्रोक्तिजीवित 1/20

4 शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलड्कारास्तेऽड्गदादिवत् ।। सा0द0 10/1

5. विवक्षा तत्परत्वेन नाड्गित्वेन कदाचन । ध्वन्यालोक पृ0280

6. उपकुर्वन्ति त सन्त येऽड्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवद्लड्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ।। का0प्र08/67

के विभिन्न सम्प्रदायो मे अलड्कारो की स्थिति पर विचार करना अपेक्षित है। अग्निपुराण मे वाग्वैदग्ध्यप्रधान होने पर भी काव्य का प्राण रस को ही स्वीकार किया गया।[1] परन्तु एक अन्य स्थान पर अलड्कार रहित सरस्वती को विधवा कहा गया है।[2] अन्यत्र प्रकारान्तर से काव्य मे गुण की स्थिति भी अनिवार्य बताई गई है।[3] निष्कर्षत अग्नि पुराण के अनुसार रस, अलड्कार एव गुण तीनो ही काव्य के लिए आवश्यक है।

रस सूत्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने रस के साथ ही गुण और अलड्कार का भी विवेचन किया है। इन्होने रस को ही प्रधानता दी है। भरतमुनि के मतानुसार रस के अभाव मे कोई भी अर्थ प्रवृत्त नहीं होता।[4] उनकी दृष्टि मे काव्य मे अलड्कारो का स्थान अन्यन्त गौण है, यह इस बात से सिद्ध होता है कि उन्होने मात्र चार अलड्कारो को ही मान्यता दी है – 1– उपमा, 2– रूपक, 3– दीपक एव 4– यमक। अतएव आचार्य भरतमुनि रस को ही काव्य का अपरिहार्य तत्त्व मानते है, अलडकार को नही। आचार्य विश्वनाथ भी रस को ही काव्य की आत्मा मानते है।[5] व अलड्कार शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म मानते है जो अड्गद् (बाजूबन्द) आदि आभूषणो की

---

1 वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। अग्निपुराण 337/33

2 अर्थालड्कार रहिता विधवेव सरस्वती। वही 344/2

3 अलड्कृतमपि प्रीत्यै न काव्य निर्गुण भवेत्। वही 346/1
वपुष्यललिते स्त्रीणा हारो भारयते परम्॥

4. न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र

5 वाक्य रसात्मक काव्यम्। सा०द० 1/3

भाँति काव्य के शरीर भूत शब्द और अर्थ की शोभा बढात है एव काव्य की आत्मा रस के अभिव्यञ्जन मे सहायक होते है ।[1] परन्तु इससे पूर्व ही चतुर्थ परिच्छेद मे उन्होने अलड्काख्ध्वनि और वस्तुध्वनि की सत्ता को स्वीकार किया है ।[2] अलड्कारो का विस्तृत विवेचन भी किया है । किन्तु उन्होने अलड्कारो को काव्य के लक्षण मे कोई स्थान नही दिया और केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा । विश्वनाथ के मतानुसार गुण, अलड्कार और रीतियॉ काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते है ।[3]

अतएव रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलड्कारो के अस्तित्व को स्वीकार तो किया गया है परन्तु अलड्कारो को महत्त्व न देकर रस को ही काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार किया गया है ।

रस सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरा स्थान अलड्कार सम्प्रदाय का है । अलड्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह माने जाते है । उनके प्रसिद्ध टीकाकार "भामहविवरण" के निर्माता उद्भट और तत्पश्चात् दण्डी, रूद्रट, प्रतीहारेन्दुराज एव जयदेव आदि विविध आचार्य अलड्कारवादी आचार्य माने जाते है । इस सम्प्रदाय के अनुयायी रस की सत्ता को मानते है परन्तु उसे प्रधानता नही देते है । इन आचार्यो के अनुसार काव्य का प्राणभूत जीवन धायक तत्त्व अलड्कार ही है । वे अलड्कार रहित काव्य की कल्पना भी नही कर सकते है । आचार्य भामह ने काव्य मे रसो की उपस्थिति को अनिवार्य मानते हुए भी रसो का अन्तर्भाव रसवद्लड्कार [4] मे तथा भावो का अन्तर्भाव प्रेयालड्कार मे करके रसादि की अपेक्षा अलड्कारो को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है । उद्भट

---

1 शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शो भातिशायिन ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलड्कारास्तेऽड्.गदादिवत् ।। सा०द० 10/1

2 वस्त्वलड्कार रूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा । वही 4/7

3. उत्कर्षहेतव प्रोक्ता गुणालकाररीतय ।। वहीं 1/3

4 रसवद्द्दर्शितस्पष्टश्रड्.गारादि रस यथा । काव्यालड्.कार – भामह 3/6

ने रस तथा भाव आदि विषयो को अलड्कारो के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है । उनके विषय मे/अलड्कारसर्वस्वकार रूय्यक का कथन है कि उद्भट ने गुण एव अलड्कारो को प्राय साम्य ही बतलाया है ।[1] आचार्य दण्डी ने अलड्कारो को रस का पोषक कहा है ।[2] परन्तु भामह के पदचिह्नो पर चलते हुए उन्होने रस, भाव आदि को रसवद्लड्कार एव प्रेयालड्कार मे समाविष्ट कर दिया है ।[3] रूद्रट ने अलड्कारो को शब्दार्थ की शोभा का हेतु माना है । अन्य अलड्कारवादी आचार्यों की भाँति वे भी अलड्कारो को प्रमुख तत्त्व मानते है । अलड्कार सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक जयदेव अलड्कारविहीन रचना को काव्य नही स्वीकार करते है । उन्होने अलड्कार को हारादि के समान बताकर उन्हे काव्य के शरीर भूत शब्दार्थ का उत्कर्षाधायक तत्त्व कहा है,[4] परन्तु आचार्य मम्मट ने जो काव्यलक्षण दिया "तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलड्कृती पुन क्वापि " इसमे "अनलड्कृती" पद पर जयदेव को विशेष आपत्ति हुई । जयदेव कहते है कि जो अलड्कारविहीन शब्द एव अर्थ को भी काव्य मानते है वे उष्णताविहीन अग्नि की सत्ता को क्यो नही मानते ।[5] इस प्रकार अलड्कार सम्प्रदाय के आचार्य काव्य मे अलड्कारो को ही प्रधान मानते है, तथा रस एव भाव आदि की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर रसवदादि अलड्कारो मे उनका अन्तर्भाव कर देते है । आचार्य रूय्यक का मत है कि अलड्कार युक्त काव्य ही प्रधान होता है ऐसा प्राचीन मत है –

"तदेवमलड्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मतम् ।"[6]

---

1 उद्भटादिभिस्तु गुणालड्काराणा प्रायश साम्यमेव सुचितम् । अलड्कार सर्वस्व

2 काम सर्वोऽप्यलड्कारो रसमर्थे निषिञ्चिति । काव्यादर्श 1/62

3 मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति । वही 3/51

4 हारादिवद्लड्.कार सन्निवेशो मनोहर । चन्द्रालोक 5/1

5 अड्.गीकरोति य. काव्य शब्दार्थावनलड्.कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती ।। वही 1/8

6. अलड्कारसर्वस्व – भूमिका भागे द्रष्टव्य

अलङ्कार सम्प्रदाय के पश्चात् रीतिसम्प्रदाय का स्थान है । रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन है । उन्होने काव्य मे अलङ्कार को महत्त्व ने देकर रीति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । वे रीति को काव्य का प्राणभूत तत्त्व मानते है । रीति का विवेचन करते हुए उन्होने विशिष्ट प्रकार की पदरचना को "रीति" कहा है उस "विशेष" की व्याख्या करते हुए कहा कि रचना मे माधुर्य आदि गुणो का समावेश ही उसकी विशेषता है ।[1] और यह विशेषता ही रीति है । अत रीतिवादी सिद्धान्त मे गुण एव रीति का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसीलिए रीतिसम्प्रदाय को गुणसम्प्रदाय भी कहा जाता है । वामन ने गुण और अलङ्कारो का भेद बतलाते हुए अलङ्कारो की अपेक्षा गुणो को विशेष महत्त्व प्रदान किया है । उनके मतानुसार गुण काव्यशोभा के उत्पादक होते है ।[2] और अलङ्कार केवल उस काव्य शोभा के अभिवर्द्धक होते है ।[3] एतदर्थ काव्य मे गुणो का स्थान अलङ्कारो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है । आचार्य वामन ने गुणो के दो भेद किये है -- शब्दगुण और अर्थगुण । शब्दगुण मे चमत्कार वर्णयोजना पर आश्रित रहता है । अर्थगुण का क्षेत्र विशाल है । इसमे रस का भी समावेश हो जाता है । अर्थगत रीति के अन्तर्गत ओज, माधुर्य, श्लेष एव कान्ति मे काव्य सौन्दर्य के सभी तत्त्व अन्तर्निहित हो जाते है । अतएव रीति मे अलङ्कारो की तुलना मे काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य अधिक है ।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य कुन्तक है । वक्रोक्ति सम्प्रदाय मे वक्रोक्ति की प्रधानता स्थापित की गई है । यद्यपि आचार्य दण्डी और भामह के समय से वक्रोक्ति को महत्त्व दिया जाता रहा है । दण्डी ने भी वक्रोक्ति के महत्त्व

---

1 रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्टपद रचना रीति । विशेषोगुणात्मा ।
– काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/6–8

2 काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणाः । काव्यालङ्कारसूत्रे 3/1/1

3 तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा । वही 3/1/2

को स्वीकार किया ।[1] भामह ने वक्रोक्ति एव अतिशयोक्ति का पर्याय मानकर इसे समस्त अलङ्कारो की जीवनदायिनी बतलाया है । वामन, रूद्रट आदि आचार्यो ने भी वक्रोक्ति को एक अलङ्कार ही स्वीकार किया है । परन्तु वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने स्वप्रतिभा के बल से वक्रोक्ति के एक नवीन स्वरूप की स्थापना की । उन्होने चातुर्यपूर्ण भङ्गिमा से किये गये कथन को वक्रोक्ति कहा है ।[2] तत्पश्चात् वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र प्रकार का कथन ही वक्रोक्ति है ।[3] अतएव वक्रोक्ति का अभिप्राय है -- कवि कौशल पर आश्रित सामान्य से विलक्षण प्रकार का कथन ।[4] वक्रोक्ति सम्प्रदाय के अनुसार ध्वनि का अन्तर्भाव वक्रोक्ति मे ही हो जाता है । अलङ्कारवादियो द्वारा मान्य रसवदलङ्कारो का उन्होने निराकरण किया है ।[5] उनके मतानुसार रसवत् , प्रेयस इत्यादि अलङ्कार नही अपितु अलङ्कार्य है । इस सम्प्रदाय मे माधुर्यादि गुणों एव अलङ्कारो का भी वक्रोक्ति मे ही अन्तर्भाव किया गया है ।[6] आचार्य रूय्यक ने वक्रोक्ति कार कुन्तक के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहा है

"उपचारवक्रताभि समस्तो ध्वनिप्रपञ्च स्वीकृत ।"

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही एक मात्र अलङ्कार कहा है और दण्डी द्वारा स्वीकृत स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन किया है । वे कहते है कि यदि

---

1 भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् । काव्यादर्श 2/363

2 वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरूच्यते । वक्रोक्तिजीवित 1/10

3 वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणीविचित्रैवाभिधा । वही वृत्ति

4 वैदग्ध्य कविकर्मकौशल तस्य भङ्गी विच्छित्ति । वही वृत्ति

5 अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थसङ्गतेरपि ।। वही 3/11

6 वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते य सहस्रधा ।
यत्रालङ्कारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ।। वहीं 1/20

स्वभावोक्ति भी अलड्कार है तो फिर अलड्कार्यरूप से कौन सी दूसरी वस्तु शेष रह जाती है ।[1] और जिन अलड्कारो को उन्होने स्वीकार किया है, उन्हे भी "भणितिवैचित्र्य के कारण ही स्वीकार किया है , अतएव वे भी वक्रोक्ति मे ही अन्तभूर्त है उन्होने ऐसा अनेक अलड्कारो का निषेध कर दिया जो अलड्कार्य रूप मे दिखाई पडते है तथा अनेक ऐसे अलड्कारो का त्याग कर दिया जो चमत्कार उत्पन्न करने मे अक्षम है । चमत्कार विहीन अलड्कारो मे यथासख्य, हेतु, सूक्ष्म, लेश और सन्देह है । इनमे भणितिवैचित्र्य का अभाव होने से कोई कान्ति नही होती ।[2] वक्रोक्ति सिद्धान्त मे प्रकारान्तर से रस को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है जबकि अलड्कारवाद मे रस का स्थान अत्यन्त गौण है, अलड्कारो के अभाव मे काव्य की कल्पना करना भी दुष्कर है । अतएव वक्रोक्तिसम्प्रदाय मे अलड्कारो को वह गौरव नहीं प्राप्त है जो अलड्कार सम्प्रदाय मे उन्हें प्राप्त होता है ।

सस्कृतकाव्यशास्त्र मे एक अलग ही ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना हुई । ध्वनि सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं, परन्तु 'ध्वनि' अथवा प्रतीयमानार्थ की उद्भावना उनसे पूर्व हो चुकी थी जैसा कि ध्वनिकार ने स्वय ही कहा है -- 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व' । ध्वनिकार से पूर्ववर्ती आचार्यो ने भी पर्यायोक्त, समासोक्ति आदि अलड्कारो के निरूपण मे एक प्रतीयमानार्थ को स्वीकार किया था । परन्तु उनसे पूर्व ध्वनि का प्रबल विरोध भी होता रहा था । आचार्य आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार के विरोधियो की कल्पना की – एक अभाववादी, दूसरे लक्षणा मे ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले और तीसरे वे जो ध्वनि का अनुभव तो करते है किन्तु उसकी व्याख्या असम्भव मानते है । उन्होने इन सभी विरोधो का निराकरण करके स्वप्रतिभा के बल पर ध्वनिसिद्धान्त

---

1 अलड्कारकृता येषां स्वभावोक्तिरलड्कृतिः ।
अलड्कार्यतया तेषा किमन्यदवतिष्ठते ।। वही 1/8

2 भणितिवैचित्र्यविरहान्न काचिदत्र कान्तिविद्यते । – वक्रोक्तिजीवित 3/43

की प्रेरणा वैयाकरणो के स्फोटसिद्धान्त से मिली है । ध्वनि का व्याख्या करते हुए 'सूरिभि कथित' मे 'सूरिभि' पद से उनका अभिप्राय वैयाकरणो से है क्योकि वैयाकरण ही पहले विद्वान है और व्याकरण ही सब विद्याओ का मूल है । वे श्रूयमाण वर्णों मे ध्वनि का व्यवहार करते है ।[1]

ध्वनि का स्परूप बतलाते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि जहाँ अर्थ स्वय और शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस प्रतीयमानार्थ को प्रकाशित करते है, उस काव्यविशेष को विद्वानो ने ध्वनि कहा है ।[2] प्रतीयमानार्थ को उन्होने ऐसी विलक्षण वस्तु बताया है जो रमणियो के प्रसिद्ध मुख, नेत्रादि शरीर के अवयवो से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियो की वाणी मे भासित होता है और प्रसिद्ध वाच्यार्थ से भिन्न होता है ।[3]

ध्वनिकार ने अलङ्कारो को कितना महत्त्व दिया है, और ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्गत अलङ्कारो का क्या स्थान है इसकी विवेचना ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत मे विस्तारपूर्वक मिलती है । वे अलङ्कारो को कटकादि के समान मानते है जो प्रधान भूत रस के अङ्गरूप शब्द और अर्थ मे रहने वाले धर्म है ।[4] उनके मतानुसार ध्वन्यात्मभूत श्रृङ्गार मे शब्दालङ्कारो का अधिक प्रयोग अनुचित है । वे कहते है कि अङ्गी रूप से विद्यमान श्रृङ्गार के सभी प्रभेदो मे प्रयत्नपूर्वक निरन्तर उपनिबद्ध अनुप्रास रस का अभिव्यञ्जक नही होता ।[5] तथा शक्ति होते हुए भी ध्वन्यात्मक श्रृङ्गार मे एव विशेष

---

1 प्रथमे हि विद्वासो वैयाकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ।
ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । ध्वन्यालोकवृत्तिभाग 1/13

2 यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त काव्यविशेष. स ध्वनिरितिसूरिभि कथित ॥ वही 1/13

3 प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्नासु ॥ वही 1/4

4. अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या. कटकादिवत् ॥ ध्वन्यालोक 2/6

5 श्रृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशक ॥ वही 2/14

रूप से विप्रलम्भ श्रृड्गार मे यमकादि का निबन्धन कवि के प्रमादित्व को ही सूचित करता है ।[1] अलड्कारो के प्रयोग की कसौटी निर्धारित करते हुए वे कहते है कि जिस अलड्कार की रचना रस से आक्षिप्तरूप मे बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके, वही अलड्कार मान्य है ।[2] और वही मुख्यरूप से रस का अड्ग भी होता है । इस प्रकार ध्वनि के परिप्रेक्ष्य मे अलड्कार सदैव अड्गरूप मे ही होने चाहिए अड्गी अथवा प्रधान रूप मे नही । अड्गरूप रूपक आदि अलड्कार वर्ग ध्वन्यात्मक श्रृड्गार मे यदि सोच समझ कर उचित रूप मे प्रयुक्त किये गये है तो वे वास्तविक अलड्कारता को प्राप्त होते है ।[3] इस प्रकार रस की तुलना मे अलड्कारो की हीनता को द्योतित करते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन कहते है रूपक आदि की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर ही हो । ये किसी भी स्थिति मे प्रधान रूप मे न हो, उचित समय पर इनका ग्रहण एव त्याग होना चाहिए , काव्य मे आद्योपान्त इनके निर्वाह की इच्छा नहीं करना चाहिए और यदि कही अनायास ही आद्यन्त अलड्कारो का निर्वाह हो जाये तो भी उन्हे अड्गरूप मे ही होना चाहिए । रूपकादि अलड्कारो के अड्गत्व का यही साधन है ।[4] ध्वनिकार के मत मे यदि काव्य मे अलड्कारो का प्रयोग किया जाये तो उन्हे उपर्युक्त रीति से ही होना चाहिए , अन्यथा वह काव्य निम्नकोटि का होगा ।

जिन अभाववादियो ने अलड्कारादि मे ध्वनि के अन्तर्भाव की बात कही है उनका भी ध्वनिकार ने समुचित रूप से खण्डन किया है । वे कहते है कि केवल वाच्य वाचक भाव का आश्रय लेने वाले गुणालड्कारप्रस्थान मे व्यड्ग्यव्यञ्जक भाव के आश्रय

---

1 ध्वन्यात्मभूते श्रृड्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत ।। वही 2/15

2. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध. शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य सोऽलड्कारो ध्वनौ मत ।। वही 2/16

3 ध्वन्यात्मभूते श्रृड्गारे समीक्ष्य विनिवेशित: ।
रूपकादिरलड्कारवर्ग एति यथार्थताम् ।। वही 2/17

4. विवक्षा तत्परत्वेन नाड्गित्वेन कदाचन । काले च ग्रहणत्यागौ निर्वहणैषिता ।
निर्व्यूढावपि चाड्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् । रूपकादिरलड्कारवर्गस्याड्गत्वसाधनम् ।।
—यालोक 2/18,19

से व्यवस्थित होने वाली ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता ।[1] यदि पूर्वपक्षी हठपूर्वक यह कहे कि जिन अलङ्कारो मे प्रतीयमानार्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नही होती है वहाँ भले ही ध्वनि का अन्तर्भाव न माना जाये परन्तु जिन समासोक्ति , आक्षेप, पर्यायोक्त आदि मे प्रतीयमानार्थ की अनुभूति होती है उनमे ध्वनि का अन्तर्भाव अवश्य मानना चाहिए इसका खण्डन करते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि इसी सम्भावना के निराकरण के लिए कारिका मे 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' कहा गया है अर्थात् जहाँ अर्थ स्वय को एव शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वही ध्वनि होती है । अतएव इस स्थिति मे जबकि शब्दालङ्कार शब्द पर आश्रित है एव अर्थालङ्कार अर्थ पर आश्रित है तो उन दोनो को गौण बना देने वाली व्यङ्ग्यप्रधान ध्वनि का वाच्यप्रधान अलङ्कारो मे कैसे अन्तर्भाव हो सकता है ।

इस प्रकार ध्वनि प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्द्धन ध्वनि को काव्य का प्रधान तत्त्व अर्थात् आत्मा मानते है । वे अलङ्कारो मे ध्वनि का अन्तर्भाव कदापि स्वीकार नही करते है और रसपूर्ण काव्य मे अलङ्कारो की स्थिति रस के अङ्ग के रूप मे ही स्वीकार करते है । यमक आदि प्रयत्नसाध्य शब्दालङ्कार रस प्रतीति मे बाधक होने के कारण उनकी दृष्टि मे अत्यन्त हीन है ।

आचार्य मम्मट ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल समर्थक है उन्होने काव्य मे अलङ्कारो की उपस्थिति को अधिक महत्त्व नही दिया है । उन्होने काव्य का लक्षण देते हुए 'अनलङ्कृती पुन क्वापि पद के द्वारा काव्य मे अलङ्कारो की अनिवार्यता का खण्डन किया है । उनका मत है कि काव्य मे अलङ्कारो की स्फुट प्रतीति न होने पर भी काव्यत्व को कोई क्षति नही पहुँचती है ।[2] वे अलङ्कार को शब्द और अर्थ का धर्म मानते

---

1 "वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वने कथमन्तर्भाव ।" वहीं 1/13

2. क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानि । का० प्र० 1/4

है जो विद्यमान रस के अड़्गरूप मे होते है एव रस का कभी–कभी उपकार करते है ।[1] मम्मट की दृष्टि मे अलड़्कारो का स्वरूप गुणो से भिन्न है । गुण नियम स रस क साथ रहते है और रस का उपकार करते है क्योकि वे काव्य की आत्मा रस के धर्म है परन्तु अलड़्कार काव्य के शरीरभूत शब्द एव अर्थ के धर्म है और रस के साक्षात् उपकारक भी नही है । वे रसव्यञ्जना के उपकरण रूप शब्दार्थ मे उत्कर्ष स्थापित करते है । इस प्रकार शब्दार्थ शोभा बढाते हुए काव्य की आत्मा रस के भी परम्परया उपकारक होते है । चित्रकाव्य मे तो ये अलड़्कार उक्ति वेचित्र्यमात्र दिखलाकर रह जाते है तथा कही कही रस के विद्यमान होने पर भी उसका उपकार नही करते है । आचार्य मम्मट उत्तमकाव्य की कसौटी ध्वनि को ही मानते है ।[2] और रस सदैव व्यड़्ग्य ही हुआ करते है अतएव वाच्यप्रधान अलड़्कारो की स्फुटता श्रेष्ठ काव्य के लिए अपेक्षित नही है । परन्तु मम्मट ने अलड़्कारो की पूर्ण उपेक्षा भी नही की है । उन्होने "अवरकाव्य" को भी मान्यता दी है । जिसमे शब्दालड़्कार की प्रधानता होती है और यदि उसमे रसादि होते भी है तो व कवि के विवक्षित नहीं हाते है । अतएव ध्वनि सम्प्रदाय मे अलड़्कारो का स्थान अत्यन्त गौण है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अलड़्कार सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सभी काव्यसम्प्रदायो मे अलड़्कारो के अस्तित्व को स्वीकार तो किय गया है और उन्हे चारूत्व का हेतु भी माना है परन्तु रस एव भाव की अपेक्षा उन्हे काव्य मे गौण स्थान दिया गया है । अलड़्कार सम्प्रदाय मे अलड़्कारो को ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व माना गया है और अलड़्कार विहीन रचना के काव्यत्व को ही ठुकरा दिया गया है । वस्तुत जिस रचना से चारूत्व की प्रतीति होती है वही सहृदयो को आकर्षित करती है । यह चारूत्वप्रतीति

---

1 उपकुर्वन्ति त सन्त येऽड़्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलड़्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥ वही 8/67

2 इदमुत्तममतिशायिनि व्यड़्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधै कथित । का० प्र० कारिका 4

केवल अलड्कारो से ही नही होती है बल्कि रस, भाव, रीति तथा वृत्ति आदि भी अतिशय चारूत्व के हेतु है । सस्कृत–साहित्य मे ऐसे अनेक पद्य प्राप्त होते है जिनमे न तो किसी प्रकार का प्रतीयमानार्थ है और न कोई अलड्कार है, फिर भी उनमे काव्यत्व कूट–कूट कर भरा है । आचार्य मम्मट ने स्फुट अलड्कार से रहित रचना के रूप मे "य कौमारहर स एव हि वर " इत्यादि पद्य उदाहरणरूप मे प्रस्तुत किया है जिसमे किसी अलड्कार की स्पष्ट रूप से प्रतीति नही होती है परन्तु फिर भी यह उत्तम काव्य की कोटि मे आता है । अत काव्य मे अलड्कारो की अनिवार्यता किसी प्रकार सिद्ध नही होती है ।

यहॉ पर यह भी ध्यातव्य हे कि जिस प्रकार कुरूपा के शरीर पर हार आदि आभूषण उसके सौन्दर्य की वृद्धि न करके केवल दृष्टि चमत्कार ही पैदा करते है उसी प्रकार नीरस काव्य मे अलड्कार उक्ति चमत्कारमात्र दिखलाकर रह जाते है ।[1] सस्कृत साहित्य मे पाण्डित्य प्रदर्शन प्रेमी कवियो की रचनाओ मे ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है । जिनमे रस, भाव आदि का स्थान गौण है किन्तु यमक, श्लेष, और चित्र आदि अलड्कारो का सायास प्रयोग किया गया है । जिससे न केवल उन काव्यो का सहज सौन्दर्य नष्ट हुआ है बल्कि वे अत्यन्त दुरूह भी हो गये है ।

(ग) अलड्कारों का विभाजन :–

शब्द एव अर्थ के आधार पर अलड्कारो का विभाजन तीन वर्गों मे किया गया है -- 1 शब्दालड्कार 2 अर्थालड्कार एव 3 उभयालड्कार ।

शब्दालड्कार का आधार "शब्द" है, अत शब्द विशेष की उपस्थिति मे ही इन अलड्कारो की सत्ता होती है और उस शब्द विशेष को हटा देने पर या उसका समानार्थक

---

1 यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायि न । का0प्र0

शब्द रख देने पर इन अलड्कारो की सत्ता नही रहती । अत शब्दालड्कारो मे "शब्द परिवृत्यसहत्व" होता है । आचार्य विश्वनाथ और मम्मट ने शब्दालड्कार के अन्तर्गत इन अलड्कारो को रखा है – वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरूक्तवदाभास । काव्य प्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर का भी यही मत है ।[1]

अर्थालड्कार अर्थ पर आधारित होते है क्योंकि जिन शब्दो के माध्यम से वे अलड्कार व्यक्त होते है उनके स्थान पर यदि उनके समानार्थक शब्द रख दिये जाये तो भी इन अलकारो की सत्ता बनी रहती है , अत अर्थालकारो मे 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व' होता है । इस वर्ग के अतर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा , अर्थान्तरन्यास, अर्थश्लेष, सन्देह, निदर्शना इत्यादि अनेक अलकार आते है ।

उभयालकार शब्द और अर्थ दोनो पर आधारित होते है । सकर एव ससृष्टि अलकार इस वर्ग मे है । कुछ आचार्यों नेपुनरूक्त वदाभास को भी अभयालकार माना है ।[2]

आचार्य मम्मट ने अलड्कारो के इस विभाजन का आधार अन्वय एव व्यतिरेक को माना है । उनका कहना है कि दोष, गुण, और अलड्कारो की शब्दगत, अर्थगत् या उभयगत होने की जो व्यवस्था है, उसमे अन्वय और व्यतिरेक ही कारण है । इसलिए जो अलकार जिस शब्द, अर्थ या शब्दयुगल के अन्वय एव व्यतिरेक का अनुसरण करता है वह उसका ही अलकार है ।[3]

---

1 वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमक श्लेष चित्रके ।
पुनरूक्तवदाभास शब्दालड्कृतयस्तुषट् ॥ -- सड्केतटीकायाम्

2 क तथा शब्दार्थमोरयम् । – का0 प्र0 9/86

ख शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालड्कारत्वम् । सा0द0 10/2

3\. "काव्ये दोषगुणालड्काराणा शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकारेव – वप्रभवत, निमित्तान्तरस्याभावात् । ततश्च योऽलड्.कारो यदीयान्वय व्यति -- रेकावनुविधत्ते स तदलड्कारौ व्यवस्थात्यते इति । का0प्र0 9/85

<u>रूद्रट का अलङ्कार - विभाजन -</u>

आचार्यरूद्रट ने यद्यपि शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार की व्यवस्था दी है । उन्होने शब्दालङ्कार के अन्तर्गत केवल पॉच अलकार ही माने है - 1 वक्रोक्ति, 2 अनुप्रास, 3 यमक, 4 श्लेष एव 5 चित्र ।[1] 'पुनरूक्तवदाभास' नामक अलङ्कार को इन्होने मान्यता नही दी है । अर्थालङ्कारो का अत्यन्त वैज्ञानिक ढग से वर्गीकरण करना रूद्रट की अपूर्व देन है । इन्होने अर्थालङ्कारो को चार वर्गों मे विभाजित किया है - 1 औपम्यवर्ग, 2 वास्तववर्ग, 3 अतिशयवर्ग तथा 4 श्लेषवर्ग । वास्तववर्ग के अन्तर्गत सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासख्य, पर्याय आदि अलकार है । औपम्यवर्ग मे उपमा, रूपक, समासोक्ति, अपह्नुति एव अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । अतिशय वर्ग के अन्तर्गत पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण आदि है और अर्थश्लेष के अन्तर्गत अविशेष, विरोध, अधिक, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष आदि अलङ्कार है ।

(घ) <u>अलङ्कारें की संख्या :-</u>

काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने अलङ्कारो की अलग--अलग सख्या मानी है । आचार्य भरतमुनि के अनुसार केवल चार अलकार प्राप्त होते है - उपमा, रूपक, दीपक और यमक ।[2] आचार्य वामन ने इकतीस और दण्डी ने सैतीस, भामह ने उनतालीस एव उद्भट ने चालीस अलकारो का निरूपण किया है । आचार्य रूद्रट ने बासठ अलकारो का विवेचन किया है जिसमे से उन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा वर्णित मात्र सत्ताइस अलकार ही लिए है और शेष पैतीस अलंकारो की कल्पना उन्होने स्वतन्त्ररूप से की है । मम्मट/ने सरसठ अलकारो का वर्णन किया है । उन्होने विनोक्ति, सम और अतद्गुण नामक नवीन अलकारो की कल्पना की है । विश्वनाथ ने सतहत्तर और मखक के गुरू आचार्य रूय्यक ने बयासी अलकार माने

---

1 वक्रोक्तिरनुप्रासो यमक श्लेषस्तथा पर चित्रम् । काव्यालङ्कार 2/13
शब्दस्यालङ्कारा . . . . ।।

2 उपमा रूपकं चैव दीपक यमक तथा ।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया ।। नाट्यशास्त्र 17/43

है । जयदेव न सौ अलकारा का वर्णन किया है । अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द म अलकारा की सख्या एक सौ चौबीस स्वीकार की गई ।

(ङ) प्रस्तुत महाकाव्य मे अलड्कारो का स्वरूप :-

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य काव्य की तीन कोटियो मे से अधमकोटि के अन्तर्गत आता है । यह अलकार प्रधान काव्य है । रस के परिपोषक, व्यजक, व्यग्य तथा चित्ररूप आदि सभी प्रकारो से इस ग्रन्थ मे अलकारो का सुन्दर निबन्धन हुआ है । इन्होने महाकवि भारवि एव माघ आदि की तरह यमक अलड्कार का प्रचुर प्रयोग नही किया है । महाकवि मखक ने यमक का प्रयोग नगण्य सा किया है । थोडा - बहुत अनुप्रास अलकार का भी प्रयोग किया है ।

अर्थालकारो मे उत्प्रेक्षा और समासोक्ति मखक को विशेष रूप मे प्रिय है । कही-कही शिलष्ट सागरूपक भी कवि ने बान्धे हैं । सूक्ष्मातिसूक्ष्म उत्प्रेक्षाओ से कवि की कल्पना की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है । श्लिष्ट साग रूपक व अन्य अलकारो के प्रचुर प्रयोग के कारण "श्रीकण्ठचरितम" कुछ जटिल भी हो गया है ।

(च) शब्दालड्कार

1. वक्रोक्ति अलड्कार :-

आचार्य रूद्रट ने सर्वप्रथम अपने काव्यालकार मे वक्रोक्ति की चर्चा की है । उन्होने श्लेष - वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति का पृथक पृथक उल्लेख करते हुए कहा है कि 'वक्ता द्वारा भिन्न अर्थ मे कही गयी बात की , उत्तर देने वाला व्यक्ति पदो को विभक्त कर जहाँ अविवक्षित अर्थ मे व्याख्या करे वह श्लेष वक्रोक्ति है ।[1] तथा स्पष्टरूप से उच्चारण

---

1 वक्त्रा तदन्यथोक्त व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरद ।
वचन यत्पदभड्गैर्ज्ञेयासा श्लेषवक्रोक्ति ।। काव्यालड्कार 2/14

किय गये स्वर के वैशिष्ट्य के कारण जहाँ दूसरे अर्थ की स्फुट प्रतीति होती है उसे काकुवक्रोक्ति कहत है ।[1]

रूद्रट द्वारा वर्णित श्लेष वक्रोक्ति के स्वरूप से स्पष्ट है कि वे केवल सभगश्लेष की वक्रोक्ति को ही मानते है, अभगश्लेष की वक्रोक्ति को नही मानते है । आचार्य मम्मट के अनुसार वक्ता द्वारा किसी अभिप्राय से कहा गया वाक्य यदि अन्य व्यक्ति अर्थात् श्रोता के द्वारा श्लेष या काकुरूप ध्वनि विकार के हेतु से अन्य अर्थ मे कल्पित कर लिया जाता है तो वह वक्रोक्ति अलकार है ।[2] आचार्य मम्मट ने यहाँ पर श्लेष वक्रोक्ति के लिए "श्लेष" शब्द का प्रयोग किया है । श्लेष सभग और अभग दोनो प्रकार का होता है, अतएव मम्मट को सभग तथा अभग दोनो ही प्रकार की श्लेषवक्रोक्ति मान्य है । अलकार सर्वस्वकार रूय्यक ने भी वक्रोक्ति का वही स्वरूप माना है जो मम्मट को अभिप्रेत है किन्तु उन्होने श्लेष वक्रोक्ति को अभगरूप, सभगरूप, एव उभयरूप से तीन प्रकार का बतलाया है ।[3] वक्रोक्ति के लक्षण के विषय मे आचार्य विश्वनाथ का मत भी मम्मट के मत के अनुरूप ही है ।[4]

प्रस्तुत श्रीकण्ठचरितम् महाकाव्य मे वक्रोक्ति का प्रयोग मात्र एक दो जगह हुआ है ।

---

1 विस्पष्ट क्रियमाणादक्लिष्टा स्वर विशेषतो भवति ।
अर्थान्तर प्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्ति ।। वही 2/16

2 यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा । का० प्र० 9/78

3 क अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजन वक्रोक्ति -। अलङ्कारसर्वस्व सूत्र 78
ख तत्र श्लेषोऽभङ्गत्वेनोभयमयत्वेन त्रिविधि । वही

4 . अन्यस्यान्यार्थक वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्य. श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा । सा०द० 10/9

उदाहरण –

1 विधु स्वय सायकताम्येिष विधुश्च तस्याथ पुरोनिलिल्ये ।
अस्तानि ताभ्या न कथ पुराणि विध्वस्ततासस्तवमाप्नुवन्तु ।। [1]

स्वय विधु अर्थात विष्णु ने बाणता स्वीकार की और दूसरा विधु अर्थात चन्द्र उस बाण के अग्रभाग मे लीन हो गया । उन दोनो से अस्त होकर वे पुरत्रय भला विध्वस्त क्यो न हो जाये । यहाँ पर पहले 'विधु' का अर्थ 'विष्णु' और दूसरे 'विधु' का अर्थ 'चन्द्र' लगाया गया है । और इस पद का भङ्ग भी नही हुआ है इसलिए यह अभङ्ग श्लेष हुआ । विष्णु और चन्द्र रूपी शस्त्रो द्वारा वे पुरत्रय भला विध्वस्त क्यो न हो जाये अर्थात् अवश्य पुरत्रय नष्ट हो जायेगे अतएव काकु वक्रोक्ति है । प्रस्तुत उदाहरण मे अभङ्गश्लेष मूलक काकुवक्रोक्ति है ।

2 विशिख कुसुम वृष्टिभि पुर कखिदनो अचितचर्चमर्चताम् ।
मिहिरसुतपुरप्रवेशने व्यतनुत विघ्नहतिधनुष्मताम् ।। [2]

बाण पुष्पो की वर्षा से पूजित होकर गणेश जी ने दैत्यो के यमपुर प्रवेश की बाधा को दूर कर दिया अर्थात् मार डाला । यहाँ पर कवि ने आशापूर्ण भाव से कहा है कि गणेश जी पूजा अर्चना प्राप्त करके दैत्यो के यमपुर प्रवेश की बाधा को दूर कर दिया परन्तु यह आशा नही है । इसी वाक्य को भिन्न कण्ठ ध्वनि से कहा गया । दैत्यो के यमपुर प्रवेश की बाधा दूर कर दी, इसका अर्थ है उन असुरो को मार डाला इसलिए यह काकुवक्रोक्ति का उदाहरण है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 20/47

2. श्रीकण्ठ0 23/61

2 **अनुप्रास अलङ्कार –**

अनुप्रास का उल्लेख सर्वप्रथम अग्निपुराण मे मिलता है । यहाँ पद और वाक्य मे वर्णो की आवृत्ति को अनुप्रास कहा गया है ।[1] भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे इस अलङ्कार का वर्णन ही नही किया है । उद्भट ने 'सरूपव्यञ्जनन्यास' को अनुप्रास माना है ।[2] भामह ने समान रूप वाले वर्णो के विन्यास को अनुप्रास कहा है ।[3] आचार्य वामन ने भी अनुप्रास को वर्णसाम्यरूप माना है । इनके मत मे वर्णानुप्रास वह अच्छा होता है जो अधिक उत्कृष्ट नही होता ।[4] आचार्य दण्डी के अनुसार पादो एव पदो मे वर्णों की ऐसी आवृत्ति जिससे प्रथमोक्त वर्ण का सस्कार जाग सके, अनुप्रास कहलाती है । पादो या पदो मे अदूरता होने पर ही ऐसा होता है ।[5] रूद्रट के मतानुसार एक , दो या तीन व्यञ्जनो के अन्तर पर स्वर के विसदृश होने पर भी व्यञ्जन की अनेक बार आवृत्ति अनुप्रास कहलाती है ।[6] आचार्य मम्मट ने वर्णो की समानता को अनुप्रास कहा है ।[7] "वर्णसाम्य" से उनका अभिप्राय वही है जिसे रूद्रट ने अनुप्रास की परिभाषा मे बताया है अर्थात् स्वरो के असमान होने पर भी व्यञ्जनो की समानता ।[8] आचार्य विश्वनाथ के स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द के साम्य को अनुप्रास कहते है ।[9] इस प्रकार यद्यपि अधिकाँश आचार्यों ने अनुप्रास

---

1 स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णाना पदवाक्ययो । अग्निपुराण 343/1

2 सरूपव्यञ्जनन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवय सदा ।।– काव्यालङ्कार सारसङ्ग्रह पृ0 5

3 सरूपवर्णविन्यासमनुप्रास प्रचक्षते । – काव्यालङ्कार 2/5

4 शेष सरूपोऽनुप्रास । अनुल्बणो वर्णानुप्रास श्रेयान् । – काव्यालङ्कार सूत्र 4/1/8,9

5 वर्णावृत्तिरनुप्रास पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसस्कारबोधिनी यद्यदूरता ।। – काव्यादर्श 1/55

6 एकद्वित्रान्तरित व्यञ्जनमविवक्षितस्वर बहुश ।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रास ।। – काव्यालङ्कार 2/18

7. वर्णसाम्यमनुप्रास । – का0 प्र0 10/79

8 स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्व वर्णसाम्यम् ।। वहीं वृत्ति भाग 10/79

9 अनुप्रास शब्दसाम्य वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् । – सा0द0 10/3

के लिए वर्णसाम्य को आवश्यक बतलाया है किन्तु वर्णसाम्य से तात्पर्य उनका विशेष तात्पर्य व्यञ्जनसाम्य ही है , स्वरो का साम्य नही । उद्भट तथा रूद्रट ने स्पष्ट रूप से व्यञ्जनसाम्य या व्यञ्जनो की आवृत्ति की बात कही है ।

अनुप्रास के भेद –

काव्यशास्त्रीय विद्वानो ने अनुप्रास के अनेक भेद बताये है – 1 ग्राम्यानुप्रास 2 लाटानुप्रास । उन्होने इन दोनो भेदो का स्वरूप नही बताया है, केवल नामोल्लेख करके उदाहरण दे दिया है ।[1] रूद्रट के द्वारा दी गई परिभाषा से स्पष्ट है कि वे अनुप्रास को केवल वृत्तयनुप्रासात्मक ही मानते है । आचार्य मम्मट ने अनुप्रास के तीन भेद बताये है – 1 छेकानुप्रास 2 वृत्त्यनुप्रास 3 लाटानुप्रास । उनके अनुसार अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति छेकानुप्रास है ।[2] तथा एक या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास है ।[3] लाटानुप्रास शब्दगत अनुप्रास है तथा इसमे शब्द और अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्यमात्र का भेद होता है ।[4] मम्मट ने लाटानुप्रास के कुल पॉच भेद माने है । सर्वप्रथम उसके दो भेद किये – 1 पदगत लाटानुप्रास 2 समासगत लाटानुप्रास । इनमे से पदगत लाटानुप्रास दो प्रकार का है – अनेकपदगत तथा एकपदगत । समासगत लाटानुप्रास तीन प्रकार का है -- एक समासगत् भिन्न समासगत और समास – असमासगत ।[5] आचार्य

---

1 ग्राम्यानुप्रासमन्यत्तु मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
स लोलमालानीलालिकुलाकुलगलो बल ।।
लाटीयमप्यनुप्रास मिहेच्छन्त्य परे यथा ।। काव्यालङ्कार 2/6–8

2 सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व । का0प्र0 10/79

3 एकस्यात्यसकृत्परः । वहीं

4 शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत । का0प्र0 10/81

5 पदाना स पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्न स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेव पञ्चधा मत ।। वही 10/81,82

विश्वनाथ ने अनुप्रास के पॉच भेद बताये है – 1 छेकानुप्रास 2 वृत्त्यनुप्रास 3 श्रुत्य–अनुप्रास 4 अन्त्यानुप्रास 5 लाटानुप्रास । इस प्रकार विश्वनाथ ने मम्मट के मतानुसार तीन भेदो अर्थात् छेक वृत्ति, और लाट के अतिरिक्त श्रुत्यनुप्रास एव अन्त्यानुप्रास को भी अपने ग्रन्थ मे मान्यता दी । श्रुत्यनुप्रास मे तालु आदि किसी एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित व्यजनो का सादृश्य होता है ।[1] तथा अन्त्यानुप्रास वहॉ होता है जब प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यञ्जनो की आवृत्ति पद अथवा पाद के अन्त मे होती है ।[2]

प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् मे छेकानुप्रास इस प्रकार है --

<u>उदाहरण</u> –

तास्तन्वड् गय परिसरलसत्प्राणनाथाड् कपाली
लीलालोलालसतरवपुर्लेखमुल्लेखवत्य ।
क्षैव्यव्यावल्गनतरलितापाड् गरड् गत्कटाक्षा
मध्येसीधु प्रतिमितमिति स्वैरमेणाड् कमूचु ।।[3]

प्रस्तुत श्लोक मे अनेक व्यञ्जनो का एक बार सादृश्य होने से छेकानुप्रास है इस पद्य का अभिप्राय है – निकटस्थ स्वप्रियजनो के आलिगनवश विहवल शरीर की शोभा को धारण करने वाली तथा मद्य के प्रलापो से मध्य–मध्य मे चचल चक्षुकोर कटाक्षो से शोभित वे स्त्रिया चषक मे प्रतिबिम्बित चन्द्र से इस प्रकार बोली ।

निद्रा रूद्र दरिद्रता नय दृशा ध्वान्ते प्रशान्ते श्रिता
पश्यैता परभागलाभमधुना त्वत्कण्ठपीठीरूच ।

---

1 उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
सादृश्य व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ।। सा0द0 10/5

2 व्यञ्जन चेद्यथावस्थ सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ।।– सा0द0 10/6

3 श्रीकण्ठ0 14/63

कि चान्यद्यदसौ सुधांशुरूदधावासूत्रितान्तर्जल –

स्त्वच्चूडाजडतेजसस्तदुपमा द्वैराज्यमुत्सृज्यते ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे निद्रा, रूद्र, दरिद्रता, ध्वान्ते, प्रशान्ते, मे अनेक व्यञ्जनो का सादृश्य होने से अनुप्रास अलङ्कार है ।

श्रीकण्ठचरितम् के पन्द्रहवे सर्ग मे 19वे श्लोक मे पदानुप्रास और 22वे श्लोक मे वर्णानुप्रास प्राप्त है ।

ǂ3ǂ यमक अलङ्कार –

शब्दालङ्कारो मे यमक अलङ्कार अत्यन्त प्राचीन है । काव्यशास्त्र के प्राय सभी आचार्यों ने इस अलङ्कार का वर्णन किया है । यमक शब्द का अर्थ है – "यमौ द्वौ समजातौ तत्प्रतिकृति यमकम्" अर्थात् दो जुडवॉ शिशुओ ǂयमǂ की प्रतिकृति । 'इवे प्रतिकृतौ' 5/3/96 इस पाणिनिसूत्र के अनुसार उपमान के अर्थ मे वर्तमान प्रातिपदिक से "कन्" ǂकǂ प्रत्यय होता है यदि उपमेय प्रतिकृति हो । इस सूत्र के अनुसार उपमान के रूप मे वर्तमान "यम" प्रातिपदिक से "कन्" प्रत्यय लगकर "यमक" शब्द बनता है । कोश के अनुसार एक साथ पैदा हुए दो जुडवॉ शिशुओ को सस्कृत भाषा मे "यम" कहा जाता है । अत यम ǂजुडवॉ बच्चो ǂ को उपमान मानकर इस सूत्र 'इवे'प्रतिकृतौ' से "कन्" प्रत्यय लगकर "यमक" शब्द निष्पन्न होता है अर्थात् यमक ऐसा अलङ्कार है जो यम ǂजुडवॉ शिशुओ ǂ के समान है ।

यमक अलङ्कार का स्वरूप :–

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने यमक अलङ्कार के जो लक्षण प्रस्तुत किये है उनके आधार पर उसे तीन वर्गो मे बॉटा जा सकता है । पहले वर्ग मे शब्दो अथवा वर्णों की

---

1 श्रीकण्ठ0 16/2

आवृत्ति को 'यमक' कहा गया है । दूसरे वर्ग मे आवृत्तवर्णो की भिन्नार्थकता को भी आवश्यक बतलाया गया है । और तीसरे वर्ग के अनुसार यदि आवृत्तवर्ण सार्थक है तो उन्हे भिन्नार्थक होना चाहिए ।

पहले वर्ग का प्रतिनिधित्व भरतमुनि करते है । उन्होने शब्दावृत्ति को यमक कहा है ।[1] परन्तु शब्दो की आवृत्ति तो लाटानुप्रास मे भी होती है । अतएव यमक क इस लक्षण से यमक और लाटानुप्रास मे क्या भेद है यह पता ही नही चलता है । दण्डी,[2] जयदेव, विद्याधर, रूय्यक एव विद्यानाथ इत्यादि आलङ्कारियो ने भी वर्णसमूह की आवृत्ति को ही यमक कहा है । दण्डी ने इतना अवश्य कहा कि शब्दो की आवृत्ति व्यवहित भी हो सकती है और अव्यवहित भी । इस वर्ग मे यमक का लक्षण अपूर्ण है ।

यमक लक्षण के दूसरे वर्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ अग्निपुराण है । अग्निपुराण के अनुसार 'अनेकवर्णावृत्ति मे आवृत्तवर्णो के अर्थ भिन्न भिन्न होते है तथा ऐसी आवृत्ति यमक कहलाती है ।[3] रूद्रट,[4] भामह[5] एव वामन,[6] आदि इसी मत का समर्थन करते हुए भिन्नार्थक वर्णो की आवृत्ति को यमक मानते है । इस वर्ग ने यमक का जो लक्षण दिया है । उससे यमक का लाटानुप्रास से भेद स्पष्ट हो जाता है क्योंकि लाटानुप्रास मे

---

1 शब्दाभ्यासस्तु यमक पादादिषु विकल्पितम् ।– नाट्यशास्त्र 17/60

2 अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिवर्णसहते ।
यमक तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ काव्यादर्श 3/1

3 अनेकवर्णावृत्तिर्या भिन्नार्थप्रतिपादिका ।
यमक सा " अग्निपुराण 343/11,12

4 तुल्यश्रुति क्रमाणामन्यार्थाना मिथस्तु वर्णनाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमक प्रायश्छन्दासिविषयोऽस्य ॥ काव्यालङ्कार 3/1

5 तुल्यश्रुतीना भिन्नानामभिधयै परस्परम् ।
वर्णाना यः पुनर्वादो यमक तन्निगद्यते ॥ –भामह प्रणीत काव्यालङ्कार 2/17

6 पदमनेकार्थमक्षर वा वृत्त स्थाननियमे यमकम् । काव्यालङ्कार सूत्र 4/1/1

आवृत्त वर्णसमूहो के अर्थ मे भेद नही होता है, केवल तात्पर्य म भेद हाता है जबकि यमक मे अर्थ की भिन्नता होती है । परन्तु फिर भी यह सन्देह बना रहता है कि आवृत्त वर्णसमूह सदैव सार्थक ही होने चाहिए या निरर्थक वर्णसमूह की आवृत्ति मे भी यमक हो सकता है ।

इस शड्का का समाधान तृतीय वर्ग मे मिलता है जहाँ यमक के स्वरूप का निरूपण सम्यक प्रकार से किया गया है । सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने यमक अलड्कार का सर्वाड्गीण लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "अर्थ होने पर भिन्न भिन्न अर्थ वाले वर्ण समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति "यमक" है ।[1] इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि आवृत्त होने वाला वर्णसमुदाय यदि अर्थवान् है तो उसे भिन्नार्थक होना चाहिए, किन्तु यह आवश्यक नही है कि आवृत्तवर्ण एक स्थान पर या दोनो स्थानो पर सार्थक ही हो । हेमचन्द्र[2] और विश्वनाथ[3] ने भी मम्मट का अनुसरण करते हुए यमक का यही लक्षण दिया है । उक्त परिभाषा मे यदि केवल इतना ही कहा गया होता कि 'भिन्नार्थक' शब्दो की आवृत्ति यमक है जैसा कि द्वितीय वर्ग के आलड्कारियो ने कहा है , तब यमक वही पर होता जहाँ दोनो शब्द सार्थक किन्तु भिन्न भिन्न अर्थ वाले होते । परन्तु यमक वहाँ पर भी होता है जहाँ पर एक शब्द सार्थक और दूसरा निरर्थक होता है । उदाहरणार्थ – "समरसमरसोऽयम्" इस वाक्य का अर्थ है – ' यह राजा समर मे समरस है । यहाँ पर प्रथम "समर" शब्द तो सार्थक है किन्तु दूसरा 'समर' शब्द निरर्थक है क्योकि वह 'समरस' शब्द का एक अग है । इसी प्रकार ऐसे स्थल मे भी यमक होता है जहाँ दोनो शब्द निरर्थक हो । इन्ही विशेषताओ को अन्तर्भूत करने के लिए मम्मट आदि आचार्यों ने यमक की परिभाषा मे 'अर्थ होने पर' 'अर्थेसति, सत्यर्थे'

---

1 अर्थे सत्यर्थभिन्नाना वर्णना सा पुन श्रुति ।
यमक .. . ।। का0प्र0 कारिका8/3

2 सत्यर्थेऽन्यार्थाना वर्णानां श्रुतिक्रमैक्ये यमकम् । काव्यानुशासनपञ्चमऽध्याय

3 सत्यर्थे पृथगर्थाया स्वरव्यञ्जनसहंते ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमक विनिगद्यते ।। सा0द0 10/8

यह अश जोडा । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि आवृत्त शब्दो का अर्थ विद्यमान हो तो वह भिन्न होना चाहिए परन्तु यदि अर्थ न हो तो भी यमक होगा ही । तृतीय वर्ग के इन आचार्यों ने यमक के सम्बन्ध मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही है कि वर्णों की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए भिन्न क्रम से नही । पूर्ववर्ती आचार्यों म वामन और रूद्रट ने भी स्थान नियम अथवा क्रम की बात कही है किन्तु इन दोनो आचार्यो ने निरर्थक वर्णो की आवृत्ति के विषय मे कुछ नही कहा है अतएव इनके द्वारा दिये गये लक्षण यमक की समुचित व्याख्या नही करते है । मम्मट आदि आचार्यों द्वारा दी गई यमक परिभाषाये ही यमक अलङ्कार का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है ।

<u>यमक अलङ्कार के भेद –</u>

आचार्य भरतमुनि ने यमक के दस भेद बताये है ।

1 पादान्त यमक 2 काञ्ची यमक, 3 समुद्ग यमक 4 विक्रान्त यमक 5 चक्रवालयमक 6 सदष्टयमक , 7 पादादियमक, 8 आम्रेडित यमक, 9 चतुर्व्यवसित यमक तथा 10 मालायमक । भरतमुनि ने इन भेदो का कोई आधार न बताकर स्वतन्त्ररूप से इनका वर्णन किया है । तथा इन्हें नाटकाश्रित यमक का भेद कहा है ।[1] भामह ने यमक के पॉच भेद माने है – 1. आदि यमक, 2 मध्यान्त यमक, 3 पादाभ्यास यमक, 4 आवलीयमक एव समस्तपाद यमक भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट दस भेदो का भामह ने इन्हीं पॉच मे अन्तर्भाव बतलाया है । रूद्रट ने यमक की विस्तारपूर्वक विवेचना प्रस्तुत की है , इन्ही का अनुसरण करते

---

1 पादान्तयमकश्चैव काञ्चीयमकमेव च ।
समुद्गयमकञ्चैव विक्रान्तयमकन्तथा ।।
यमक चक्रवालञ्च सदष्टयमक तथा ।
पादादियमकञ्चैव तथाम्रेडितमेव च ।।
चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च ।
एतद्दशविध ज्ञेयं यमक नाटकाश्रयम् ।। – नाट्यशास्त्र 17/61–63

हुए आचार्य मम्मट ने भी सक्षेप मे यमक के भेदो का निरूपण किया है । इनक अनुसार सर्वप्रथम यमक के दो भेद है – 1 पादावृत्ति 2 पादभागावृत्ति ।[1] ये दोनो भेद रूद्रट के समस्तपादगत और एकदेशगत भेदो के ही नामान्तर है । पादावृत्ति के ग्यारह भेद माने है जो कि रूद्रट के द्वारा वर्णित समस्तपादगत यमक के ग्यारह भदो के ही समान है परन्तु मम्मट ने इन ग्यारह भेदो को मुख आदि कोई अलग नाम नही दिया गया है । पादभागावृत्ति के सम्बन्ध मे मम्मट ने कहा है कि पाद को दो भागो मे विभक्त कर के प्रथमादि के पादादिभाग द्वितीयादि के पादादि भागो मे तथा अन्तिम भाग मे आवृत्त होने पर बीस भेद होगे । पाद के तीन खण्ड करने पर तीस भेद और चार खण्ड करने पर चालीस भेद होगे ।[2] अतएव मम्मट ने यमक के भेदप्रपञ्चो को काव्य के रसास्वादन मे एक गॉठ के समान मानते हुए इसके भेदो के लक्षण नहीं किये है ।

उदाहरण –

इति रतिपरिणेतुरन्तरङ्गीं कुसुममये समये वहत्यभिख्याम् ।
स्फटिकशिखरिण श्रिय दिदृक्षुर्निरगमदद्रिसुतासख सदेव ।।[3]

प्रस्तुत श्लोक मे यमक अलकार है । यहॉ पर कुसुममये समये मे पुनरावृत्ति हुई है । इस पद्य का अर्थ है काम के अनुकूल शोभा को वसन्त के धारण करने पर कैलाश की शोभा देखने के लिए भगवान् शिवजी पार्वती के साथ निकल पडे ।

4 श्लेष अलङ्कार :–

'श्लेष' शब्द 'शिलष' धातु से बना है जिसका अर्थ है – चिपका हुआ

---

1 पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ।। का0प्र0 कारिका 83

2 "द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभाग पूर्ववद् द्वितीया ।
दिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदा ।
त्रिखण्डे त्रिशत् चतुखण्डे चत्वारिंशत् ।"

3 श्रीकण्ठ 0 7/1

इस अलड्कार मे ऐसे शब्दो का प्रयोग होता है जिनमे एक से अधिक अर्थ चिपके रहते है। श्लेष का अलड्कार के रूप मे सर्वप्रथम विवेचन भामह ने किया है। इनसे पूर्ववर्ती भरत ने श्लेष की गणना "गुण" मे की थी। आचार्य भामह ने श्लेष के लक्षण मे उपमान एव उपमेय की तादात्म्यसिद्धि पर विचार करते हुए कहा कि गुण् क्रिया तथा नाम के द्वारा उपमान का उपमेय के साथ अभेद -- स्थापन ही श्लेषालड्कार है।[1] किन्तु उपमान उपमेय की अभेद कल्पना तो रूपक अलड्कार मे भी होती है, अत उसके निराकरण के लिए भामह कहते है श्लेष मे उपमान तथा उपमेय का एक साथ प्रयोग अभीष्ट होता है।[2] अर्थात् उपमान–उपमेय के धर्म का कथन एक ही शब्द द्वारा होता है जबकि रूपक मे पृथक्–पृथक् शब्दो द्वारा उन दोनो का कथन होता है। भामह ने श्लेष का आधार शब्द और अर्थ दोनो को माना है किन्तु इस अलड्कार का विवेचन अर्थालड्कार के अन्तर्गत किया है। वे श्लेष को स्वतन्त्र अलड्कार मानकर कुछ अर्थालड्कार का निर्देशक मानते है। आचार्य दण्डी ने श्लेष के लक्षण मे उपमानोपमेयभाव का उल्लेख नही किया है। इन्होने एक रूप से स्थित वाक्य के द्वारा अनेकार्थप्रतिपादन मे श्लेष माना है तथा उसके दो भेद किये है – अभिन्नपद और भिन्नपद।[3] दण्डी ने अर्थद्वयप्रतीति–जनक श्लेष को प्रधानतया अर्थसापेक्ष देखकर केवल अर्थालड्कार ही माना है। उद्भट के अनुसार एक प्रयत्नोच्चार्यमाण तथा उसकी छाया धारण करने वाले शब्दो के भिन्नस्वरितादि गुणबन्ध को श्लेष कहा जाता है। वे यह भी कहते है कि जहाँ श्लेष का अवसर होता है वहाँ अन्य अर्थालड्कारो की प्रतिभा अवश्य उत्पन्न होती है, अत यदि श्लेष

---

1 "उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्या नाम्ना च श्लिष्ट तदभिधीयते।। काव्यालड्कार 3/14

2 "लक्षण रूपकेऽपीद लक्ष्यते काममत्र तु।
इष्ट प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययो।।" वही 3/15

3 श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वच।
तदभिन्नपद भिन्नपदप्रायमिति द्विधा।। काव्यादर्श 2/310

के अवसर मे अन्य अलङ्कार प्राप्त हो तो वे अन्य अलङ्कार वहाँ लागू नही होते क्योंकि दूसरे अलङ्कारो को श्लेषातिरिक्त विषयो मे लागू होने का अवसर मिल जाता है । इस प्रकार अर्थश्लेष और शब्द श्लेष दोनो की विशिष्ट प्रतीति होती है ।[1] आचार्य वामन ने इस विषय मे कोई नया तथ्य न देकर भामह के मत का ही समर्थन किया है ।[2]

रूद्रट ने श्लेष का विवेचन दो स्थानो पर किया है । शब्द श्लेष का वर्णन शब्दालङ्कार के प्रकरण मे तथा अर्थश्लेष का वर्णन अर्थालङ्कार प्रकरण मे है किन्तु इन्होने शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार के विभाजक तत्त्व के विषय मे कुछ नही कहा शब्द श्लेष की परिभाषा देते हुए वे कहते है कि अर्थ बताने मे समर्थ, श्लिष्ट, अक्लिष्ट तथा विविध पदो की सन्धि से युक्त, एक ही प्रयत्न से उच्चारणीय अनेक वाक्यो की जहाँ रचना की जाती है उसे श्लेष कहते है ।[3] उन्होने इसके आठ भेद माने है । वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन इनके भेद से यह आठ प्रकार का होता है ।[4] अर्थश्लेष का लक्षण देते हुए कहते है कि जहाँ अनेकार्थक पदो द्वारा रचा गया एक वाक्य अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है वह अर्थश्लेष है ।[5] इन्होने अर्थालङ्कार का विभाजन चार वर्गों मे किया है जिनमे से चौथा वर्ग श्लेष वर्ग है । इसी श्लेषवर्ग

---

1 एकप्रयत्नोच्चार्याणा तच्छाया चैव बिभ्रताम् ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्ध श्लिष्टमिहोच्यते ।।
अलङ्कारान्तगता प्रतिभा जनयत्पदै ।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्ट तत्प्रतीयताम् ।। काव्यालङ्कारसार सङ्ग्रह 4/9–10

2 क स च धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेष· । काव्यालङ्कार सूत्र 4/3/7

ख उपमानोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वारोप । वहीं वृत्ति भाग 4/3/7

3 वक्तु समर्थमर्थ सुष्लिष्टाक्लिष्ट विविधपद सन्धि ।
युगपदनेक वाक्यं यत्र विधीयते स श्लेष. ।। काव्यालङ्कार 4/1

4 वर्णपदलिङ्ग भाषा प्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।
अत्राय मतिमदभिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ।। तत्रैव 4/2

5 यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्य रचित पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरूते निश्चयमर्थश्लेष स विज्ञेय ।। तत्रैव 10/2

को अर्थश्लेष मानकर इसके अन्तर्गत दस अर्थालङ्कारो का वर्णन किया है ।[1] इनके द्वारा दिये गये श्लेष के उदाहरणो से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभङ्ग श्लेष को शब्दश्लेष और अभङ्गश्लेष को अर्थश्लेष कहते है ।

आचार्य मम्मट के समय तक श्लेष अलङ्कार का स्वरूप निश्चित हो गया । उन्होने स्पष्टरूप से शब्दश्लेष को शब्दालङ्कार तथा अर्थश्लेष को अर्थालङ्कार माना है । उनके अनुसार 'अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण का विषय होते हुए श्लिष्ट (एक रूप) प्रतीत होते है वह श्लेष अलङ्कार है ।[2] यह शब्द श्लेष का लक्षण है । अर्थश्लेष को परिभाषित करते हुए मम्मट कहते है कि अर्थश्लेष वह है जहाँ एक ही वाक्य मे अनेक अर्थ प्रकट हो अर्थात् एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दो के जहाँ अनेक अर्थ हो जाये ।[3] रूय्यक ने उद्भट के विवेचन के आधार पर शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष दोनो को अर्थालङ्कार माना है ।[4]

आचार्य मम्मट ने उद्भट् रूय्यक प्रभृति आचार्यो के पूर्वोक्त मत का प्रबल युक्तियो द्वारा खण्डन किया है । वे कहते है कि गुण, दोष तथा अलङ्कार आदि की शब्द निष्ठता या अर्थनिष्ठता की कसौटी केवल अन्वय व्यतिरेक ही है । यदि किसी शब्द विशेष के रहने पर ही किसी गुण, दोष या अलङ्कार की सत्ता रहती है तथा उस शब्द को बदल कर उसी के समानार्थी दूसरे शब्द को रख देने से उस दोष, गुण, अलङ्कार की सत्ता न रहे तो निश्चित रूप से वह दोष, गुण या अलङ्कार केवल उस "शब्द" के ही आश्रित

---

1 अविशेषविरोधाधिक वक्रव्याजोक्त्यसभवावयवा ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ।। तत्रैव 10/2

2 वच्यभेदेन भिन्न यद् युगपद् भाषणस्पृश ।
श्लिष्यन्ति शब्दा. श्लेषो ।। का0प्र0 कारिका - 84

3 श्लेष स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् । का0प्र0 कारिका 96

4 "शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये --
परिगणितोऽन्यैरिति" - का0 प्र0 वृत्ति भाग 85

है अत उस दोष, गुण या अलड्कार को शब्दनिष्ठ माना जायेगा । इसी प्रकार जहाँ किसी शब्द विशेष को हटाकर उसके समानार्थी शब्द का प्रयोग करने पर भी उस दोष, गुण तथा अलड्कार की सत्ता पूर्ववत् बनी रहती है वहाँ उन अलड्कारादि को शब्दनिष्ठ न मानकर अर्थनिष्ठ माना जायेगा और उनकी गणना अर्थालड्कारादि मे की जायेगी ।[1] वामनादि द्वारा शब्दश्लेष को भी अर्थालड्कार मानने पर आपत्ति करते हुए मम्मट कहते है कि शब्दश्लेष को आप नाम से तो शब्दश्लेष कहते है और अर्थालड्कारो मे गिनते है यह कैसा सिद्धान्त है ?[2]

रूय्यक ने उद्भट के पदचिह्नो पर चलते हुए श्लेष को अन्य अलड्कारो का बाधक माना है । उनका तर्क है कि श्लेष का ऐसा कोई स्थल नही है जिसमे केवल श्लेष माना जा सके । इसलिए जहाँ अन्य अलड्कारो के साथ श्लेष उपस्थित हो वहाँ अन्य अलड्कार श्लेष से बाधित मानने पडते है तथा श्लेष स्थल मे उनके अस्तित्व का आभासमात्र स्वीकार करना पडता है ।[3] आचार्य मम्मट ने रूय्यक आदि के इस मत का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है । उनके मत मे श्लेष भी अन्य अलड्कारो से रहित स्वतन्त्ररूप से रह सकता है । उदाहरणस्वरूप वे एक श्लोक प्रस्तुत करते जिसमे उपमा आदि से रहित श्लेष की स्वतन्त्र स्थिति है ।[4]

देव । त्वमेव पातालमाशाना त्व निबन्धनम् ।
त्व चामरमरूद्भूमिरेको लोकत्रयात्मक ।।

---

1 इह दोष गुणालड्काराणा शब्दार्थगतत्त्वेन यो विभाग स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते । तथाहि कष्टत्वादि गाढत्वाद्यनुप्रासादय, व्यर्थत्वादिप्रोढ्याद्युपमादय तद्भाव तद भावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते ।' का0प्र0 वृत्ति 85

2 शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालड्.कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयम् नय? तत्रैव वृत्तिभाग 85

3. "नास्ति विविक्तोऽस्य विषय । अतएवालड्.कारान्तराणा बाधित्वात् प्रतिभानमात्रेणावस्थानम् ।
— अलड्.कार सर्वस्व सूत्र 3:

4 'श्लेषस्य चोद्यमाद्यलड्कार विविक्तोऽस्ति विषय । का0प्र0वृत्ति 85

मम्मट के अनुसार जहाँ उपमा, विरोधाभास इत्यादि अन्य अलड्कारो के साथ श्लेष की स्थिति होती है वहाँ वे उपमा आदि अन्य अलड्कार ही मुख्य होते है और वे श्लेष के गौणरूप से प्रतीतिमात्र के हेतु होते है ।[1] इस प्रकार श्लेष अन्य अलड्कारो का बाधक नही है अपितु अन्य अलड्कार ही श्लेष के बाधक है ।

आचार्य मम्मट ने अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार के श्लेष माने है – 1 वर्ण श्लेष या अक्षर श्लेष 2 पदश्लेष 3. लिङ्गश्लेष 4 भाषा श्लेष 5 प्रकृतिश्लेष 6 प्रत्ययश्लेष 7 विभक्तिश्लेष 8 वचन श्लेष ।[2] ये आठ भेद सभङ्गश्लेष के है तथा आचार्य रूद्रट द्वारा बतलाये गये शब्द श्लेष के आठ भेदो के समान ही है । प्रकृति, प्रत्यय आदि का भेद न होने पर 'अभड्गश्लेषरूप' श्लेष का नवम् भेद भी मम्मट ने स्वीकार किया है ।[3]

श्लेष के ये सभी नौ भेद मम्मट ने शब्दालड्कार रूप श्लेष के माने है । ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य रूद्रट ने अभड्गश्लेष को अर्थश्लेष माना है क्योकि उन्होने अर्थश्लेष रूप श्लेष वर्ग के अन्तर्गत जिन दस अलड्कारो के उदाहरण दिये है वे सब अभड्गश्लेष के उदाहरण ही है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" मे महाकवि मखक ने शब्दश्लेष का ही प्रयोग किया है –

---

1 तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलड्.कारान्तरमेव।' का0प्र0 वृत्ति 85

2 "स च वर्णपदलिड्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्ति वचनाना भेदाष्टधा ।' का0प्र0वृत्ति 84

3. भेदा भावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत्

का0 प्र0 कारिका 85

भवतोज्झित एव विग्रह सुमनोमार्गणपूरणैषिणा ।
तव नाथ तथाप्यय कथ परबाधाय मुधैव दुर्ग्रह ।।[1]

उक्त पद्य मे शब्द श्लेष प्राप्त है ।

देवयाचको की इच्छा तथा स्वपुष्पशरो को पूर्ण करने की इच्छा वाले आपके द्वारा स्वशरीर एव अन्यो से विरोध तो पूर्व ही त्यागे जा चुके है । अब पुन दूसरो को बाधा देने का आपका यह दुराग्रह कैसा है ।

द्विजाधिराजेन गवा प्रसादात्प्रतिक्षय कारित भूमिसेक ।
पान्थ प्रियाणामृतचक्रवर्ती नेत्रेष्ववग्राहमपाचकार ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक मे सभड्ग श्लेष है । वसन्त और चक्रवर्ती अभिधेय है । एक अर्थ है – वसन्त ऋतु चक्रवर्ती ने चन्द्र के द्वारा किरणो से भूमि को आप्लावित करवाकर, प्रोषित भर्तृकाओ की ऑखो मे बन्द वर्षा अर्थात् अश्रुप्रवाह को दूर कर दिया, उन्हे रूला दिया । दूसरा अर्थ – चक्रवर्ती राजा ने ब्राह्मण के द्वारा गायो के दूध से भूमि को आप्लावित करवाकर वर्षा के प्रतिबन्ध को दूर कर दिया ।

(छ) शब्दालड्कार का प्रयोग एवं समीक्षा :–

प्रस्तुत ग्रन्थ मे महाकवि मड्खक ने शब्दालड्कारो का प्रयोग कम किया है। यमक अलड्कार मात्र एक स्थान मे प्राप्त है । वक्रोक्ति अलड्कार का प्रयोग भी अत्यल्प किया है । अनुप्रास और श्लेष अलड्कार का सर्वाधिक प्रयोग किया है । श्लेष अलड्कार

---

1 श्रीकण्ठ0 12/21

2 श्रीकण्ठ0 6/23

का प्रयोग कवि ने अपने पाण्डित्यप्रदर्शन के लिए ही किया है । अनुप्रास अलड्कार का कही कही सहज स्वाभाविक प्रयोग दृष्टि गोचर होता है । जिससे काव्य सहज सरस हो जाता है । "श्रीकण्ठचरितम्" मे प्रयुक्त शब्दालड्कार काव्यशाभा की वृद्धि ता करत ही है, काव्य मे उन अलड्कारो का अपना अलग महत्त्व है । जबकि महाकवि मडखक ने अर्थालड्कारो का प्रयोग अत्यधिक किया है । अर्थालड्कार शब्दालड्कारा की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी तथा चित्ताकर्षक होते है इसलिए काव्य मे शब्दालड्कारा की अपक्षा उनका महत्त्व अधिक होता है ।

(ज) प्रस्तुत महाकाव्य मे अर्थालड्कार

1. उपमालड्कार –

उपमा अलड्कार सर्वाधिक प्राचीन है । ऋग्वेद मे उपमा के प्रचुर उदाहरण मिलते है । 'उपमा' शब्द योगरूढ है । यह 'उप' उपसर्गपूर्वक माड् (मा) धातु (माड् गमाने) के योग से बना है जिसका अर्थ है – 'उप समीप मीयते ऽनया इति उपमा' अर्थात् समीप से की गई माप या तुलना । इसमे दो पदार्थो की समीप से तुलना करके उनमे सादृश्य स्थापित किया जाता है । किन्तु यह सादृश्य या समानता चमत्कार जनक होनी चाहिए आचार्य वामन ने सौन्दर्य को ही अलड्कार माना है ।[1] अत हृदयग्राही सुन्दर सादृश्य को ही उपमा कहा जा सकता है । अनेक आचार्यो ने उपमा को कई अर्थालड्कारो का मूल बताया है और अर्थालड्कारो के प्रसग मे सबसे पहले उपमा का ही विवेचन किया है । आचार्य वामन ने सभी साधर्म्यमूलक अलकारो को उपमा का ही प्रपञ्च कहा है ।[2] उनके अनुसार उत्कृष्ट गुण वाली जिस वस्तु से अन्य वस्तु सादृश्य को पहुँचायी जाती है वह उपमान

---

1 सौन्दर्यमलड्कार । काव्यालड्कार सूत्र 1/1/2

2 प्रतिवस्तुप्रभृतिरूपमाप्रपञ्च । काव्यालड्कार सूत्र 4/3/1

कहलाती है और न्यूनगुण वाली जो वस्तु उपमित होती है वह उपमेय कहलाती है ।[1] अतएव गुण की दृष्टि से उपमान उत्कृष्ट होता है तथा उपमेय हीन होता है ।

आचार्य भरतमुनि ने उपमा के सम्बन्ध मे लिखा है कि काव्य बन्ध मे सादृश्य के कारण गुण और आकृति के आश्रय से जो तुलना की जाती है उसे उपमा कहते है ।[2] इस प्रकार नाट्यशास्त्र मे गुणाकृति के आधार पर केवल सादृश्य को उपमा माना गया है आचार्य दण्डी ने नाट्यशास्त्र के आधार पर ही उपमा की परिभाषा देते हुए कहा कि जहाँ पर जिस किसी प्रकार से गुण एव क्रिया आदि के द्वारा सादृश्य की प्रतीति होती है उसे उपमा कहते है ।[3] इस प्रकार दण्डी ने भी उपमा के क्षेत्र को अनश्चित ही रखा है ।

अग्निपुराण मे सादृश्य अलड्कार के अन्तर्गत उपमा का विवेचन किया गया है । इसके अनुसार जहॉ उपमान और उपमेय की समानता मे अन्तर होते हुए भी उनकी सदृशता का उल्लेख होता है उसे उपमा कहते है । इसमे उपमान और उपमेय मे किञ्चित सादृश्य के प्रदर्शन मे ही लोकव्यवहार का प्रवर्तन किया जाता है ।[4] अग्निपुराण मे उपमा का जो स्वरूप वर्णित है, लगभग वही स्वरूप परवर्ती आचार्यों ने थोडे बहुत अन्तर के साथ प्रस्तुत किया है । आचार्य भामह के अनुसार देश काल एव क्रिया आदि के कारण भिन्न होने पर भी उपमेय का उपमान के साथ गुण लेश से जो साम्य होता है उसे उपमा कहते

---

1 उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम् ।
यदुपमीयते न्यूनगुण तदुपमेयम् । – तत्रैव वृत्तौ 4/2/10

2 यत्किञ्चित् काव्य बन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ।। नाट्यशास्त्र 17/44

3 यथा कथञ्चित् सादृश्य यत्रोद्भूत प्रतीयते ।
उपमा नाम सा . " काव्यादर्श 2/14

4 उपमा नाम सा यस्यामुपमानोपमेययो ।
सत्ता चान्तरसामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम् ।।
किञ्चिदादाय सारूप्य लोकयात्ता प्रवर्तते । – अग्निपुराण 344/6 7

है ।[1] अत भामह के मत मे गुण लेश के साम्य से ही उपमा होती है । दो पदार्थ सभी प्रकार से समान नही हो सकते है । उपमेय मे उपमान से देश, काल, क्रिया आदि के कारण भिन्नता होती है , अत इन दोनो मे थोडी सी भी समानता होने पर उपमा होती है । उद्भट ने भामह से प्रभावित होकर उपमा का लक्षण दिया है । उद्भट के अनुसार उपमा अलड्कार मे वह चेतोहारी सादृश्य उपमेय तथा उपमान के बीच होता है जिसके देश काल, जाति, गुण, क्रिया आदि परस्पर भिन्न होते है ।[2] इन्होने 'चेतोहारित्व' या चमत्कार को उपमा के लिए आवश्यक बताकर एक नवीन विचार दिया । आचार्य वामन ने भी भामह के मत का अनुसरण करते हुए कहा कि गुण के लेश से उपमान के साथ उपमेय का साम्य उपमा है ।[3] आचार्य वामन के अनुसार उपमा मे उपमान को अधिक गुणशाली तथा उपमेय को न्यूनगुण शाली होना चाहिए ।[4]

कुन्तक ने उद्भट की भॉति मनोहारित्व को उपमा के लिए आवश्यक बतलाया और वामन की भॉति उपमान को उत्कृष्टगुण वाला होना आवश्यक बतलाया ।[5]

आचार्य रूद्रट ने औपम्य–वर्ग के अन्तर्गत सबसे पहले उपमा का विवेचन किया है । इनके अनुसार उपमान और उपमेय मे समान गुण, सस्थान आदि की जिस प्रकार उपमान मे सिद्धि एव प्रतीति होती है उसी प्रकार से उपमेय मे सिद्ध होने पर उपमा होती है ।[6]

---

1 विरूद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभि ।
उपमेयस्य त्साम्य गुणलेशेन सोपमा ।। काव्यालड्कार 2/30

2. यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानो पमेयम्रयो
मिथोविभिन्नकालादिशब्दयोरूपमा तु तत् ।। काव्यालड्कार सारसग्रह 1/15

3 उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशत साम्यमुपमा । काव्यालड्कार सूत्र 4/2/1

4 उपमीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत्तदुपमानम् । यदुपमीयते न्यूनगुण तदुपमेयम्
--काव्यालड्कार सूत्रवृत्ति 4/2/1

5 विवक्षित परिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये ।
वस्तुन केनचित् साम्य तदुत्कर्षवतोपमा ।। वक्रोक्तिजीवित 3/28

6 उभयो समानमेक गुणादिसिद्ध भवेद्यथैकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा ।। काव्यालडकार 8/9

इस प्रकार रूद्रट ने उपमा के स्वरूप मे गुणादिसिद्धि समान को महत्त्व प्रदान करके एक नवीन विचार दिया। यहाँ गुणादि का अभिप्राय गुण सस्थानादि है।

आचार्य मम्मट के समय तक उपमा का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार से वर्णित हो चुका था। इन्होने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के विचारो को एकत्र करके उपमा का लक्षण प्रस्तुत किया – उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनमे साधर्म्य का वर्णन उपमा है।[1] यह लक्षण सक्षिप्त होते हुए भी अपने आप मे पूर्ण है। इसमे भामह एव उद्भट के विचारो का सार है। इसमे भामहोक्त 'देशकालक्रियादिविरोध' एव उद्भट द्वारा वर्णित 'मिथोविभिन्नकालादि' का भाव 'भेद' शब्द मे समन्वित है। मम्मट के मत मे उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य–कारण आदि का नही, इसलिए उनका ही समान धर्म से सम्बन्ध उपमा कहलाता है।[2] उपमा के इस लक्षण को "भेद" शब्द का ग्रहण उसे अनन्वय अलड्कार से पृथक करने के लिए है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने एक ही वाक्य मे दो पदार्थो के वैधर्म्यरहित वाच्यसादृश्य को उपमा कहा है।[4] इस परिभाषा के द्वारा उन्होने उपमा को रूपक, व्यतिरेक, उपमेयोपमा तथा अनन्वय अलड्कार से पृथक सिद्ध किया है।[5] रूपक मे साम्य वाच्य न होकर व्यड्ग्य होता है, व्यतिरेक मे साम्य के साथ साथ वैधर्म्य का कथन भी होता है, उपमेयोपमा मे दो वाक्यो मे साम्य का प्रतिपादन होता है और अनन्वय मे साम्य एक ही वस्तु मे वर्णित होता है। अतएव

---

1 साधर्म्यमुपमा भेदे । का0प्र0 कारिका 87

2 "उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयो साधर्म्य भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।" का0प्र0 कारिकावृत्ति भाग 87

3 भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय।" तत्रैव कारिका वृत्तौ 87

4 साम्य वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयो। सा0द0 10/14

5 रूपकादिषु साम्यस्य व्यड्ग्यत्वम् व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्ति, उपमेयोपमाया वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेद।
तत्रैव 10/14

उपमा का स्वरूप इन सभी अलड्कारो से भिन्न है । पण्डितराज जगन्नाथ ने वाक्य के अर्थ को सुशोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य को उपमा कहा है ।[1] यहाँ सौन्दर्य से अभिप्राय चमत्कृत्याधायकत्व है ।[2] चमत्कृत्याधायकत्व की बात इनके पूर्व उद्भट और कुन्तक ने भी कही है ।

इस प्रकार इन सभी आचार्यों ने दो भिन्न वस्तुओ के समान गुणो के वर्णन को उपमा कहा तथा उपमा का मूल सादृश्य या साधर्म्य को माना है । सादृश्य एव साधर्म्य मे कोई भेद नही है किन्तु परवर्ती आचार्य इन दोनो मे अन्तर मानते है । काव्य प्रकाश के टीकाकार नागेशभट्ट के अनुसार उपमान और उपमेय का परस्पर सादृश्य उनका एक धर्म विशेष है, जो उनके साधारण धर्म के कारण है ।[3] सादृश्य शब्द की व्युत्पत्ति है – 'समाना दृक (दर्शन) ययोस्तौ सदृशौ तयोभवि सादृश्यम्' और "साधर्म्य" शब्द की व्युत्पत्ति है – 'समानो धर्मो ययोस्तौ सधर्मौ तयोर्भाव साधर्म्य " । अतएव सादृश्य एव साधर्म्य दोनो प्रतीतितत्त्व पर ही निर्भर है । विषयगत दृष्टि से प्रतीति होने वाला साम्य साधर्म्य है और विषयिगत दृष्टि से प्रतीत होने वाला साम्य सादृश्य है । वास्तव मे विषयगत साधर्म्य ही विषयी को सादृश्य के रूप मे प्रतीत होता है । प्रतीहारेन्दुराज ने कहा है कि समानधर्म सम्बन्धरूप साधर्म्य वस्तु को सादृश्य के द्वारा सहृदय तक पहुँचाता है ।[4] इस प्रकार साधर्म्य मे ही सादृश्य अन्तर्भूत है तथा इन दोनो मे कोई भेद नही है ।

उपमा अलड्कार के चार अड्ग हैं – उपमान् , उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द । जिसमें साधारण धर्म प्रसिद्ध हो अथवा जिससे उपमा दी जाये वह उपमान

---

1 सादृश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालड्कृति । रसगड्गाधर पृ0 204

2 सौदर्य चमत्कृत्याधायकत्वम् – तत्रैव

3 "सादृश्यं च साधारण धर्मसम्बन्ध प्रयोज्यो धर्मविशेष " उद्योत

4 उपमानोपमेययो यत्साधर्म्य समानो धर्म तेन सम्बन्धो य सा
उपमानोपमेययो सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेदहेतुत्वादुपमा ।
– काव्यालड्कारसारसग्रह की प्रतीहारेन्दुराजकृत टीका का अश

उपमा का स्वरूप इन सभी अलङ्कारो से भिन्न है । पण्डितराज जगन्नाथ ने वाक्य के अर्थ को सुशोभित करने वाले सुन्दर सादृश्य को उपमा कहा है ।[1] यहाँ सौन्दर्य से अभिप्राय चमत्कृत्याधायकत्व है ।[2] चमत्कृत्याधायकत्व की बात इनके पूर्व उद्भट और कुन्तक ने भी कही है ।

इस प्रकार इन सभी आचार्यो ने दो भिन्न वस्तुओ के समान गुणो के वर्णन को उपमा कहा तथा उपमा का मूल सादृश्य या साधर्म्य को माना है । सादृश्य एव साधर्म्य मे कोई भेद नही है किन्तु परवर्ती आचार्य इन दोनो मे अन्तर मानते है । काव्य प्रकाश के टीकाकार नागेशभट्ट के अनुसार उपमान और उपमेय का परस्पर सादृश्य उनका एक धर्म विशेष है, जो उनके साधारण धर्म के कारण है ।[3] सादृश्य शब्द की व्युत्पत्ति है – 'समाना दृक (दर्शन) ययोस्तौ सदृशौ तयोभवि सादृश्यम्' और "साधर्म्य" शब्द की व्युत्पत्ति है – 'समानो धर्मो ययोस्तौ सधर्मौ तयोर्भाव साधर्म्य " । अतएव सादृश्य एव साधर्म्य दोनो प्रतीतितत्त्व पर ही निर्भर है । विषयगत दृष्टि से प्रतीति होने वाला साम्य साधर्म्य है और विषयिगत दृष्टि से प्रतीत होने वाला साम्य सादृश्य है । वास्तव मे विषयगत साधर्म्य ही विषयी को सादृश्य के रूप मे प्रतीत होता है । प्रतीहारेन्दुराज ने कहा है कि समानधर्म सम्बन्धरूप साधर्म्य वस्तु को सादृश्य के द्वारा सहृदय तक पहुँचाता है ।[4] इस प्रकार साधर्म्य मे ही सादृश्य अन्तर्भूत है तथा इन दोनो मे कोई भेद नही है ।

उपमा अलङ्कार के चार अङ्ग है – उपमान् , उपमेय, साधारण धर्म और वाचक शब्द । जिसमे साधारण धर्म प्रसिद्ध हो अथवा जिससे उपमा दी जाये वह उपमान

---

1 सादृश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृति । रसगङ्गाधर पृ0 204

2 सौदर्य चमत्कृत्याधायकत्वम् – तत्रैव

3 "सादृश्य च साधारण धर्मसम्बन्ध प्रयोज्यो धर्मविशेष " उद्योत

4 उपमानोपमेययो यत्साधर्म्य समानो धर्म तेन सम्बन्धो य सा
उपमानोपमेययो सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेदहेतुत्वादुपमा ।
– काव्यालङ्कारसारसग्रह की प्रतीहारेन्दुराजकृत टीका का अश

है और जिसमे साधारण धर्म का वर्णन करना हो वह उपमेय कहलाता है । उपमान एव उपमेय मे जो समान धर्म रहता है और जिसके कारण दोनो को उपमित किया जाता है, उसे साधारण धर्म कहते है । जिस शब्द से समानता की प्रतीति होती है वह वाचक शब्द कहलाता है । यथा – 'कमलमिव मुख मनोज्ञम्" इस वाक्य मे मुख की उपमा कमल से दी गई है । कमल की मनोज्ञता प्रसिद्ध है । मनोज्ञत्व धर्म के सम्बन्ध के कारण ही मुख की कमल से उपमा दी गई है अतएव यहॉ पर 'मनोज्ञत्व' साधारणधर्म है । वह कमल मे प्रसिद्ध है और यहॉ कमल से ही उपमा दी जा रही है इसलिए "कमल" उपमान है । मुख मे साधारणधर्मरूप मनोज्ञता का वर्णन होने से "मुख" उपमेय है । "इव" शब्द के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होने से "इव" उपमा वाचक है ।

उपमा के भेद :–

आचार्यो ने उपमा के अनेकानेक भेदो का निरूपण किया है । आचार्य भरत ने उपमा के पॉच भेदो का उल्लेख किया है – प्रशसा, निन्दा, कल्पित, सादृशी एव किञ्चित् सादृसी ।[1] उन पॉच भेदो का उल्लेख अग्निपुराण मे भी मिलता है । इनके अतिरिक्त अग्निपुराण मे धर्मोपमा, वस्तूपमा, परस्परोपमा इत्यादि अनेक उपमा – भेदो का निरूपण किया गया है ।[2] आचार्य दण्डी ने अग्निपुराण के आधार पर ही उपमा के वस्तुपमा, धर्मोपमा आदि अनेक भेद बताये है । रूद्रट ने उपमा के तीन प्रमुख भेद माने है – वाक्योपमा, समासोपमा और प्रत्ययोपमा । इनमे से वाक्योपमा के छ भेद तथा अन्य दोनो के एक एक प्रकार होते है ।[3]

---

1 नाट्यशास्त्र 17/49

2 अग्निपुराण 344/10–21

3 रूद्रट प्रणीत काव्यालङ्कार 8/4,5,17,23

उपमा के चार अड्गो अर्थात् उपमान्, उपमेय, साधारण धर्म, और वाचक शब्द की दृष्टि से वामन, उद्भट, मम्मट एव विश्वनाथ ने उपमा के दो मुख्य भेद माने है – पूर्णोपमा एव लुप्तोपमा ।[1] जहाँ उपमा के चारो अग उपस्थित होते है वहाँ पूर्णोपमा होती है और जहाँ इन चारो अगो मे से कोई एक भी लुप्त रहता है वहाँ लुप्तोपमा होती है । आचार्य मम्मट एव विश्वनाथ ने पूर्णोपमा के छ भेद बताये है । पहले पूर्णोपमा के दो विभाग किये – श्रौती तथा आर्थी । फिर इन दोनो के तीन तीन विभाग किये – वाक्यगत, समासगत, एव तद्धितगत । इस प्रकार कुल छ प्रकार की पूर्णोपमा इन दोनो आचार्यों ने बताई है ।[2] आचार्य मम्मट ने लुप्तोपमा के उन्नीस भेद बताये है । इस प्रकार छ प्रकार की पूर्णोपमा सहित मम्मट ने उपमा के पच्चीस भेद माने है ।[3] आचार्य विश्वनाथ ने इक्कीस प्रकार की लुप्तोपमा का निरूपण किया है, अत छ प्रकार की पूर्णोपमा को मिलाकर उनके अनुसार कुल सत्ताइस प्रकार की उपमाऐ होती है ।[4]

प्रस्तुत ग्रन्थ मे उपमा अलड्कार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है –

नर्मोक्तिमन्त्रमुखर परिवेष्टयन्ती
  कदर्पशेवधिसनाभिनितम्बबिम्बम् ।
कृष्णोरगीमिव ततो झटिति प्रियाया
  कस्मिन्मसाररसनास्रजमाचकर्ष ।।[5]

---

1 क काव्यालड्कारसूत्र 4/2/4
  ख का0प्र0 10/87
2. क का0प्र0 10/87
  ख सा0द0 10/16,17
3 एवमेकोनविंशतिर्लुप्ता पूर्णाभि सह पञ्चविंशति ।
4 पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्त विंशति प्रकारोपमा । सा0द0 वृत्ति भाग 10/23
5 श्रीकण्ठ0 15/16

प्रस्तुत श्लोक मे कृष्णोरगी उपमान है, मसाररशना उपमेय है, परिवेष्टयन्ती साधारण धर्म और इव यह उपमावाचक शब्द है । यह श्रौती उपमा का उदाहरण है

स किल्बिष प्लुष्यतु व शराग्निरूमापते रौर्व इव द्वितीय
यो दानवस्मेरदृशा गणस्य बाष्पाम्बुपूरस्य न तृप्यति स्म ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे भी श्रौती उपमा प्राप्त है जो कि इस पद्य के अभिप्राय से स्पष्ट है द्वितीय बणवाग्नि सी वह शिव शराग्नि आपके पापो को भस्मसात करे जो दैत्य स्त्रियो के अश्रुसागर से कभी तृप्त नहीं होती थी ।

न्यस्तानि मन्मथरसालसमङ्गनाभि –
र्यूना तनूषु बभुरार्द्रनखक्षतानि ।
श्रृङ्गारमत्तकरिणो गलिता कवाट
सिन्दूरराजय इवालुलिता मदेन ।।[2]

उक्त पद्य मे सिन्दूरराजय उपमान है, आर्द्रनखक्षतानि उपमेय है, रत्र्यता आर्द्रीभाव साधारणधर्म तथा इव उपमावाचक शब्द है अत उपमा अलङ्कार प्रस्तुत है ।

आपीय स श्रुतिमुखेन सुधासनाभि
तन्नन्दिनो वचनमिन्दुकलाकिरीट ।
देवीमवोचत दिशन्ददशनाशुपूरै
र्भूयोऽप्युपोढहिमतामिव दिङ्मुखेषु ।।[3]

---

1 श्रीकण्ठ0 1/6

2. श्रीकण्ठ0 15/30

3 श्रीकण्ठ0 7/53

प्रस्तुत श्लोक मे उपमागत आर्थी अलङ्कार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है । यहाँ शशिशेखर नन्दी के उन अमृत के सदृश वचनो को श्रवणपुटो से पान करके पार्वती जी प्रसन्न हुई ।

रमणी चरण दधत्यशोके सहसोदस्तमपि प्रसून खण्डम् ।
तरूणारूणरत्ननूपुराशुस्तबकच्छन्नतनौ चिराद बोधि ।।[1]

यहाँ पर उपमा ध्वनि अलङ्कार है । किसी रमणी ने पादप्रहार से समुत्पन्न अशोक गुच्छो को स्वनूपुर मणियो की अरूणाभा के कारण बडी देर से जाना ।

महाकवि मखक ने कुछ अन्य श्लोको मे भी उपमागत सौन्दर्य प्रस्तुत किया है – सप्तम सर्ग के 53वे श्लोक मे , अष्टम सर्ग मे 12वे, 15वे, 56वे श्लोक मे उपमा अलङ्कार है ।

2 **उत्प्रेक्षा अलङ्कार :–**

"उत्" एव "प्र" उपसर्ग पूर्वक "ईक्ष" धातु से उत्प्रेक्षा शब्द निष्पन्न होता है । वामन झलकीकर के अनुसार "उत्कट प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानमुत्प्रेक्षापदार्थ " अर्थात् प्रकृष्ट उपमान की उत्कट ईक्षा उत्प्रेक्षा कहलाती है । प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की सम्भावना करना उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहलाता है । कुछ आचार्यों ने उत्प्रेक्षा में अतिशयतत्व की प्रधानता मानी है तथा कुछ आचार्यों ने सम्भावनातत्व की प्रधानता मानी है । आचार्य भामह एवं वामन ने उत्प्रेक्षा मे अतिशयतत्व का प्रधान्य माना है । भामह के मतानुसार जिसमे सादृश्य

---

1 श्रीकण्ठ0 8/26

अविवक्षित हो परन्तु उपमा का आशिक योग हो और साथ ही अतिशय के द्वारा भिन्न वस्तु के गुण एव क्रिया रूपी धर्मों का सम्बन्ध भिन्न वस्तु मे बताया जाये, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ।[1] वामन के मत मे जो वस्तु वैसी अतद्रूप नही है, उसके अतिशय के लिए अपने स्परूप से भिन्न स्वभाव के अध्यवसाय मे उत्प्रेक्षा होती है ।[2] आचार्य रूद्रट ने उत्प्रेक्षा का विवेचन दो स्थानो पर किया है – औपम्यमूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत इन्होने तीन प्रकार की उत्प्रेक्षाऐ मानी है । प्रथम उत्प्रेक्षा वह होती है जहाँ पहले तो उपमान और उपमेय का अतिशय सादृश्य के कारण अभेद बताया जाये और फिर उपमान का सद्भाव सिद्ध मानकर उपमान के धर्मो को उपमेय मे आरोपित किया जाय ।[3] द्वितीय उत्प्रेक्षा वह होती है जिसमे उपमानगत अन्य उपमान के सादृश्य पर उपमेयगत अन्य उपमेय की सम्भावना की जाती है ।[4] तृतीय उत्प्रेक्षा वह होती है जहाँ शोभनत्व, अशोभनत्व आदि गुणो से युक्त वास्तकि पदार्थ मे उसी प्रकार के किसी अवास्तविक पदार्थ की युक्ति के आधार पर सम्भावना की जाती है ।[5] रूद्रटोक्त इन तीन उत्प्रेक्षाओ मे से पहली उत्प्रेक्षा अतिशयमूलक एव अभेदमूलक है । दूसरी तथा तीसरी उत्प्रेक्षाऐ सम्भावनामूलक है । अतिशयमूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत वर्णित और चौथी प्रकार की उत्प्रेक्षा मे अतिशय तत्व तथा सम्भावनातत्व दोनो का ही प्राधान्य है । रूद्रट के अनुसार चतुर्थ प्रकार की उत्प्रेक्षा वह है जहाँ अतशिय के कारण किसी पदार्थ मे असम्भाव्य क्रिया आदि की सम्भावना की जाती है या किसी पदार्थ मे असम्भूत क्रिया आदि को सम्भूत बताया जाता है ।[6]

---

1. अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह ।
   अतद्गुणक्रिया योगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ।। – भामहप्रणीतकाव्यालङ्कार 2/91
2. अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा । काव्यालङ्कारसूत्र 4/3/9
3. अतिसारूप्यादैक्य विधाय सिद्धोपमानसद्भावम् ।
   आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ।। रूद्रटप्रणीतकाव्यालङ्कार 8/832
4. सान्येत्युपमेयगत यस्या सभाव्यतेऽन्यदुपमेयम् ।
   उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन् ।। रूद्रटप्रणीतकाव्यालङ्कार 8/34
5. यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते सम तस्य ।
   वस्त्वन्तरमुपपत्त्या सभाव्य सापरोत्प्रेक्षा ।। तत्रैव 8/36
6. यत्रातितथाभूते सभाव्येत क्रियाद्यसभाव्यम् ।
   सम्भूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ।। काव्यालङ्कार 9/11

आचार्य मम्म्ट, अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ एव पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने उत्प्रेक्षा मे सम्भावनातत्व का प्रधान्य माना है । मम्मट के अनुसार प्रकृत अर्थात् उपमेय की उपमानरूप से सम्भावना करना उत्प्रेक्षा है ।[1] आचार्य विश्वनाथ के मत मे भी किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप मे सम्भावना करने को उत्प्रेक्षा कहते है ।[2] पण्डित राज जगन्नाथ ने उत्प्रेक्षा के विषय मे कहा है कि जिस पदार्थ का भेद जिस पदार्थ मे यथार्थरूप से ज्ञात हो उस पदार्थ की उस पदार्थ के रूप मे दोनो पदार्थों मे रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को मूल मानकर की जाने वाली सम्भावना अथवा जिस धर्म का अभाव जिस पदार्थ मे यथार्थतया ज्ञात हो उस पदार्थ मे उस धर्म से युक्त होने की ऐसी सम्भावना जो उस धर्म के साथ रहने वाले किसी सुन्दर धर्म को निमित्त मानकर की गई हो, उत्प्रेक्षा कहलाती है ।[3] अप्पय दीक्षित ने उत्प्रेक्षा का स्थान वहाँ बताया है जहाँ प्रकृत (उपमेय) अपने से भिन्न पदार्थ (उपमान) के धर्म के सम्बन्ध से तद्रूप से तर्कित किया जाता है ।[4]

उत्प्रेक्षा के स्वरूप मे निर्दिष्ट अतिशयतत्व अभेदपर्यवसायी है तथा सम्भावना तत्व सशयपर्यवसायी है । अभेद पर्यवसायी तो रूपक अलड्कार भी होता है और उत्प्रेक्षा रूपक से भिन्न है । अत इस विषय अर्थात् अतिशय एव सम्भावना मे समन्वय की स्थापना हेतु यह कहा जा सकता है कि उत्प्रेक्षा अलड्कार मे चमत्कार का प्रारम्भ अभेद से होता है तथा पर्यवसान सशय मे होता है । यद्यपि सशय मे पर्यवसान ससन्देहालड्कार मे भी होता है परन्तु वहाँ सन्देह के दोनो पक्ष बराबर होते है जबकि उत्प्रेक्षा मे सन्देह उपमान की ओर झुका रहता है , उपमान पक्ष मे सन्देह प्रबल होता है । काव्य प्रकाश के टीकाकार

---

1 सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत् । का0 प्र010/92

2 भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्यपरात्मना । सा0द0 10/40

3 तद्भिन्नत्वेन तद्भाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृ[illegible]करणा–न्यतरततद्धर्मसम्बन्ध निमित्तक तत्वेन तद्वत्वेन वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा ।
– रसगड्गाधर, पृ0374 – 275

4 अन्यधर्मसम्बन्धनिमित्वेनान्यस्यान्यतादात्म्यसम्भावनमुत्प्रेक्षा । कुवलयानन्द 32

बालबोधिनीकार वामन झलकीकर ने सम्भावना को उत्कटकोटि का सन्देह कहा है । जिस सशय की दो कोटियो के मध्य मे एक कोटि उत्कट या उत्कृष्ट हो वह सशय ही सम्भावना है ।[1] अत उत्प्रेक्षालड्कार मे एक ही आधार मे उपमेय एव उपमान का बोध होने पर भी उनमे उपमान की उत्कटरूप मे प्रतीति होती है । अत उत्प्रेक्षा मे उपमान का प्राधान्य निर्विवाद है ।

उत्प्रेक्षा अलड्कार उपमा और रूपक के बीच का अलड्कार है उपमा मे उपमेय और उपमान मे पूर्वत पार्थक्य होता है तथा रूपक मे पूर्णत एकता होती है परन्तु उत्प्रेक्षा मे उपमेय मे उपमान की सम्भावना किये जाने के कारण दोनो मे न तो पूर्णरूप से भेद रहता है और न पूर्ण अभेद होता है ।

उत्प्रेक्षा अलड्कार का उपमा से भेद प्रदर्शित करने के लिए वामन झलकीकर ने परमानन्द चक्रवर्ती के मत को उद्धृत करते हुए बालबोधिनी मे लिखा है उपमा मे उपमान लोकप्रसिद्ध होता है जबकि उत्प्रेक्षा मे उपमान कविकल्पित होता है । उपमा मे "इव" शब्द सादृश्य वाचक होता है परन्तु उत्प्रेक्षा मे "इव" शब्द सम्भावनापरक होता है ।[2] अत यदि उत्प्रेक्षा मे "इव" का प्रयोग होता है तो उपमान निश्चित रूप से कवि कल्पित ही होगा । क्योंकि यदि "इव" के साथ लोक प्रसिद्ध वस्तु उपमान हो तो वहाँ उपमा हो जायेगी । उत्प्रेक्षा मे "इव" शब्द का प्रयोग प्राय क्रियापद के साथ होता है । उत्प्रेक्षा

---

1 सम्भावन चोत्कटकोटिक सन्देह । यस्मिन् सशये
कोटिद्वयमध्ये एकस्या कोटे उत्कटत्व (निश्चितप्रायत्वम्)
स एव सशय सम्भावना ।। बालबोधिनी पृ0 584

2 यत्रतुपमानतावच्छेदकविशिष्टमुपमानमप्रसिद्धम्, तत्रोत्प्रेक्षैव तदुक्त चक्रवर्तिना –
यदायमुपमानाशो लोकत सिद्धिमृच्छति ।
तदोपमैव येनेवशब्द सादृश्यवाचक ।।
यदा पुनरय लोकादसिद्ध कविकल्पित ।
तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्द सभावनापर ।। बालबोधिनी, पृ0 584

के वाचक अन्य शब्द है – मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्राय नूनम्, अवैमि, अहे, तर्कमामि, जाने, उत्प्रेक्षे इत्यादि जैसा कि आचार्य दण्डी ने भी कहा है ।[1] इन शब्दो का प्रयोग उपमा मे नही होता है । अत जहॉ इन शब्दो का प्रयोग हो वहॉ स्पष्टरूप मे उत्प्रेक्षा ही होती है ।

उत्प्रेक्षा के भेद :–

काव्यप्रकाश कार मम्मट के समय तक आचार्यो ने उत्प्रेक्षा के भेद प्रभेदो की ओर विशेष ध्यान नही दिया । दण्डी, भामह, वामन एव मम्मट इस विषय मे सर्वथा मौन है । उद्भट ने उत्प्रेक्षा के भाव एव अभाव आदि कुछ भेदो का उल्लेख किया है । अलङ्कार सर्वस्वकार रूय्यक ने उत्प्रेक्षा के अनेक भेदो का विवेचन किया है । सर्वस्वकार के उत्प्रेक्षा भेद विवेचन के आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा के भेदो का सुसम्बद्ध ढग से वर्णन किया है । उनके अनुसार सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा के दो भेद होते है – 1 वाच्योत्प्रेक्षा 2 प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । जहॉ "इव" आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दो का प्रयोग होता है वहॉ वाच्योत्प्रेक्षा होती है और जहॉ "इव" आदि का प्रयोग नही होता वहॉ प्रतीय मानोत्प्रेक्षा होती है । इन दोनो मे कही जाति उत्प्रेक्ष्य रहती है , कही गुण, कहीं क्रिया तथा कही द्रव्य उत्प्रेक्ष्य होता है । अत उक्त दोनो भेदो के चार चार भेद हुए । इन आठो मे कही भाव उत्प्रेक्ष्य रहता है कही अभाव , अत फिर दो दो भेद होने से सोलह भेद हुए । इन सोलह भेदो मे उत्प्रेक्षा का निमित्त कही गुण होता है और कही क्रिया , इस प्रकार कुल मिलाकर बत्तीस भेद हुए इन भेदो मे से वाच्योत्प्रेक्षा के जो सोलह भेद है । उनमे द्रव्य को छोडकर जाति, गुण और क्रियोत्प्रेक्षाओ के बारह भेदो मे से प्रत्येक के तीन भेद है – 1 स्वरूपोत्प्रेक्षा,

---

1 मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय ।
उत्प्रेक्षावाचका शब्द इव शब्दोऽपि तादृश ।। काव्यादर्श 2/234

2 हेतुत्प्रेक्षा, 3 फलोत्प्रेक्षा ।[1] इस प्रकार इन बारह भेदो के छत्तीस भेद होते है । द्रव्य मे केवल स्वरूप की ही उत्प्रेक्षा हो सकती है, हेतु या फल की नही, अत उसके पूर्वोक्त चार भेद ही होते है । ये सब मिलाकर चालीस भेद हुए ।[2] इन चालीस भेदो मे से स्वरूपोत्प्रेक्षा के जो सोलह भेद है उनमे उत्प्रेक्षा का निमित्त (गुणक्रिया रूप) कही तो शब्द से ही उक्त होता है और कही आक्षेपलभ्य होता है । इस प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा के बत्तीस भेद हो गये ।[3] पहले के चालीस भेदो मे ये सोलह भेद और मिल जाने से वाच्योत्प्रेक्षा के छप्पन भेद हो गये । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के पूर्वोक्त सोलह मे से प्रत्येक मे कही फल उत्प्रेक्षित होता है और कही हेतु,[4] इसलिए इसके बत्तीस भेद हुए ।[5] वाच्योत्प्रेक्षा के छप्पन भेद मिलाकर अट्ठासी भेद हो गये । इस समस्त अट्ठासी भेदो मे कही विषय (प्रस्तुत पदार्थ) शब्दोक्त होता है और कही गम्यमान होता है , अत फिर प्रत्येक के दो भेद होकर उत्प्रेक्षाओ के एक सौ छिहत्तर भेद होते है ।[6] परवर्ती आचार्यों ने भी इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के अनेक भेद–प्रभेद माने है ।

---

1 सा0द0 10/40–43

2 "द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव सभवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिशद् भेद ।"
सा0द0 वृत्ति भाग 43

3 "उक्त्यनुक्त्यौर्निमित्तस्यद्विधा तत्र स्वरूपगा ।
तेषु चत्वारिशत्सख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगाया षोड्श भेदास्ते
उत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्या द्वात्रिशद्भेदा इति मिलित्वा
षट्पञ्चाशतभेदा वाच्योत्प्रेक्षाया ।" सा0 द0 वृत्ति भाग 43

4 प्रतीयमाना भेदाश्च प्रत्येक फलहेतुगा तत्रैव 44

5 "तदेव द्वात्रिंशतप्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।" तत्रैव वृत्ति भाग 44

6 उक्त्यनुक्त्यो प्रस्तुतस्य प्रत्येक ता अपि द्विधा । तत्रैव 45

उत्प्रेक्षा के इन भेदो मे से तीन भेद ही अधिक लोकप्रिय हुए – स्वरूपोत्प्रेक्षा हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा । भेदो का अत्यधिक सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण करने से एक तो अलङ्कारो का सौन्दर्य नष्ट होता है तथा दूसरे काव्य श्रवण से पाठक को यह बोध तो सहजरूप मे हो जाता है कि इसमे उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार है परन्तु इन अलङ्कारो के सूक्ष्म भेद प्रभेदो की ओर न तो उसका ध्यान जाता है और न ही वह इसके लिए प्रयास करता है क्योक काव्य का वास्तविक आनन्द उसमे विद्यमान रसादि की अनुभूति मे है न कि अलङ्कारो का शास्त्रीय विवेचन करने मे । इसीलिए भामह, मम्मट आदि आचार्यों ने उत्प्रेक्षा के भेदो की ओर ध्यान नही दिया है ।

महाकवि मखक ने प्रस्तुत महाकाव्य मे मुख्य रूप से उत्प्रेक्षा अलकार प्रस्तुत किया है ।

<u>उदाहरण –</u>

"बिम्बितैर्यो मृगैर्भाति स्फुट स्फाटिक सानुषु ।
कौतुकेन कृतो धात्रा राशिभि शशिनामिव ।।"[1]

यहॉं पर अत्यन्त निर्मल स्फटिक की चट्टानो (चोटियो) पर प्रतिबिम्बित कुरङ्गो (हरिणो) के कारण जो बहुत ही अधिक भासित (सुशोभित) हो रहा है । ऐसा लग रहा है कि मानो वह (कैलास) अनेक चन्द्रो के समूह के द्वारा कौतूहलवश विधाता द्वारा विनिर्मित हो ।

यहॉं पर चन्द्रराशि द्वारा कैलास की विनिर्मित की सभावना की जा रही है अतएव उत्प्रेक्षा अलकार की प्राप्ति हो रही है ।

---

1 श्री0च0 4/2

<u>उदाहरण .–</u>

"यदशुस्त्रोतस सड्गादुत्तमाड्गेऽपि धूर्जटै ।
नेन्दु क्षीरोदकल्लोलनिवासप्रीतिमुज्झति ।।"[1]

जिस कैलास के रश्मि निष्यन्द (चमकती हुई बर्फो की किरणो से उत्पन्न होता हुआ शीतल द्रव) के नाते चन्द्रमा भगवान शड्कर के उत्तम अड्ग (मस्तक) पर बैठा हुआ क्षीरोदधि (समुद्र) मे निवास करने के आनन्द को एक भी क्षण छोड नही पा रहा है ।

यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलकार प्रयुक्त है । यह श्लोक यद्यपि कवि की भावना का साक्षात्कार करने पर अच्छा प्रतीत होता है , किन्तु समुद्र के जल की कड्वाहट एव दुस्वाद का ध्यान करने पर, कैलास की शीतल हिमकणिकाओ मे चन्द्र का तद्गत प्रीति व्यापार (समुद्रगत प्रीति व्यापार) स्मरण करना बहुत कुछ अनौचित्य की सृष्टि करता है । कवि की कल्पना यहाँ कुछ कृत्रिम एव अव्यावहारिक हो जाती है । जिससे उसकी प्रतिभा के आभास का सा बोध होने लगता है ।

महाकवि मखक ने उत्प्रेक्षा अलकार का सुन्दर निदर्शन किया है जैसे –

"सर्वतोऽपि प्रनृत्यभ्दिर्यश्चकास्ति गभस्तिभि ।
लिखन्मुखेष ककुभा कर्पूरस्थासकानिव ।।"[2]

प्रस्तुत श्लोक मे सर्वत्र नृत्य करती हुई अपनी स्वच्छ शीतल कण रश्मियो से दिशाओ के मुखो मे कर्पूर की तरह उज्जवल तिलको की रचना करता हुआ सा वह कैलास भासित हो रहा है ।

श्रीकण्ठ0 4/4

श्रीकण्ठ0 4/5

यहाँ पर तिलकालेख की सभावना चित्रित होने से उत्प्रेक्षा अलकार है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध रचना मे महाकवि मखक ने निम्न श्लोको मे उत्प्रेक्षा अलकार प्रस्तुत किया है ।

प्रथम सर्ग मे 58वे, 10वे, 29वे, 33वे, 52वे, 53वे, 54वे श्लोक मे, द्वितीय सर्ग मे 18वे श्लोक मे , तृतीय सर्ग मे 3, 7, 13, 16वे श्लोक मे, चतुर्थ सर्ग मे 37वे श्लोक से लेकर 42वे श्लोक तक तथा 61वे श्लोक मे, पञ्चम सर्ग मे 17वे, 20वे श्लोक मे, षष्ठ सर्ग मे 3, 6, 27, 28, 43, 53, 63, 66 से लेकर 68वे तक उत्प्रेक्षा अलङ्कार द्रष्टव्य है , सप्तम सर्ग मे 5, 8, 32वे श्लोक मे, अष्टम सर्ग मे 19, 31वे श्लोक मे, नवम सर्ग मे 19वे श्लोक मे, एकादश सर्ग मे 42वे श्लोक मे, द्वादश सर्ग मे 60वे श्लोक मे चर्तुविंशति सर्ग मे 41वे श्लोक मे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे महाकवि ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का सर्वाधिक प्रयोग किया है ।

3. <u>रूपक अलङ्कार –</u>

रूपक सादृश्य मूलक अभेद प्रधान अलङ्कार है । अग्निपुराण मे सादृश्य मूलक अलङ्कारो के अन्तर्गत रूपक का उल्लेख करते हुए उपमेय तथा उपमान मे सादृश्य सम्बन्धी अभेद को रूपक कहा गया है ।[1] आचार्य भरतमुनि से लेकर विश्वनाथ तक प्राय सभी आचार्यों ने रूपक अलङ्कार का यही स्वरूप बताया है । भरतमुनि के अनुसार अपने उपमान के रूप से निरूपित उपमेय का जो रूप है, वही रूपक है ।[2] भामह के मत

---

1 उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणाना समता दृष्ट्वा रूपक नाम तद्विदु । अग्निपुराण 344/22

2 स्वविकल्पेन रचित तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चितसादृश्यसम्पन्न यद्रूप रूपकं तुतत् ।। नाट्यशास्त्र 16/56

मे गुणो की समता को देखकर उपमेय का उपमान के साथ जो अभेद या ताद्रूप्य बताया जाता है, उसे रूपक कहा गया है ।[1] आचार्य वामन ने भी यही बात कही है ।[2] रूद्रट के अनुसार साम्य के आधार पर उपमान और उपमेय का जातिनिरपेक्ष अभेदरूपक कहलाता है । यत्र गुणाना साम्ये सत्यमुपमानोषमेययोरभिदा

अनिवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम् ।।[3]

आचार्य मम्मट के मत मे उपमान और उपमेय का अभेद ही रूपक है ।[4] अलड्कासर्वस्व के रचयिता रूय्यक के अनुसार अभेद की प्रधानता होने पर आरोप के होने किन्तु आरोप विषय के न छिपे होने पर रूपक होता है ।[5] विश्वनाथ ने निषेध रहित विषय (उपमेय) मे रूपित अर्थात् उपमान के आरोप को रूपक माना है ।[6]

रूपक के विषय मे उद्भट ने कहा है कि अभिधा द्वारा सम्बन्ध न हो सकने पर लक्षणा द्वारा पद का दूसरे पद से जो सम्बन्ध है वही रूपक है ।[7] इसी प्रकार कुन्तक तथा भोज ने भी रूपक के स्वरूप निरूपण मे सादृश्यमूला गौणी लक्षणावृत्ति के महत्त्व

---

1 उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।
गुणाना समता दृष्ट्वा रूपक नाम तद्विदु ।। काव्यालड्कार 2/21

2 उपमानोपमेयस्य गुण साम्यात् तत्त्वारापो रूपकम् ।। काव्यालड्कार ,सूत्र, 4/3/6

3 काव्यालड्कार रूद्रट प्रणीत 8/38

4 तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो । का0प्र0 कारिका 9

5 अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोप विषयानपह्नवे रूपकम् ।
अलड्कारसर्वस्व सूत्र 16

6 रूपक रूपितारोपो विषये निरपह्नवे । सा0द0 10/28

7 श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकम् तु तत ।।
काव्यालड्कार सार सग्रह 1/11

को स्वीकार किया है ।[1] वास्तव मे रूपक का स्वरूप पूर्वोक्त सभी आचार्यो द्वारा बतलाया गया है उसके कारण रूपक अलड़्कार की प्रतीति लक्षणा नामक शब्द शक्ति के द्वारा ही होती है । अत रूपक के लक्षण मे लक्षणा का महत्त्व प्रतिपादित करना कोई विचित्र बात नही है ।

परवर्ती आचार्य शोभाकर मित्र का मानना है कि रूपक अलड़्कार केवल सादृश्य मूलक (गौणी) सारोपा लक्षणा मे ही नही होता बल्कि सादृश्येतर सम्बन्ध से युक्त शुद्ध सारोपा लक्षणा मे भी होता है । उनके अनुसार यदि सादृश्य सम्बन्ध से युक्त लक्षणा मे रूपक हो सकता है तो अन्य सम्बन्धो मे यह अलड़्कार क्यो नहीं हो सकता ।[2]

रूपक के भेद :–

रूपक अलड़्कार का वैज्ञानिक रीति से विभाजन सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने किया है । उन्होने पहले रूपक के तीन भेद किये – 1 सागरूपक, 2 निरगरूपक, 3 परम्परित रूपक । सागरूपक अनेक रूपको का समुदाय होता है जिसमे एक प्रधान रूपक मे अन्य रूपक भग हुआ करते है । सागरूपक दो प्रकार का है – समस्तवस्तुविषयक तथा एकदेशविवर्ती । जब समस्त आरोप्यमाण वस्तुऐ शब्दोपात्त होती है तो "समस्त वस्तु विषय" नामक सागरूपक होता है तथा जिस रूपक मे आरोप्यमाण वस्तुऐ कुछ शब्द प्रतिपाद्य तथा कुछ अर्थगम्य होते है । वह "एकदेशविवर्ती" सागरूपक होता है ।[3]

1.क उपचारैकसर्वस्व यत्र (वस्तु) साम्य समुद्वहत ।
यदर्पयति रूप स्व वस्तु तद् रूपक विदु ।। वक्रोक्तिकाव्यजीवित 3/20

ख यदोपमानशब्दाना गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् ।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद्रूपक विदु ।। सरस्वती कण्ठाभरण 4/24

2 सादृश्य सम्बन्ध निबन्धनाया अलकृतित्व यदि लक्षणाया ।
साम्येऽपि सर्वस्वपरस्य हेतो सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्तम् ।। अलड़्काररत्नाकर पृ0 33

3 क समस्तवस्तुविषय श्रौता आरोपिता यदा । का0प्र0कारिका 93

ख श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् । तत्रैव कारिका 94

ग सागमेतत् ..। तत्रैव कारिका 94

निरड्गरूपक वह होता है जहाँ अड्गाड्गिभाव से रहित एक ही रूपक होता है । यह दो प्रकार का होता है -- 1 शुद्ध एव 2 माला रूप । शुद्ध निरड्गरूपक वह होता है जहाँ एक उपमेय मे एक ही उपमान का आरोप होता है तथा मालारूप निरङ्गरूपक उसे कहते है जहाँ एक उपमेय मे अनेक उपमानो का आरोप होता है ।[1] परम्परित रूपक वहाँ होता है जहाँ मुख्य या अवश्य वर्णनीय आरोपण का निमित्तभूत अन्य किसी वस्तु का आरोप होता है ।[2] अर्थात जहाँ वर्णनीय मे आरोप करने के लिए अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है तथा इस अन्य वस्तु का आरोप मुख्य आरोप का कारण होता है । परम्परित रूपक का साड्गरूपक से पर्याप्त भेद है क्योकि साड्गरूपक मे अड्गरूपक अड्गीरूपक के पोषक मात्र होते है, निमित्त नही होते क्योकि उसके बिना भी रूपक हो सकता है परम्परित रूपक प्रथमत दो प्रकार का होता है 1 श्लिष्ट तथा 2 अश्लिष्ट रूपक ।[3] इनमे से भी प्रत्येक 'शुद्ध' तथा मालारूप – दो दो प्रकार का होता है अत परम्परितरूपक चार प्रकार का होता है । इस प्रकार साड्गरूपक के दो भेद (समस्त वस्तु विषय तथा एकदेशविवर्ती) निरड्गरूपक के दो भेद (शुद्ध तथा माला) एव परम्परितरूपक के चार भेद कुल आठ प्रकार के रूपक भेदो का निरूपण मम्मट ने किया है ।

साहित्यदर्पणकार ने भी रूपक के यही आठ मुख्य भेद बताऐ है । इसके अतिरिक्त वे कहते है कि कही परम्परित रूपक भी एकदेश विवर्ती होता है । तथा कही साड्गरूपक मे भी आरोप्य (उपमान) श्लिष्ट शब्द से कहे जाते है ।

---

1 क . निरड्गन्तु शुद्ध माला तु पूर्ववत् ।। तत्रैव कारिका 94
 ख मालोपमायामिवैकस्मिन बहव आरोपिता । तत्रैव वृत्ति 94

2 नियतारोपणोपाय स्यादारोप परस्यय ।
 यत्परम्परित ।। तत्रैव कारिका 95

3. . श्लिष्टे वाचके भेदभाजिवा ।। काव्यप्रकाशे कारिका 95

महाकवि मखक ने प्रस्तुत महाकाव्य मे रूपक अलकार का भी सुन्दर निदर्शन किया है ।

उदाहरण –

1 कृष्णाङ्क विभ्रदङ्क जननमनुसरन्गाढमार्तण्डगर्भ
भित्वा तन्वन्विलासिष्वविरलपुलकोत्कम्पपात्रशरीरम् ।
क्षुन्दन्नक्षीणपक्षाक्रमण परिणतेरन्तरिक्षान्तराल
वध्याद्राजा द्विजानामविरतविरहक्ष्वेऽपीडाभर व ।।[1]

गरूड रूपी चन्द्रमा आपकी कठिन विरह निजपीडा को दूर करे जो गरूड तथा चन्द्रमा साथ साथ कृष्ण कलक को धारण करता है जो दीप्त मार्तण्ड मण्डल से जन्म ग्रहण करता है जो भुजग विलासियो को कँप कँपा देते है और जो पक्ष क्रम से आकाश मे विचरण करते है ।

प्रस्तुत श्लोक मे "श्लिष्ट रूपक" का प्रयोग हुआ है ।

उदाहरण –

2 "मदसहचरगन्धनिर्धुतैलापरिमल एष विशेषतो जगन्ति ।
मदयति मलयानिलोऽतिवेल मदनमदद्विपकर्णतालवायु ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक मे "रूपक शुद्ध" का निदर्शन है ।

कामदेव रूपी मतवाले हाथी के मदपवन के समान यह मलयानिल सुगन्धिपूरित हो समस्त लोको को विशेष रूप से मदमस्त बना रहा है । यहाँ मलयानिल मद्य से बढकर है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 12/65

2. श्रीकण्ठ0 7/21

रूपक के द्वारा व्यतिरेक ध्वनि है ।

उदाहरण :–

3 यस्योच्चै कटचीनपिष्टपटली दिग्दाहजन्मा रूचि–
भ्रंश्यद्‌भि करसीकरायितमथाकाण्डे च यस्योड्डभि ।
तस्यानर्गलदुर्निमित्तकरिण क्रूरत्वमाक्रामत –
श्चक्रे व्योमनि नूतनै कदलिकालीलायित केतुभि ।।[1]

जिस अपशकुन हस्ती की दिग्दाहौतपन्न लालिमा ही गन्ड स्थल सिन्दूर लालिमा है । अकाल भ्रशी तारे ही जिसके शुन्डा सीकर है उसके और भी क्रूरता धारण करने पर तो गिरते हुए केतु नक्षत्रो ने ध्वजयष्टियो का काम किया ।

प्रस्तुत श्लोक मे महाकवि मखक ने "रूपक सघ" का प्रयोग किया है ।

अन्य श्लोको मे रूपक का सुन्दर निदर्शन किया है ।

श्लोक स0 4/74, 7/9,11,18,21,24,28,37,38,41
8/18,12,65,19,57, 24/20

4 **समासोक्ति अलङ्‌कार :–**

समासोक्ति का अर्थ है "सक्षेप मे कथन" ।[2] समासोक्ति अलङ्‌कार मे प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अप्रस्तुत वृत्तान्त का ज्ञान होने से सक्षेप मे दो अर्थों का कथन होता है ।[3] सर्वप्रथम भामह ने इस अलङ्‌कार का विवेचन किया है । उनके अनुसार जब समान

---

1 श्रीकण्ठ0 19/56

2 सक्षेपवचनात समासोक्तिरित्याख्या । काव्यालङ्‌कारसूत्र वृत्तौ 4/3/3

3 सक्षेपेण उपमानोपमेय लक्षणार्थद्वितयाभिधानात् समासोक्ति संक्षेपेणार्थद्वयोक्ति । प्रदीप पृ0 478

विशेषणो के द्वारा प्रस्तुत अर्थ से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो तो सक्षेप मे उक्ति के कारण निर्दिष्ट होने से वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होगा ।[1] आचार्य दण्डी ने भी प्रकारान्तर से भामह के मत का ही समर्थन किया है ।[2] उद्भट ने समासोक्ति के विवेचन मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत अर्थ का स्पष्ट रूप से निर्देश करते हुए समासोक्ति का लक्षण दिया है ।[3] वामन के अनुसार उपमेय का कथन न होने पर समान वस्तु या उपमान का वर्णन समासोक्ति अलङ्कार है ।[4] वामन के इस लक्षण से उपमान के कथन से उपमेय की प्रतीति के वर्णन मे समासोक्ति का स्परूप नही स्पष्ट होता है जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने इस अलङ्कार का स्वरूप बतलाया है । रूद्रट ने भामह आदि का अनुसरण करते हुए सकल समान विशेषणो से युक्त उपमान के द्वारा ही उपमेय की प्रतीति मे समासोक्ति अलङ्कार माना है ।[5] आचार्य मम्मट ने समासोक्ति के लक्षण मे 'श्लिष्ट विशेषणो ' का सन्निवेश करके नवीन विचार प्रस्तुत किया है । उन्होने कहा कि श्लिष्ट विशेषणो के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होना ही समासोक्ति है ।[6] इस प्रकार इनके अनुसार प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा श्लेषयुक्त विशेषणो के प्रभाव से, न कि विशेषय् की सामर्थ्य से जो अप्रस्तुत अर्थ का कथन या व्यञ्जना द्वारा अवबोधन है वह सक्षेप से दो अर्थो अर्थात् प्रस्तुत एव अप्रस्तुत का कथन करने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है ।[7] यद्यपि श्लेषलङ्कार

---

1 यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषण
सा समासोक्तिरूदिदष्टा सक्षिप्तार्थतया यथा ।। काव्यालङ्कार 2/79

2 वस्तुकिञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्य वस्तुन ।
उक्ति सक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ।। काव्यादर्श 2/205

3 प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणै ।
अप्रस्तुतार्थकथन समासोक्तिरूदाहृता ।। काव्यालङ्कार सारसग्रह 2/10

4 अनुक्तौ समासोक्ति । काव्यालङ्कार सूत्र 4/312
"उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यास समासोक्ति । काव्यालङ्कारसूत्र वृत्ति

5 सकलसमानविशेषणमेक यत्राभिधीयमान सत् ।
उपमानमेव गमयेदुपमेय सा समासोक्ति ।। काव्यालङ्कार 8/67

6 परोक्तिभेदकै श्लिष्टै समासोक्ति । का0प्र0कारिका 97

7 प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्ट विशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधान सा समासेन सक्षेपेणार्थद्वय कथनात् समासोक्ति ।"
का0 प्र0 वृत्ति भाग 97

मे भी श्लिष्ट शब्द होते है और अनेक अर्थो की प्रतीति होती है किन्तु श्लेष मे विशेष्य और विशेषण दोनो ही श्लिष्ट होते है जबकि समासोक्ति मे केवल विशेषण श्लिष्ट होते है । इसके अतिरिक्त श्लेष मे दोनो ही अर्थ वाच्य होते है किन्तु समासोक्ति मे प्रस्तुत अर्थ वाच्य और अप्रस्तुत अर्थ व्यड्ग्य होता है । इसका विषय ध्वनि से पृथक् है क्योंकि समासोक्ति मे जब अप्रस्तुत का प्रस्तुत के व्यवहार मे आरोप किया जाता है तो उससे वाच्य अर्थ का उत्कर्ष ही बढता है अत व्यड्ग्य अर्थ वाच्य का अड्ग होता है, इसलिए यहाँ ध्वनि नही कही जा सकती । एतदर्थ आचार्यो ने समासोक्ति को अपरागगुणी भूत व्यड्ग्य माना है ।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने समासोक्ति के लक्षण मे विशेषण के साथ साथ कार्य एव लिग साम्य पर भी बल दिया है । उनके अनुसार जिस वाक्य मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य,लिड्ग और विशेषणो से प्रस्तुत मे अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाये, वहाँ समासोक्ति अलड्कार होता है ।[2] रूद्रट एव मम्मट ने समासोक्ति के भेदो का निरूपण नही किया है ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे "समासोक्ति" अलड्कार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है –

1 "नर्मोक्तिमन्त्रमुखर परिवेष्टयन्ती
कदर्पशेवधिसनाभिनितम्बबिम्बम् ।
कृष्णोरगीमिव ततो झटिति प्रियाया
कस्मिन्मसाररशनास्रजमाचकर्ष ॥"[3]

---

1 बालबोधिनी पृ0 6/3

2 सा0द0 10/56

3 श्रीकण्ठ0 15/16

नमोक्तिमन्त्र पढने से धृष्ट किसी कामी ने, कामदेव के उत्तुगकोष (धनागार) रूप नितम्ब को परिवेष्टित करने वाली कृष्णोरगी – सी मरकतरशना को शीघ्रता से खीच लिया ।

2 "चामीकराम्बुरूहकुड् मल भूमिकासु
रूढ कुचद्वयमधीर विलोचनानाम् ।
अग्रादनड् गरसनाटकनर्तनाय
द्राक्कचुक जवनिकाभमपाचकार ।।"[1]

चचलनयनाओ के स्वरा कमलकलिकाओ से कुचद्वय, अनगसरनाटक मे प्रथम लास्य के प्रयोग के लिए , कचुकजवनिका को हटाकर रगभूमि मे आ गये ।

5 **अर्थान्तरन्यास अलड्.कार –**

"अर्थान्तरन्यास" का अर्थ है – "अन्य अर्थ इति अर्थान्तरम", तस्य न्यास इति अर्थान्तरन्यास" अर्थात् अन्य अर्थ का न्यास करना । इस अलड् कार मे प्रस्तुत अर्थ की पुष्टि के लिए अन्य अर्थ का न्यास किया जाता है । सर्वप्रथम भामह ने इस अलड् कार का निरूपण करते हुए बताया कि पूर्व अर्थ से सम्बद्ध कथित अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का वर्णन अर्थान्तरन्यास अलड् कार है ।[2] वामन ने इसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए दूसरी वस्तु (अर्थ) को प्रस्तुत करना अर्थान्तरन्यास अलड् कार है ।[3] इस अलड् कार के लक्षण मे सामान्य – विशेष भाव की बात सबसे पहले आचार्य रूद्रट ने कही है । उनके अनुसार जहॉ सामान्य अथवा विशेष

---

1 श्रीकण्ठ0 15/12

2 "उपन्यसनमन्यस्य य.दर्थस्योदिता द्वते ।
ज्ञेय सोऽर्थान्तरन्यास पूर्वार्थानुगतो यथा ।।
काव्यालड् कार 2/71

3 उक्तसिद्धयौ वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसेत्सोऽर्थन्तरन्यास ।
काव्यालड् कार सूत्र 4/3/21

अर्थ वाले धर्मी का कथन करके उसकी पुष्टि के लिए उसके समान धर्म वाले सामान्य अथवा विशेष अर्थ का उपन्यास किया जाता है , वहाँ अर्थान्तरन्यास अलड्कार होता है ।[1] आचार्य मम्मट ने रूद्रट के विवेचन के आधार पर ही इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि "यदि साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा सामान्य या विशेष वस्तु का उससे भिन्न (आर्थात् विशेष या सामान्य) के द्वारा समर्थन किया जाये तो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलड्कार होता है ।[2] इस आधार पर इस अलड्कार के चार प्रकार हुए – 1 साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थ्न 2 साधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन 3 वैधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन । 4 वैधर्म्य द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन । परवर्ती आचार्यो मे शोभाकर, जयदेव, विद्याधर , अप्पयदीक्षित, प0 जगन्नाथ, तथा विश्वेश्वर पण्डित ने मम्मट का अनुसरण करते हुए ही इस अलड्कार का विवेचन किया है । रूय्यक ने अर्थान्तरन्यास विवेचन मे कारण और कार्य के समर्थन को भी समाविष्ट किया है । उनके अनुसार किसी निर्दिष्ट प्रकृत अर्थ का समर्थन सामान्य विशेष भाव या कार्यकारण भाव सम्बन्ध के द्वारा हो तो अर्थान्तरन्यास अलड्कार होता है ।[3] इस विवेचन के आधार पर उन्होने इसके आठ भेद बताये है । सामान्य का विशेष के साथ तथा विशेष का सामान्य के साथ समर्थन मे दो भेद हुए, इसी प्रकार कार्य का कारण के साथ तथा कारण का कार्य के साथ समर्थन होने पर दो भेद, इस प्रकार चार भेद हुए । ये चारो भेद या तो साधर्म्य के द्वारा होते है या वैधर्म्य के द्वारा, अत कुल आठ भेद हुए । विद्यानाथ एव विश्वनाथ ने रूय्यक के विवेचन के आधार पर इस अलड्कार का निरूपण करते हुए इसके आठ भेद माने है

---

1 काव्यालड्कार 8/79,82

2 सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास साधर्म्येणेतरेण वा ।। का0प्र0 10/109

3 "सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्या निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यास '
अलड्कार सर्वस्व सूत्र 36

महाकवि मखक ने प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् मे अनेक स्थानो पर अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के सुन्दर प्रयोग किये है। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है –

1 "रात्रिराज सुकुमारशरीर क सहेत तव नाम मयूखान् ।
स्पर्शमात्यसहसैव यदीय चन्द्रकान्तदृषदोऽपि गलन्ति ।।"[1]

यहाँ "चन्द्र की किरणो को कौन कोमल शरीर सहन कर सकता है " इस सामान्य बात का समर्थन "उन किरणो का स्पर्श पाकर चन्द्रकान्तप्रस्तर तक द्रवित हो जाता" इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है। अतएव साधर्म्य के द्वारा यहाँ पर सामान्य का विशेष से समर्थन है। हे चन्द्र। कौन कोमल शरीर तुम्हारी किरणो को सहन कर सकता है उन किरणो का स्पर्श प्राप्त करके चन्द्रकान्त प्रस्तर तक सहज ही द्रवित हो चलते है।

2 "देव सोऽथ त्रिभुवनगुरूर्वैकृत घोरघोर
तत्सजह्रे त्रिजगदगदकारचारित्रमुद्र ।
सन्तो नैसर्गिक मधुरिमोपोढवार्तामुहूर्त
नन्वहार्या खलनिकृतये विक्रियामाद्रियन्ते ।।" [2]

यहाँ "लोकोपकारक शिव अपने भयानक स्वरूप का सयमन कर लिया " इस विशेष का समर्थन "सज्जन पुरूष दुष्टो को ठीक करने के लिए तात्कालिक साधारण कठोर रूप अपनाते है " सामान्य वाक्य से किया गया अत यहाँ विशेष का सामान्य से समर्थन है, शिवजी ने तीनो लोकों का शोक हरने वाले अपने उस भयानक स्वरूप का पुन सयमन कर लिया। नैसर्गिक रूप मे सज्जन पुरूष दुष्टो को रास्ते पर लाने के लिए, तात्कालिक साधारण कठोरता को ही धारण करते है।

---

1 श्रीकण्ठ0 11/59

2 श्रीकण्ठ0 24/38

3 "वामभ्रुवा निबिडतुड्गपयोधराग्रे
सत्य स्वयं वसति पुष्पशरप्रताप ।
तस्मिन्नुर परिचिते हि तदा युवानो
बभ्रुश्चिर वपुरूपोढदृढश्रमाम्भ ।।"[1]

प्रस्तुत उदाहरण मे कारण का कार्य से समर्थन है । रमणियो के उतुग स्तनाग्रो पर निश्चय ही काम निवास करता है । उनके सम्पर्क से तत्काल ही युवजन तीव्रतम स्वेद से भीग जाते है ।

4 "प्रेमाकुल युवजनो वनजेक्षणाना
त वीप्सयाधररसास्वमाचचाम ।
जीवाप्तये रतिपते पुनरूद्भवाम
यद्विभ्रमादमृतमाननपूर्णचन्द्र ।।"[2]

यहॉ कार्य का कारण से समर्थन हुआ है अतएव अर्थान्तरन्यास अलड्कार है । युवको ने हरिणाक्षियो का आतृप्ति, अधरपान किया । पूर्णचन्द्रानन ने उसी अधरपान के दल से रतिदेव के पुनरूद्भव के लिए , अत्यधिक अमृत का अभिस्रवण किया । यहॉ कामोद्भवकार्य का अमृतस्रवण कारण है ।

6 **विरोध या विरोधाभास अलड्कार :–**

अग्निपुराण मे विरोधालड्कार के विषय मे कहा गया है कि परस्पर विरोधी पदार्थों का विरोधी रूप प्रदर्शित कर उनमे युक्तिपूर्वक संगति स्थापित करना विरोध अलड्कार

---

1. श्रीकण्ठ0 15/26
2 श्रीकण्ठ0 15/27

है ।[1] भामह के अनुसार विशेषता बताने के लिए गुण या क्रिया के विरूद्ध अन्य क्रिया के उल्लेख को विद्वानो ने "विरोध" कहा है ।[2] उद्‌भट ने इस अलड्‌कार के लक्षण के लिए भामह द्वारा दी गई पदावली को लगभग वैसा ही उतार दिया है । किन्तु इन्होने उदाहरण के रूप मे जो पद्य दिया है वह विरोध का उदाहरण न होकर "विषम" अलड्‌कार का उदाहरण है ।[3] आचार्य वामन ने विरोध का जो लक्षण दिया है वह इसके स्वरूप को स्पष्ट करन मे समर्थ है किन्तु इन्होने उदाहरण "विरोध" का न देकर असगति का दे दिया है ।[4] रूद्रट ने विरोधालड्‌कार का उल्लेख दो स्थानो पर किया है -- एक अतिशयप्रकरण मे तथा दूसरा श्लेष प्रकरण मे । श्लेष प्रकरण मे उन्होने इसे "विरोध श्लेष" नाम दिया है । इसी प्रकरण मे उन्होने "विरोधाभास्" नामक एक स्वतन्त्र अलड्‌कार भी माना है । अतिशय प्रकरण मे विरोध का स्वरूप बताते हुए रूद्रट ने कहा – जहाँ परस्पर सर्वथा विरूद्ध द्रव्य आदि का एक ही स्थान मे तथा एक ही समय मे अस्तित्व दिखलाया जाये वह विरोध नामक अलड्‌कार होता है ।[5] उन्होने जाति, गुण, क्रिया, एव द्रव्य के आधार पर इसके नौ भेद माने है -- जब यह विरोध सजातीय पदार्थों का अर्थात् जाति का जाति के साथ, द्रव्य का द्रव्य के साथ, गुण का गुण के साथ तथा क्रिया का क्रिया के साथ होता है । तब इसके

---

1 सड्‌गतीकरण युक्त्या यदसगच्छमानयो ।
विरोधपूर्वकत्वेन तद्‌विरोध इति स्मृतम् ।। अग्निपुराण 344/28,29

2 गुणस्य वा क्रियाया वा विरूद्धान्य क्रिया भिधा ।
या विशेषाभिधानाय विरोध त विदुर्बुधा ।। काव्यालड्‌कार 3/25

3 क गुणस्य वा क्रियाया वा विरूद्धान्यक्रियावच ।
यद्‌विशेषाभिधानाय विरोध तं प्रचक्षते ।। काव्यालड्‌कारसारसग्रह 5/6

ख भवत्या क्वायमाकार क्वेद तपसि पाट्‌वम ।

4 क विरूद्धाभासत्व विरोध । काव्यालड्‌कार सूत्र 4/3/12

ख पीतं पानमिद त्वयाद्य दयिते मत्तं ममेद मन ।

5. यस्मिन् द्रव्यादीना परस्पर सर्वथा विरूद्धानाम् ।
एकत्रावस्थान समकाल भवति स विरोध ।। काव्यालड्‌कार 9/30

चार भेद उन्ही नामो से होते है । विजातियो मे विरोध होने पर पाँच भेद होते है – जाति गुण, जाति क्रिया, गुण क्रिया, गुण द्रव्य तथा क्रिया द्रव्य के विरोध जाति और द्रव्य मे विरोध नही हो सकता । अत विजातीयो के छ भेद नही हो सकते ।[1] इस प्रकार रूद्रट ने चार सजातीयो के तथा पाँच विजातीयो के कुल नौ प्रकार के विरोध माने है । मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यो ने वास्तविक विरोध को ही विरोध अलड्कार माना है । आचार्य मम्मट ने कहा है कि जहाँ विरोध न होने पर भी दो वस्तुओ का विरूद्धो के समान वर्णन किया जाता है वहाँ विरोध अलड्कार होता है । अर्थात् वास्तव मे विरोध न होने पर भी दो वस्तुओ का विरूद्धो के समान वर्णन करना विरोध या विरोधाभास अलड्कार है ।[2] रूय्यक ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है । उन्होने बताया कि विरूद्धता का आभास ही विरोधालड्कार है । यदि उस विरूद्धता का समाधान न हो और अन्त तक विरोध बना रहे तो दोष होता है और यदि समाधान हो जाये तो विरोधाभास अलड्कार होता है क्योंकि तब वह केवल आरम्भ मे ही भासित होता है ।[3] परवर्ती आचार्यों के विवेचन मे मम्मट रूय्यक का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है उनसे भिन्न किसी नवीन तथ्य का उल्लेख इन आचार्यो ने नही किया है । मम्मट तथा रूय्यक दोनो ने ही विरोध के दस भेदो का उल्लेख किया है – जाति का विरोध जाति आदि चारो के साथ, गुण का विरोध गुण आदि तीन के साथ, क्रिया का विरोध क्रिया तथा द्रव्य इन दो के साथ एव द्रव्य का विरोध केवल द्रव्य के साथ दोनो से (4+3+2+1 = 10) इस अलड्कार के कुल दस भेद होते है ।[4]

---

1 अस्य सजातीयाना विधीय मानस्य सन्ति चत्वार ।
भेदास्तन्नामान पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम् ॥
जातिद्रव्यविरोधो न सभवत्येव तेन न षडेते । तत्रैव 9/31,32

2 विरोध सोऽविरोधेऽपि विरूद्धत्वेन यद् वच । का0प्र0 10/110
"वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरूद्धयोरिव यद्भिधान स विरोध ।" वही पर वृत्ति भाग

3 विरूद्धाभासत्व विरोध । अलड्.कारसर्वस्व सूत्र – 41
"स च समाधान विना प्ररूढो दोष । सति तु समाधाने प्रमुख एव आभासमानत्वाद् विरोधाभास ।" वही पर वृत्ति भाग 41

4 क जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरूद्धा स्याद् गुणस्त्रिभि ।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्य द्रव्येणैवेति ते दश ॥ का0प्र0 10/110,111

ख "तत्र जातिविरोधस्य जात्यादिभि सह चत्वारो भेदा । गुणस्य गुणादिभि सह त्रय । क्रियाया क्रियाद्रव्याभ्या सह द्वौ भेदौ । द्रव्यस्य द्रव्येण सहैक । तदेवं दश विरोध भेदा ।" अलड्.कारसर्वस्ववृत्ति भाग 41

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे विरोधाभास अलङ्कार भी कुछ स्थलो मे प्राप्त होता है ।

1 "यस्तन्मयीभिरपि मूर्तिविवर्तनाभि –
स्तिष्ठन्प्रपद्य भुवनत्रयसामरस्यम् ।
पुष्णन्पद जनिजरामरणानभिज्ञ
शास्त्रेष्वगादि मतिमद्भिरनष्टमूर्ति ।।"[1]

जो अपनी उन आठ (जल, अग्नि वायु, सूर्य, चन्द्रादि) मूर्तियो से त्रिलोक मे व्याप्त हो रहा है । जो जरा मरण से अनभिज्ञ है , वह बुद्धिमान शास्त्रकारो द्वारा किस प्रकार "अनष्टमूर्ति " कहा गया है ।

यहाँ पर द्रव्य विरोधाभास है । "आठ मूर्तियो वाला नहीं" -- इस प्रकार आरम्भ मे विरोध प्रतीत होता है परन्तु वास्तव मे यहाँ विरोध नही है । क्योकि "नष्ट न होने वाली मूर्तिकला" से विरोध का परिहार हो जाता है । अतएव यहाँ पर विरोधालङ्कार है ।

2 "दन्तोदन्ततिलाञ्जलौ दिनपतेरम्भाजयोने शिरो –
दारिद्ये नयनोद्धतौ भगवतो लीढासुरेन्द्रायुष ।
कि चाशेषवपुर्व्यये रतिपतेर्य कारणत्व भज –
न्नप्यायाति न कुत्र नाम जगत सर्वाङ्गसिद्ध्यङ्गताम् ।।"[2]

सूर्य के दन्तत्रुटन का हेतु, ब्रह्मा के शिरकर्तन, कृष्ण के चक्षुविलयन और काम के नाश का कारण वह शिव भला कब ससार की सर्वार्थसिद्धि नही करता । यहाँ पर जो

---

1 श्रीकण्ठ० 5/45

2 श्रीकण्ठ० 5/52

शिव सूर्य , ब्रह्मा, कृष्ण और काम आदि का नाश करने वाले है वह लोकोपकारक कैसे हो सकते है अतएव विरोध प्रतीत होता है परन्तु वास्तव मे शिव कल्याणकारी है । यहाँ पर क्रिया (सहारक) का क्रिया (लोकोपकारक) से विरोध है ।

3 सेकोऽम्बुना सौष्ठव मातताान प्रतानिनीनामथ मानिनीनाम् ।
सड्गोऽश्रुपूरैर्बत पत्रवल्ली कपोलयोराकुलया चकार ।। [1]

जलसेक लताओ की सौष्ठव वृद्धि का कारण बनता है । वही अश्रुप्रवाहरूप मे सुन्दरियो की कपोलस्थ "पत्रबल्ली" का विनाशक होता है ।

यहाँ पर जो लताओ की सौष्ठव वृद्धि करने वाला है वह उनका विनाशक कैसे हो सकता है इस प्रकार आरम्भ मे विरोध प्रतीत होता है परन्तु वास्तव मे यहाँ विरोध नही है क्योंकि वियोग मे वही अश्रुप्रवाह रूप मे सुन्दरियो के लिए दुखदायी होता है । अतएव यहाँ विरोधालड्कार है । यहाँ पर द्रव्य (जल) का क्रिया (अश्रुप्रवाह) से विरोध है ।

7 **व्यतिरेक अलड्.कार –**

"व्यतिरेक" शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का अतिरेक या आधिक्य । उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य वर्णित होने पर व्यतिरेक अलड्कार होता है । भामह,[2] वामन,[3] मम्मट,[4] तथा प0 जगन्नाथ [5] ने उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणाधिक्य के वर्णन मे ही

---

1 श्रीकण्ठ0 6/34
2. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् ।
व्यतिरेके तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा ।। काव्यालड्कार 2/75
3 उपमेयस्य गुणातिरेकित्व व्यतिरेक । काव्यालड्कार सूत्र 4/313
4 उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक स एव स । का0प्र0 10/105
"अन्यस्योपमेयस्य । व्यतिरेक आधिक्यम् ।" वही वृत्ति भाग द्रष्टव्य
5 उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेक । रस गड्गाधर पृ0 467

व्यतिरेक माना है । उद्भट[1] ने उपमेय तथा उपमान दोनो के आधिक्य वर्णन मे व्यतिरेक अलङ्कार माना है । उद्भट के मत का अनुसरण करते हुए रूद्रट,[2] राजानक रूय्यक[3] अप्पयदीक्षित[4] तथा विश्वनाथ[5] आदि ने भी दोनो स्थितियो मे व्यतिरेक माना है अर्थात् उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य वर्णन मे तथा उपमेय की अपेक्षा उपमान के आधिक्य वर्णन मे भी व्यतिरेक माना है । उपमान का आधिक्य तो प्रसिद्ध है परन्तु व्यतिरेक अलङ्कार का चमत्कार तो इसी मे है कि उपमेय के सौन्दर्य का अधिकता से वर्णन हो तथा उपमान उसके समक्ष हीन प्रतीत हो । अतएव भामहादि ने व्यतिरेक अलङ्कार का जो स्वरूप बतलाया है वही उचित जान पडता है ।

व्यतिरेक अलङ्कार के चार मुख्य भेद माने गये है – 1 उपमेय के आधिक्य के हेतु तथा उपमान के अपकर्ष के हेतु के वर्णित होने पर 2 इन दोनो ही हेतुओ के अनुक्त होने पर 3 उत्कर्ष हेतु के अनुक्त होने पर 4 अपकर्ष हेतु के अनुक्त होने पर ।

आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक के चौबीस भेद माने है । उनके अनुसार उपर्युक्त चार भेदो मे साम्य कही शाब्द, कही आर्थ और कही आक्षिप्त होता है इसलिए प्रत्येक

---

1 काव्यालङ्कार सार सङ्ग्रह 2/7

2. काव्यालङ्कार 7/86,89

3 अ0स0 सूत्र 29

4 कुवलयानन्द 20/57

5. सा0द0 10/52

के तीन तीन भेद होकर बारह भेद बन जाते है । ये बारह भेद श्लेषमूलक या अश्लेषमूलक होने से दो दो प्रकार के होकर चौबीस भेद बन जाते है ।[1] आचार्य विश्वनाथ ने भी उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य वर्णन मे उपर्युक्त चौबीस भेद माने है । इसी प्रकार उन्होने उपमेय की अपेक्षा उपमान के आधिक्य वर्णन मे भी चौबीस भेद माने है अत आचार्य विश्वनाथ ने व्यतिरेक के कुल अडतालिस भेदो का विवेचन किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" मे व्यतिरेक अलङ्कार के उदाहरण द्रष्टव्य है --

1 यस्मिञ्जातु न जायतेऽम्बुजवतीकौमारधर्मक्षति –
दृष्टो यत्र न वा कदाचिदशनाभिज्ञश्चकोरीजन ।
तस्मिन्नप्यहिचक्रवर्तिनगरोद्देशोपकण्ठे क्षण
यन्मूलस्फटिकाश्मरश्मिपटलै कोऽपि प्रकाशोदय ।।[2]

जिस पाताल मे कमलिनी की कौमार्यक्षति नही होती, जहाँ चकोरीजनो को कभी अशनाभिज्ञता (सूर्यचन्द्राभाववश) नहीं प्राप्त होती, वहाँ भी सर्पराज के नगर मे जिस कैलास की मूलस्फटिक रश्मियो का एक विचित्र प्रकाश फैला रहता है । सूर्यचन्द्र प्रकाश से भी विशिष्ट स्फटिक प्रकाश है । यहाँ पर सूर्यचन्द्र प्रकाश उपमान की अपेक्षा स्फटिक प्रकाश उपमेय का उत्कर्ष दिखाया गया है । और उपमान के अपकर्ष का हेतु तथा उपमेय के उत्कर्ष का हेतु अनुक्त है अत व्यतिरेक का चतुर्थ भेद है । यहं तुल्यार्थ मे वति प्रत्यय है अत आर्थ औपम्य का उदाहरण है ।

---

1. हेत्वोरुक्तावनुक्तीना त्रये साम्ये निवेदिते ।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।।
का0 प्र0 10/105,106

2 श्रीकण्ठ0 4/57

2 "श्वसितेषु सृजत्सु तत्र तस्या प्रसरत्सौरभसारसन्त्रदानम् ।
अलितकुर्कलोकभूमजन्मा कुसुमाना विरलीबभूव भार ।।"[1]

प्रस्तुत उदाहरण मे उपमेय रूपी पार्वती की मुखश्वास के उत्कर्ष का हेतु सौरभ या सुगन्धि है और पुष्प के अपकर्ष के हेतु बिरली बभूव भार अर्थात् गन्धहीन (भ्रमरो द्वारा पुष्प रस पीने से) है यहाँ हेत्वोरूक्तौ का उदाहरण है और आक्षिप्त सादृश्य है

पार्वती जी के श्वासो की सुगन्धि के सन्त्रदान के विस्तृत होने पर याचक भ्रमरो के भार से पुष्पो का भार हलका हो गया । मुख श्वास पुष्पो से अधिक सुगन्धित है । पद्मिनीत्वध्वनि है ।

8 **अतिशयोक्ति अलड्.कार –**

आचार्य भामह के समय से इसे स्वतन्त्र अलड्कार माना गया है । भामह के अनुसार निमित्तपूर्वक लोकातिक्रान्त वचन अतिशयोक्ति है जो गुणातिशय के योग से होती है ।[2] दण्डी भी इसे दूसरे अलड्कारो का एकमात्र आश्रय मानते है ।[3] उद्भट ने भामह के अतिशयोक्ति लक्षण को यथावत् स्वीकार कर लिया ।[4] आचार्य रूय्यक ने अध्यवसाय के आधार पर अतिशयोक्ति का लक्षण किया है ।[5] इनकी परिभाषा की

---

1 श्रीकण्ठ0 8/15

2 निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्ति तामलकारतया यथा ।।
इत्येवमादिरूदिता गुणातिशययोगत ।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्ता यथागमन् ।। काव्यालड्कार 2/81, 84

3. अलकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।। काव्यादर्श 2/220

4 काव्यालड्कार 2/81

5 'अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्ति । अलड्कारसर्वस्व–स0 डॉ0रामचन्द्र द्विवेदी
पृ0 79 सूत्र 22

आ0 विश्वनाथ, प्रतापरूद्रयशोभूषण, पण्डित राज जगन्नाथ आदि ने अपनाया है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलकार होता है । विषय (उपमेय) का निगरण करके विषयी (उपमान) के साथ उसके अभेद ज्ञान को अध्यवसाय कहते है ।[1] सर्वप्रथम उद्भट ने इसके चार भेदो का निरूपण किया है ।[2] मम्मट ने अतिशयोक्ति की स्वतन्त्र परिभाषा न देकर केवल भेदो का उल्लेख किया है – 1 उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके उसके साथ कल्पित अभेद का निश्चय, 2 प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन 3 यदि अर्थ वाले शब्दो का कथन करके असम्भव अर्थ की कल्पना 4 कार्य तथा कारण के पौर्वापर्य का विपयर्य वर्णित किया जाता, वहाँ "अतिशयोक्ति" अलङ्कार होता है ।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने इसके पॉच भेद बतलाये है – 1 वास्तविक भेद होने पर भी अभेदवर्णन करने और 2 वास्तविक सम्बन्ध रहते हुए भी असम्बन्ध का कीर्तन करने 3 अभेद मे भेद 4 असम्बन्ध मे सम्बन्ध का कथन करने एवम् 5 कार्य और कारणो के पौर्वापर्य नियम का व्यत्यय करने से पॉच प्रकार की अतिशयोक्ति होती है ।[4]

इन भेदो पर विचार करने से प्रतीत होगा कि भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा ही अतिशयोक्ति का मौलिक तथा प्रमुख भेद है । सिद्ध अध्यवसाय या विषयनिगरण तथा विषयी की प्रधानता ही अतिशयोक्ति है ।

---

1 सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते । सा0द0 10/46

2 काव्यालङ्कार सङ्ग्रह 2/24–25

3 का0प्र0 10/100

4 भेदेऽप्यभेद सबन्धेऽसबन्धस्तद्विपर्ययौ । पौर्वापर्यात्यय कार्यहेत्वो सा पञ्चधा तत । सा0द0 10/47

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे अतिशयोक्ति उदाहरण –

दिड्.मण्डली कनककेतकसिन्धुवार –

कड्केल्लिवल्लिपटलीशबलीकृतेयम् ।

चैत्रेण विश्वविजयाय झषध्वजस्य

सज्जीकृता ममरचापतति व्यनक्ति ।।" [1]

कनक–केतक– सिन्धुवार–ककेल्लिवल्लिपटली से शबलीकृत यह दिड्मण्डली वसन्त के द्वारा काम की दिग्विजय के लिए सजायी गई इन्द्रधनुष की रेखा ही है । भेद मे अभेद

यहॉ उपमान रूप दिड्मण्डली आदि के द्वारा उपमेय भूत इन्द्रधनुष की रेखा आदि कह निगरण करके अभेद या अभिन्नता निश्चित की गयी है अत यह प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति का उदाहरण है ।

"तिलकोऽग्रषथस्थितोऽमरीषु प्रकिरन्तीषु यदृच्छयैव दृष्टिम् ।

कमपि श्रममन्तरेण सद्य शरकार कुसुमायुधस्य जज्ञे ।।[2]

देवागनाओ की दृष्टि मे पडकर यह तिलकवृक्ष तो अनायास ही कामदेव का "शरदाता" बन गया है ।[2] कामिनियो के दृष्टिपात से तिलकवृक्ष मे, पुष्पोद्गम हुआ करता है । इस प्रकार पुष्पोद्गम होते ही तिलकपुष्पो से काम का शर–सन्धान – विमोहकता सिद्ध हो गया । यहॉ अभेद मे भेद रूपी अतिशयोक्ति का दूसरा उदाहरण है ।

प्रतियातना शशिनि मेचकोत्पलच्छदपड्क्तिभिर्विनिहिता भिरादधे ।

---

1 श्रीकण्ठ0 7/49

2 श्रीकण्ठ 0 8/21

मधुमाजनेष्वमरवारयोषिता नवससरद्वहुकलङ् कसकर ।। [1]

प्रस्तुत उदाहरण असम्बन्ध मे सम्बन्ध रूपी अतिशयोक्ति की तीसरा उदाहरण है ।

चषक मे प्रतिबिम्बित चन्द्र मे, उस चषक मे विनिर्मित कृष्ण कमल पत्रावली को सुरयुवतियो ने नव नव कलकपरम्परा समझा । असम्बन्ध मे सम्बन्ध है क्योकि चषक मे प्रतिबिम्बत चन्द्र का कृष्ण कमलपत्रावली से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का होना, चन्द्रमा मे नव नव कलक परम्परा को सिद्ध करने के लिए बताया गया है अत अतिशयोक्ति का तीसरा उदाहरण है ।

वर्षन्नजस्रमसमश्रमवारिबिन्दू –
नाताम्रलोलनयनान्ततडित्कडार ।
कश्चित्प्रनर्तयितुमुग्रकबन्धकेकि –
लोक स्पृहा व्यधितदिव्यधनुर्ग्रहाय ।।[2]

अजस्रश्रमबिन्दुओ की वर्षा करते हुए, आरक्त नयनकान्ति रूपी विद्युत–चमक के साथ साथ होने पर, किसी वीर ने इन्द्रधनुष को लाने की स्पर्धा की (वह मर कर स्वर्ग को चला) कि वह कबन्धरूपी मयूरें को नचा सके । इन्द्र धनुषसहित मेघ को देखकर मयूर नाच उठते है । सम्बन्ध मे असम्बन्ध दिखाया गया है । इसलिए यहाँ पर सम्बन्ध मे असम्बन्ध रूपी अतिशयोक्ति का चतुर्थ उदाहरण है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 14/43

2 श्रीकण्ठ0 18/19

भड़्गर्लेभे चतुरमरूता दिक्षु विस्तार्यमाणै –
गीर्वाणारिप्रवरवपुषामुन्मिषद्भूतिलेशै ।
तत्तत्कल्लोलितचरजगद्विप्लवातड्कशड्का –
सकोचोत्कत्रिभुवनगुरूक्षिप्यमाणाक्षतानाम ।।[1]

वायु के द्वारा बिखराई जाती हुई दैत्यत्रय की शरीर भस्म, शिवजी द्वारा मन्त्रपढकर, विप्लवादि शान्त करने के लिए, फेके गये श्वेत चावलो की भगिमा को प्राप्त हुई । यहाँ पर वायु द्वारा बिखाराई हुई दैत्यत्रय की शरीरभस्म इस सम्बन्ध मे शिवजी द्वारा मन्त्र पढकर विप्लव शान्त करने हेतु फेके गये श्वेत चावलो की भगिमा को प्राप्त होना यह असम्बन्ध दिखाया गया है । अतएव सम्बन्ध मे असम्बन्ध रूपी अतिशयोक्ति का चतुर्थ उदाहरण है ।

9 **दृष्टान्तालड्कार :–**

जहाँ दो धर्मियो या धर्म मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलड्कार होता है । आचार्य रूय्यक के अनुसार धर्मी के अतिरिक्त धर्म का भी जहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है उसे दृष्टान्त अलड्कार कहते है ।[2] इस प्रकार धर्मी तथा धर्म को ही लेकर दृष्टान्त अलड्कार हो सकता है । मम्मट ने भी दृष्टान्त का लक्षण यही दिया है । कि जहाँ (वाक्यद्वय) मे इन (उपमान् उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि) सबका बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होता है वहाँ "दृष्टान्त" नामक अलड्कार होता है । इस प्रतिबिम्बन की अभिव्यक्ति साधर्म्य से भी हो सकती है और वैधर्म्य से भी । बिम्बप्रति–बिम्बभाव की प्रक्रिया मे दो भिन्न धर्म या धर्मियो मे सादृश्य के कारण अभिन्नता का

---

1. श्रीकण्ठ0 24/31
2. वस्तुत भिन्नयोर्धर्मयो परस्परसादृश्यादभिन्नतयाऽध्यवसितयोर्द्विरूपादान बिम्बप्रतिबिम्बभाव । अलड्कारसर्वस्व – स0 डॉ0 रामचन्द्रद्विवेदी पृ0 63 सूत्र 26

जो बोध होता है उसी को ध्यान मे रखकर मम्म्ट ने दृष्टान्त की व्युत्पत्ति "दृष्टोऽन्त निश्चयो यत्र" दी है ।[1] मम्मट तथा रूय्यक द्वारा दृष्टान्त का विवेचन एकरूप है । आचार्य रूद्रट के अनुसार प्रस्तुत और अप्रस्तुत मे जिस धर्म से युक्त अर्थ विशेष का पहले उपन्यास हो चुका है उसी धर्म से युक्त अन्य विशेष अर्थ का जहॉ उपन्यास होता है वहॉ दृष्टान्त अलड्कार होता है यह विवक्षित और अविवक्षित रूप मे दो प्रकार का है ।[2] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार भी दो वाक्यो मे धर्म सहित, वस्तु अर्थात् उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्ताऽ–लड्कार कहते है ।[3] दृष्टान्त मे धर्म सहित धर्मी का प्रतिबिम्बन होना चाहिए, केवल धर्मी का नही । दृष्टान्तालड्कार साधर्म्य और वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे दृष्टान्तालड्कार का उदाहरण –

"नीचर्ईतनोत्वश्रु नितान्तकार्ष्ण्य पुष्णातु साधर्म्यभृदञ्जनेन ।
बिना तु जायेत कथ तदीय क्षोदेन सारस्वतदृक् प्रसाद ॥"[4]

दोषाविस्करण के द्वारा नीच व्यक्ति चाहे जितना भी कष्ट क्यो ने दे, वह अन्ततोगत्वा उपकार ही करता है । सरस्वती का प्रसाद पात्र बना देता है । काजल ऑखो मे लगाया जाकर कृष्णाश्रुप्रवाह करवाता है, फिर भी बिना उसके दृष्टि प्रसाद प्राप्त नही होता । यहॉ साधर्म्यमूलक दृष्टान्तालड्कार है । यहॉ नीच व्यक्ति और काजल का, दोषाविस्करण और कृष्णाश्रुप्रवाह का, तथा सरस्वती का प्रसाद पात्र एव दृष्टि प्रसाद का बिम्बप्रति बिम्बभाव होने से दृष्टान्तालड्कार है ।

---

1. दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम् । का0प्र0 10/102
2. अर्थविशेष· पूर्व यादृड् न्यस्तो विवक्षितेतरयो ।
   तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्रपुन सोऽत्र दृष्टान्त ॥
   काव्यालड्कार 8/94
3. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन प्रतिबिम्बनम् । सा0द0 दशम् परिच्छेद् पृ0 329
4. श्रीकण्ठ0 2/19

तत्तद्विचारोपनिषद्विमृष्ट काव्य कवे पुष्यति निस्तुषत्वम् ।
न रत्नमायाति हि निर्मलत्व शाणोपलारोपणमन्तरेण ।।[1]

यह वैधर्म्यमूलक दृष्टान्त अलङ्कार का उदाहरण है ।

उन उन सगुणत्व दोष त्यागत्वादि विचारो की पराकाष्ठा के साथ रचित काव्य ही निर्दोषत्व को प्राप्त होता है । रत्न शास्त्रोपल पर चढाये बिना शुद्धत्व का प्राप्त नही कर पाया करता है । यहाँ काव्य तथा रत्न का दोष त्यागत्वादि और शास्त्रोपल पर चढाये बिना, एवं निर्दोषत्व और शुद्धत्व का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलङ्कार है ।

"सेनाधूलीतमसि नभसि व्याप्तिपर्याप्तिभाजि
भ्राजिष्णुत्व भजति च गणे सर्वत खेचराणाम् ।
तेषा शूरस्थितिमजहता प्रस्खलन्मण्डलाग्र –
च्छाये तस्मिन्महति सहसा धाम वहनौ ममज्ज ।।" [2]

आकाश मे सैन्यरजस्तम के व्याप्त हो जाने पर तथा चारो ओर गणो – देवताओ के कान्तियुक्त या तेजस्वी हो चुकने पर, उन दैत्यो के वीरभाव को न त्यागने पर, उनका तेज उस शराग्नि मे निमज्जित हो गया । अन्धकार के फैलने, तारो के प्रकट होने तथा शिखरच्छाया के प्रवृद्ध हो चुकने पर सूर्य का तेज अग्नि मे निहित हो गया । यहाँ पर श्लेषोत्थापित साधर्म्यमूला दृष्टान्तध्वनि रूप है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 2/7

2. श्रीकण्ठ0 24/21

10 **दीपकालड्.कार –**

आचार्य भामह,[1] दण्डी,[2] उद्भट,[3] रूय्यक,[4] प0 जगन्नाथ[5] आदि ने दीपकालड्कार को तुल्ययोगिता अलड्कार से पृथक मानना उचित नही समझा है । आचार्य रूद्रट ने तुल्ययोगिता का विवेचन न करके केवल दीपकालड्कार का लक्षण प्रस्तुत किया । जहॉ अनेक वाक्यो का एक ही क्रिया पद तथा कारक पद होता है वहॉ क्रिया दीपक और कारक दीपक भेद से दीपकालड्कार दो प्रकार का होता है ।[6] मम्मट ने दीपक और तुल्ययोगिता की पृथक् पृथक् परिभाषा देकर भेद भी दोनो मे स्पष्ट किया है । जहॉ उपमेय और उपमानरूप वस्तुओ के धर्मो का एक ही बार ग्रहण किया जाता है या बहुत सी क्रियाओ के होने पर किसी कारक का एक बार ग्रहण किया जाता है वहॉ दीपक अलड्कार होता है । यह क्रिया दीपक, कारक दीपक और मालादीपक रूप से तीन प्रकार का होता है ।[7] दीपकालड्कार मे एक प्रकृत और एक अप्रकृत अर्थ के साथ एक धर्म का सम्बन्ध होता है । तुल्ययोगिता मे दोनो अर्थ या तो प्रकृत हो या फिर सभी अप्रकृत हो यह आवश्यक है ।[8] यही दीपक का तुल्ययोगिता अलड्कार का भेद है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जहॉ अप्रस्तुत और प्रस्तुत पदार्थो मे एक धर्म का सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओ का एक ही कारक हो वहॉ दीपकालड्कार होता है ।[9] इन्होने भी क्रियादीपक और कारकदीपक

---

1 काव्यालड्कार 3/27

2 काव्यादर्श 2/33

3 काव्यालड्कार सार सग्रह 5/11

4 अ0स0 पृ0 87 सूत्र 24

5 तुल्ययोगिता दीपक न पृथग्भावमर्हति । धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात् । रसगड्गाधर पृ0 326–27

6. यत्रैकमनेकेषा वाक्यार्थाना क्रियापद भवति ।
तद्वतकारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ।। काव्यालड्कार 7/64

7 का0प्र0 10/103

8 का0प्र0 10/104

9 अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते । अथ कारकमेक स्यादनेकासु क्रियासु चेत्

दो भेद स्वीकार किये । आचार्य रूय्यक ने तुल्ययोगिता को ही दीपकालड्.कार मानते हुए इसके चार भेद बताये है । धर्म के आदि, मध्य या अन्त मे रहने से दीपक के आदि दीपक मध्य दीपक तथा अन्त दीपक भेद होते है । इनमे क्रिया एक ही होती है जिसका एकाधिक कारक से सम्बन्ध होता है । अत इन तीन भेदो को एक क्रिया वाले दीपक का भेद कहा है चौथा भेद वह है जिसमे कारक एक हो और क्रियाए अनेक हो ।[1] परन्तु वस्तुत दीपक के क्रिया दीपक, कारक दीपक और मालादीपक आदि तीन भेद होते है ।

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" मे दीपकालड्.कार का उदाहरण –

"द्वितीयभूतिर्भर्गस्य फेनश्रीर्मानसाम्भसाम् ।
भूपन्नगस्त्रीनिर्मोको भाति यत्कान्ति सतति ।।[2]

जिस कैलास की कान्तिप्रभा शिवजी की द्वितीय भूति , मानस्जलो की फेनश्री तथा भूपन्नगी की केचुल लहरी के समान शोभा पाती है । यह क्रिया दीपक का उदाहरण है ।

यहाँ "भाति" यह एक ही क्रिया पद है । उसके ही साथ कान्तिप्रभा, द्वितीय भूति, फेनश्री, केचुल लहरी आदि अनेक कारको का सम्बन्ध होने से यह श्लोक "क्रिया दीपक" का उदाहरण होता है । इसमे वर्णनीय होने से कैलास की कान्तिप्रभा प्रकृत है और उपमेय रूप है । शिवजी की द्वितीय भूति, मानस जलो की फेनश्री, भूपन्नगी की केचुल लहरी ये सब अवर्ण्य होने से अप्रकृत है और वे उपमान रूप मे प्रतीत होते है अत क्रियादीपक का उदाहरण है ।

---

1 अलड्.कारसर्वस्व – स0 डॉ0 रामचन्द्र द्विवेदी पृ0 60–61
2. श्रीकण्ठ0 4/30

"तनुषु तनुते चन्द्रग्राव्णा सिराव्रणरोपण
झटिति हरते विश्वास्याग्रात्तिरस्करिणी दृशो ।
अपि च मिहिरोऽकूपारापस्मृतिक्षतिमान्त्रिको
हरिहरिदलकार सिहासनीकुरूते गिरिम् ।।"[1]

उदय होता हुआ सूर्य चन्द्रकान्तमणियो के शिराव्रणो को शान्त करता है, विश्व की चक्षुओ के सामने से अन्धकार अर्थात् तिरस्करणी को हरण कर लेता है, समुद्र के क्षोभ को शान्त करने वाला मन्त्रवेत्ता है और इन्द्रदिशा ((पूर्व)) के अलङ्कारभूत उदयपर्वत को अपना सिहासन बनाता है। यह कारकदीपक का उदाहरण है।

यहाॅ उदय होता हुआ सूर्य यह एक कारक है इसके साथ चन्द्रकान्तमणियो के शिराव्रणो को शान्त करना, विश्व के अन्धकार का हरण करना, समुद्र के क्षोभ को शान्त करना, पूर्व दिशा के उदयपर्वत को सिहासन बनाना इत्यादि क्रियापदो का सम्बन्ध होने से "कारकदीपक" का उदाहरण है।

11 **विभावना अलङ्कार .–**

आचार्य रूद्रट के मतानुसार 'जिसमे लोक मे विवक्षित अर्थ जिस कारण से घटित होता है उस कारण के बिना भी घटित होता बताया जाता है वहाॅ विभावना नामक अलङ्कार होता है।[2] मम्मट ने विभावनालङ्कार का लक्षण दिया है कि जहाॅ कारण का अभाव होने पर भी उसके कार्य रूप फल की उत्पत्ति होती है अर्थात् जहाॅ कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति पायी जाती है वहाॅ 'विभावना' अलकार होता है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने

---

1 श्रीकण्ठ0 16/16

2 सेय विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।
अभिधीयते मत स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव ।। काव्यालङ्कार 9/16

3 क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।। का0प्र0 10/107

भी यही लक्षण प्रस्तुत किया। हेतु के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो विभावना अलङ्कार होता है। इसके दो भेद होते है। एक वह जिसमे निमित्त उक्त हो और दूसरा वह जहाँ निमित्त अनुक्त हो।[1] प्राय सभी आचार्यो ने विभावनालङ्कार का लक्षण एक सा ही दिया है।

उदाहरणार्थ –

"श्रवणपुटविवर्तनानिलक्रममुखरश्रुतिकम्बुचुम्बित ।
द्विरदनवदनस्य पप्रथे स्वयमसकृज्जयशङ्खवादनम् ॥" [2]

यह विभावना अलङ्कार का उदाहरण है।

गजमुख गणेश जी की कर्णताल वायु के श्रुति कम्बु मे पुन पुन प्रवेश से अनायास उनका जयशखवादन हो रहा था। यहाँ बिना कारण के ही गजमुख गणेश जी की श्रुतिकम्बु मे कर्णतालवायु के पुन पुन प्रवेश से अनायास (बिना कारण के) ही जयशखवादन हो रहा था अतएव बिना कारण के ही कार्य का होना विभावनालङ्कार है।

12 **विशेषोक्ति अलङ्कार :–**

सम्पूर्ण कारणो के होने पर फल का न कहना विशेषोक्ति है। मम्मट ने यही लक्षण दिया है प्रसिद्ध कारणो के एकत्र होने पर भी कार्य का कथन न करना 'विशेषोक्ति' है। वह अनुक्तनिमित्ता, 2 उक्त निमित्ता तथा 3 अचिन्त्यनिमित्ता आदि तीन प्रकार की विशेषोक्ति होती है।[3] आचार्य विश्वनाथ ने भी विशेषोक्ति का उपर्युक्त लक्षण प्रस्तुत किया है। हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलङ्कार होता

---

1 विभावना बिना हेतुकार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ॥
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता। सा० द० 10/66 पृ० 35

2 श्रीकण्ठ० 23/23

3 विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच। का०प्र० 10/162 सू०

है । विश्वनाथ के अनुसार यह उक्तनिमित्ता एव अनुक्तनिमित्ता के भेद से दो प्रकार की होती है ।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे विशेषोक्ति अलङ्कार का भी सुन्दर प्रयोग किया है –

"क्ष्मापीठपृष्ठमपि घट्टयतोऽतिवेल –
मुद्वेलमत्सररसपल्लवमानदृष्टे ।
अभ्यास तो मुरजवादनविभ्रमेषु
नो नन्दिन करतल श्रममाससाद ।।"[2]

गर्वयुक्त नन्दी के हाथ, मुरजवादन से अभ्यस्त, बडी देर तक पृथ्वी को पीटते रहने पर भी नही थके । यहाँ पर "नन्दी के हाथो द्वारा बडी देर तक पृथिवी को पीटना" यह कारण उपस्थित है फिर भी "नन्दी के हाथ नही थके" फल या कार्य का अभाव है और नन्दी के हाथ क्यो नही थके इसका निमित्त नही बतलाया गया है इसलिए यह अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण है ।

13 **निदर्शना अलङ्कार –**

आचार्य दण्डी के अनुसार किसी अन्य कार्य मे प्रवृत्त होने पर उसके अनुरूप अच्छे या बुरे फल का निदर्शन "निदर्शनालङ्कार" का स्वरूप है ।[3] भामह ने जो निदर्शना का लक्षण दिया है वह परवर्ती लक्षणो से भिन्न है । इनके अनुसार जहाँ क्रिया के द्वारा

---

1 सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।। सा0द0 10/67

2. श्रीकण्ठ0 18/52

3. अर्थान्तरप्रयुक्तेन किंचित् तत्सदृश फलम् ।
सदसद्वा निदर्शयेत् यदि तत्स्यान्निदर्शनम् ।। काव्यादर्श 2/348

ही यथा , इव, वति के प्रयोग के बिना विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन होता है वहाॅ निदर्शना होती है ।[1] वामन ने अवश्य भामह का अनुगमन करते हुए कहा कि शुद्ध क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ के उपदर्शन के स्थान पर सम्बन्ध का ख्यापन वामन के लक्षण की विशेषता है ।[2] यह सम्बन्ध स्थापन जो अन्तत औपम्य मे पर्यवसित होता है निदर्शन का आवश्यक तत्त्व है । वामन ने सम्बन्ध स्थापन की बात तो कही पर उन्होने औपम्य की प्रतीयमानता का सूत्रण अपने लक्षण मे नही किया और न भामह की भाॅति असम्भवद् वस्तुसम्बन्ध को निदर्शना मे सम्मिलित किया । आचार्य रूय्यक के मतानुसर दो वस्तुओ का एकत्र सम्बन्ध जो अन्वय की बाधा न रहने से सम्भव और अन्वय की बाधा होने पर असम्भव कहलाता है – विम्बप्रतिबिम्बभाव की प्रतीति कराता है तो निदर्शना होती है ।[3] दो वस्तुओ का एकत्र अवस्थान उन दोनो मे किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वभावत बताता है यदि वह सम्बन्ध कारण और कार्य जैसा हो तो निदर्शना अलड्कार नही होगा, क्योकि कार्यकारणभूत दो वस्तुओ से बिम्बप्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होगी । निदर्शना उपमामूलक अलड्कार है अत जहाॅ दो वस्तुओ मे, जो दो पदो या एक वाक्य मे वर्णित है, सादृश्य का अनुभव होगा वही निदर्शना अलड्कार होगा । रूय्यक के निदर्शना लक्षण का यही अभिप्राय है रूय्यक का लक्षण उद्भट से स्पष्टत प्रभावित है ।[4] रूय्यक ने उपमानोपमेयत्व के स्थान पर "प्रतिबिम्बकरण" शब्द का प्रयोग किया है जो अधिक उपयुक्त है । आचार्य विश्वनाथ भी रूय्यक का अनुगमन कर निदर्शना का लक्षण दिया । जहाॅ वस्तुओ का परस्पर सम्बन्ध सम्भव (अबाधित) अथवा असम्भव (बाधित) होकर उनके बिम्बप्रतिबिम्बभाव का बोधन करे वहाॅ निदर्शना अलड्कार होता है ।[5] मम्मट के अनुसार जहाॅ वस्तु (पदार्थो या वाक्यार्थो)

---

1 काव्यालड्कार पृ0 44–45
2 क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापन निदर्शनम् । का0 सू0 4/3
3. सभवासभवता वा वस्तुसंबन्धेन गम्यमान प्रतिबिम्बकरण निदर्शना ।। अलकारसर्वस्व सू0 27
4 अभवन्वस्तु सम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्व कथ्यते सा निदर्शना ।। काव्यालड्कार 5/18
5 सभवन्वस्तुसंबन्धोऽसभवन्वापि कुत्रचित् ।।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्व बोधयेत् सा निर्दशना । सा0द0 10/51

का असम्भव या अनुपपद्यमान सम्बन्ध उपमा की कल्पना कर लेता है वहाँ 'निदर्शना' अलङ्कार होता है ।[1]

महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे "निदर्शना" अलङ्कार का उदाहरण द्रष्टव्य है –

चूर्णालकव्यतिकरे ननु किंमुधैव
शेफालिकामुकुलशेखरकल्पनाभि ।
अस्मिल्ललाटफलके प्रतिबिम्बतस्ते
तत्कर्मनर्म कुरूते हि तमीकुटुम्ब ।।[2]

केश–सीमान्त मे शेफालिकापुष्पस्रज को धारण करने की क्या आवश्यकता है तुम्हारे इस उन्नत ललाट मे प्रतिबिम्बित चन्द्र ही उस पुष्पस्रज का काम कर रहा है । चन्द्राभललाट केशसीमा पर पुष्पस्रज – सा शोभित हो रहा है – इस उपमा मे कवि के कथन के परिणत हो जाने से "निदर्शना अलङ्कार" है ।

14 **सहोक्ति अलङ्कार :–**

आचार्य भामह ने इसका सर्वप्रथम लक्षण करते हुए दो भिन्न वस्तुओ मे एक काल में रहने वाली दो क्रियाओ का एक पद से कथन 'सहोक्ति' अलङ्कार का स्वरूप माना।[3] उद्भट ने भामह के ही लक्षण को यथावत् स्वीकार कर लिया ।[4] दण्डी ने गुण

---

1 अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक ।। का0प्र0 10/148

2 श्रीकण्ठ0 11/36

3 तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सहोक्ति सा मता यथा ।। काव्यालङ्कार 3/39

4 तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते ।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सा सहोक्तिर्मतासताम् ।। काव्यालङ्कार सग्रह 4/29

और कर्म के सहभाव से कथन को सहोक्ति बताते हुए कर्म मे गुण का तत्त्व और सन्निविष्ट कर दिया था ।[1] और वामन का लक्षण भामह के श्लोकबद्ध लक्षण का ही गद्य रूप है ।[2] रूद्रट के अनुसार अपने सदृश दूसरे अर्थ को घटित करता हुआ जो अर्थ जिस रूप मे होता है उस दूसरे अर्थ के समान इसका कथन जहाँ होता है वहाँ 'सहोक्ति' नामक अलङ्कार होता है ।[3] आचार्य रूय्यक का सहोक्ति विवेचन व्याकरण– दर्शन से प्रभावित है । उपमान और उपमेय मे से एक की प्रधानता का निर्देश होने पर, दूसरे का सहार्थ से सम्बन्ध होने पर सहोक्ति होती है ।[4] विश्वनाथ के अनुसार सह शब्दार्थ के बल से जहाँ एक शब्द दो अर्थो का वाचक हो वहाँ 'सहोक्ति' अलङ्कार होता है -- परन्तु इसके मूल मे अतिशयोक्ति अवश्य रहनी चाहिए । यहाँ अतिशयोक्ति या तो अभेदाध्यवसाय मूलक होती है या कार्य कारण के पौर्वापर्य – विपर्यय के कारण होती है । अभेदाध्यवसाय मे भी कही श्लेषमूलक और कही अश्लेषमूलक ।[5] विश्वनाथ ने सहोक्ति के भेद आचार्य रूय्यक के आधार पर किये है ।[6] मम्मट के अनुसार जहाँ सह शब्द के अर्थ के सामर्थ्य से एक पद दो का वाचक अर्थात् दो पदो से सम्बद्ध हो वह सहोक्ति कहलाती है ।[7]

प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीकण्ठचरितम्" मे 'सहोक्ति' अलङ्कार का उदाहरण –

"शनै शनैर्मानवतीकबोष्णश्वासोर्मिभि सार्धमवर्धताह ।
निशीथिनी कार्श्यदशा वियोगिजीवाशया सार्धमपि प्रपेदे ।।"[8]

---

1 सहोक्ति सहभावेन कथन गुणककर्मणाम् । काव्यादर्श 2/351

2 वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधान सहोक्ति । काव्यालङ्कार सूत्र 4/3/28

3 भवति यथारूपोऽर्थ· कुर्वन्नेवापर तथाभूतम् ।
उक्तिस्तस्य समाना तेन सम या सहोक्ति सा ।। काव्यालङ्कार 7/13

4 उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्ति । अलङ्कार सर्वस्व सू0 29

5 सहार्थस्य बलादेक यत्र स्यादवाचक द्वयो· ।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा ।। सा0द0 दशक परिच्छेद पृ0 335

6 अलङ्कारसर्वस्व सू0 29 वृत्तिभाग द्रष्टव्य ।

7. सा सहोक्ति सहार्थस्य बलादेक द्विवाचकम् ।। का0प्र0 10/169

8 श्रीकण्ठ0 6/7

प्रस्तुत श्लोक मे सहोक्ति अलड्कार है ।

मानवतियो की किंचिदुष्णनिश्वासो की वृद्धि के साथ ही साथ दिन बढ चला वियोगियो की जीवन आशा की क्षीणता के साथ साथ ही रात्रि भी क्षीणता को प्राप्त हो चली।

यहॉ उष्णनिश्वासो के बढने के साथ साथ दिन का बढना और वियोगियो की जीवना आशा की क्षीणता के साथ साथ रात्रि का क्षीण होना वर्णित है अतएव "सार्ध" शब्द के प्रयोग से काव्योचित चमत्कार आ गया है इसलिए सहोक्ति अलड्कार है ।

15 **तद्गुणालड्.कार –**

आचार्य रूद्रट इस अलड्कार के प्रवर्तक है । इनके पूर्ववर्ती आचार्यो ने इसका विवेचन नही किया है । रूद्रट ने 'तद्गुण' के दो प्रकारो का वर्णन किया है । जिनमे से प्रथम प्रकार वाले 'तद्गुण' [1] को मम्मट ने 'सामान्य' नामक अलड्कार बताया है तथा तद्गुण के दूसरे भेद को मम्मटादि आचार्यो ने "तद्गुण" नाम से ही अपना लिया है । तद्गुण के इस द्वितीय भेद का लक्षण रूद्रट ने दियाहै – ' जिस अलड्कार मे असमान गुण वाली वस्तु अधिक गुण वाली वस्तु से मिलकर उसी का गुण अपना ले वह दूसरा तद्गुण कहलाता है ।[2] आचार्य मम्मट ने भी तद्गुण का लगभग यही स्वरूप बतलाया है । उनके अनुसार जहॉ न्यून गुण वाली प्रस्तुत वस्तु अत्यन्त उज्जवल गुण वाली (अप्रस्तुत वस्तु) के सम्पर्क से अपने गुण को छोडकर उसी के गुण से युक्त हो जाती है उसे 'तद्गुण' कहते है ।[3] मम्मट के परवर्ती आचार्यो ने मम्मट के मतानुसार ही इस अलड्कार का विवेचन किया है ।

---

1 यस्मिन्नेकगुणानामर्थाना योगलक्ष्यरूपाणाम् ।
संसर्गे नानात्व न लक्ष्यते तद्गुण स इति ।। काव्यालड्कार 9/22

2 असमानगुण यस्मिन् अतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु ।
ससृष्ट तद्गुणता धत्तेऽन्यस्ततद्गुण सइति ।। वही पर 9/24

3 स्वमुत्सृज्य गुण योगादप्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुण ।। का0प्र0 10/137

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" मे तद्गुण अलङ्कार का उदाहरण –

पद्मरागरूचिसचयाञ्चितावर्तगर्तशतबन्धुरेऽम्बुधौ ।
साध्यरागसचिव न मण्डल पप्रथे विवलमानमुष्णगोः ॥[1]

प्रस्तुत उदाहरण मे तद्गुण अलङ्कार है क्योंकि यहाँ सूर्यबिम्ब अपने स्वरूप को छोडकर भँवरो वाले समुद्र मे एक आवर्त के रूप को प्राप्त हो जाता है । इसलिए कि पद्मरागप्रभाओ से अनुरजित शतश भँवरो वाले समुद्र मे डुबकियाँ खाता हुआ सूर्यबिम्ब दिख न सका , एक आवर्त सा लगता था । अत तद्गुण अलङ्कार है ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे अन्य अर्थालङ्कार भी प्राप्त होते है, जिनका विस्तार से विवेचन प्रस्तुत न करके अलङ्कार सर्ग एव श्लोक सख्या प्रस्तुत है —

सन्देहालङ्कार :– चौबीसवे सर्ग के 42वे श्लोक मे बारहवे सर्ग के 68वे श्लोक मे है ।

स्मरण अलङ्कार – चौबीसवे सर्ग के 24वे श्लोक मे, और व्यङ्ग्यरूप स्मरण तेइसवे सर्ग के 30वे श्लोक मे ।

भ्रांतिमान अलङ्कार .– अष्टम सर्ग के 16वे श्लोक मे और सप्तम सर्ग के 23वे श्लोक मे ।

उल्लेख अलङ्कार :– दशम सर्ग के 50वें एव 55वे श्लोक मे ।

---

1 श्रीकण्ठ0 10/14

अपहनुति अलड़्कार – दशम सर्ग के 34वे श्लोक मे और ध्वनिरूप अपहनुति दशम सर्ग के 30वे श्लोक मे।

परिकर अलड़्कार :– द्वादश सर्ग के 69वे श्लोक मे।

विषमालड़्कार – एकादश सर्ग के 40वे श्लोक मे।

असगति अलड़्कार – अष्टम सर्ग के 35वे श्लोक मे।

ब्याजस्तुति अलड़्कार :– द्वादश सर्ग के 88वे एव 77वे श्लोक मे प्रस्तुत है।

विचित्रालड़्कार – सप्तदश सर्ग के 13वे श्लोक मे।

अधिकालड़्कार – विशति सर्ग के 16वे श्लोक मे।

व्याघात अलड़्कार :– त्रयोदश सर्ग के 31वे , 32वे श्लोक मे।

काव्यालिड़्ग अलड़्कार – चतुर्थ सर्ग के 12वे श्लोक मे ध्वनिरूप काव्यलिड़्ग सप्तम सर्ग के 31वे श्लोक मे द्रष्टव्य है।

अनुमान अलड़्कार :– दशम सर्ग के 45वे श्लोक मे।

यथासंख्यालड़्कार :– त्रयोदश सर्ग के 47वे श्लोक मे।

विकल्प अलड़्कार :– एकादश सर्ग के 54वे श्लोक मे और दशम सर्ग के 66वे श्लोक मे।

समुच्च्यालड़्कार – चतुर्दश सर्ग के 17वे श्लोक मे।

सामान्यालड़्कार :– विशति सर्ग के 64वे श्लोक मे और त्रयोदश सर्ग के 24वे श्लोक मे।

मीलित अलड्कार – चतुर्दश सर्ग के 50वे श्लोक मे ।

सूक्ष्मालड्.कार – पञ्चदश सर्ग के 28वे श्लोक मे ।

उत्तरालड्कार :– चतुर्दश सर्ग के 61,62वे श्लोक मे ।

भाविकालड्.कार :– ध्वनिरूप अष्टदश सर्ग के 3 श्लोक मे ।

उदात्तालड्.कार – चतुर्थ सर्ग के 15वे श्लोक मे और षष्ठ सर्ग के 37वे श्लोक मे ।

ससृष्टि अलड्.कार – चतुर्थ सर्ग के 19वे श्लोक मे, उक्त श्लोक मे काव्यलिड्ग तथा उत्प्रेक्षा भी निरपेक्ष भाव से स्थित है ।

सड्.कर सन्देह अलड्.कार – चतुर्थ सर्ग के 14वे , 23वे, 35वे श्लोक मे प्राप्त है ।

(स) अर्थालड्.कार का प्रयोग एवं समीक्षा :–

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे लगभग सभी अर्थालड्कारो का कवि ने सुन्दर प्रयोग किया है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे उत्प्रेक्षा अलड्कार का प्रयोग बहुतायत मे किया है । उपमा, रूपक, तथा अर्थान्तरन्यास अलड्कारो के अनेक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते है ।
इनके अतिरिक्त समासोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, तदगुण इत्यादि अर्थालड्कार के मनोहारी प्रयोग भी प्राप्त होते है । सड्कर अलड्कार का अर्थालड्कारो के साथ प्रयोग हुआ है । प्रस्तुत महाकाव्य मे उत्प्रेक्षा , रूपक, उपमा, आदि का प्रचुरता से प्रयोग होने से कही कही अलड्कार दोष भी आ गया है । जिससे काव्यानन्द की अनुभूति मे अत्यधिक व्यवधान पड़ता है । परन्तु उपमादि अलड्कारो की मधुरता से वह आनन्द पुररूज्जीवित हो जाता है ।

महाकवि मखक ने प्रस्तुत प्रबन्ध रचना मे सुन्दर अर्थालड़्कारो का निदर्शन कर महाकाव्य को सरस एव अलड़्कृत बना दिया है। काव्य मे आदि से अन्त तक प्रत्येक श्लोक मे अलड़्कार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है। कवि ने अलड़्कार , गुण, रीति के साथ साथ रस का भी भरपूर प्रयोग किया है। मखक को प्रबन्ध रचना का पूर्ण ज्ञान था जैसा कि उनके ग्रन्थ के द्वितीय सर्ग से ज्ञात हो जाता है। मखक ने अलड़्कारो का प्रयोग कर काव्य को सुशोभित बना दिया ।

सप्तम अध्याय

रस निरूपण

रस निरूपण

(क) **सामान्य परिचय –**

काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने रस का विवेचन करते हुए सभी प्रकार के काव्यो मे रसयुक्त काव्य को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है । आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है । रस सूत्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि के अनुसार 'विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।'[1] विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव को साहित्यशास्त्र मे रस की व्यञ्जनसामग्री कहा गया है । भरतमुनि के रस सूत्र के आधार पर आचार्य मम्मट ने रस के स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है -- 'लोक मे स्थायी रति आदि चित्तवृत्तिविशेष के जो कारण, कार्य और सहकारीभाव है, उनका यदि नाट्य तथा काव्य मे वर्णन किया जाता है , तो वे कारणादि क्रमश विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारीभाव कहे जाते है । उन विभावादि के द्वारा अथवा उनके सहित व्यञ्जना द्वारा व्यक्त किया हुआ वह स्थायी भाव रस है ।[2] रस के स्वरूप के विषय मे आचार्य विश्वनाथ का भी यही मत है – सहृदयो के हृदय मे (वासनारूप से स्थित) रति आदि स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते है, तब आस्वादरूप हो जाते है और रस कहलाते है ।[3]

लोक मे जो पदार्थ लौकिक इत्यादि भावो के उद्बोधक होते है, वे ही काव्य नाट्य मे वर्णित होने पर विभाव कहे जाते है । विभाव दो प्रकार के बताये गये है –

1 आलम्बन विभाव 2 उददीपन विभाव । काव्य-नाट्य वर्णित नायकादि आलम्बन विभाव होते है , क्योंकि इन्ही के कारण सामाजिको के हृदय में रस का सञ्चार हुआ

---

1 विभावानुभावव्यभिचारिसयोगात् रसनिष्पत्ति । नाट्यशास्त्र 6/33

2 कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण ।
व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत ।। का0प्र0 4/27,28

3 विभावेनानुभावेन व्यक्त. सचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायीभाव सचेतसाम् ।। सा0द0 3/1

करता है ।[1] आलम्बन भूत नायक – नायिका आदि की विविध आड्गिक चेष्टाए, समुचित देश–काल आदि जो कि रस को उद्दीप्त किया करते है, वे उद्दीपन विभाव कहलाते है ।[2]

अपने अपने कारणो से हृदय मे उद्बुद्ध रत्यादि भावो को बाहर प्रकाशित करने वाले अड्गादि व्यापारो को अनुभाव कहते है । लोक मे ये अड्गादि व्यापार कार्य समझे जाते है किन्तु काव्य नाट्य के क्षेत्र मे इन्हे अनुभाव कहा जाता है ।[3] अनुभाव तीन प्रकार के हैं –

सात्त्विक, कायिक, और वाचिक । सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार है, उन्हे सात्त्विक भाव कहा जाता है ।[4] ये आठ प्रकार के माने गये है । 1 स्तम्भ 2 स्वेद् 3 रोमाञ्च 4 स्वरभड्ग 5 वेपथु 6 वैवर्ण्य 7 अश्रु 8 प्रलय ।[5]

व्यभिचारीभाव उन भावो को कहते है, जो विशेष उत्कटता अथवा अनुकूलता से रत्यादि स्थायिभावो को रसास्वाद मे परिणत करते है तथा जिन्हे स्थायिभावो के समुद्र मे बुलबुले की भाँति उन्मज्जित तथा निमज्जित होते हुए देखा जाता है । ये तैतीस प्रकार के माने गये है ।[6] निर्वेद , ग्लानि, शड्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता,

---

1 रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा काव्यनाट्ययो ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।
आलम्बन नायकादिस्तमालम्व्य रसोद्गमात् ।। सा0द0 3/29

2 उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।।
अलम्बनस्य चेष्टयद्या देशकालादयस्तथा । सा0द0 3/131,132

3 उद्बुद्ध कारणै स्वै स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।।
लोके य कार्यरूप सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो ।। सा0द03/132,133

4 विकारा सत्त्वसभूता सात्त्विका परिकीर्तिता ।। सा0द03/134

5 स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभड्गोऽथ वेपथु ।।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका. स्मृता । 3/135,136

6 विशेषादाभिमुख्येन् चरणाद्व्यभिचारिण ।
स्थापिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदा ।। तत्रैव 3/140

मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जाड्य, गर्व, विषाद्, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क ।[1]

स्थायिभाव उसे कहते है जो न तो किसी अनुकूल भाव से तिरोहित होता है, और न किसी प्रतिकूल भाव से ही दबता है । यह अन्त तक अवस्थित रहने वाला भाव है, और इसी मे रस के अङ्कुरण की मूलशक्ति निहित रहती है ।[2] स्थायिभावो की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए भरतमुनि का कहना है – जिस प्रकार मनुष्यो के बीच राजा तथा शिष्यो के बीच गुरू श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार सभी प्रकार के भावो के मध्य स्थायिभाव महान् होता है ।[3] अधिकाश आचार्यों ने स्थायिभावो की सख्या नौ मानी है –

1 रति, 2 हास 3 शोक, 4 क्रोध 5 उत्साह 6 भय 7 जुगुप्सा 8 विस्मय और 9 शम ।[4] नाट्य मे "शम" को स्थायिभाव नही माना गया है परन्तु काव्य मे निर्विवादरूप से इसकी सत्ता स्वीकार की गई है । आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वोक्त नौ स्थायिभावो का वर्णन करने के पश्चात् "वत्सलता अथवा स्नेह' नामक दसवे स्थायिभाव को भी मान्यता दी है । [5]

---

1 का0 प्र0 4/31–34

2 अविरूद्धा विरूद्धा वा य तिरोधातुमक्षमा ।
आस्वादङ्कुर कन्दोऽसौ भाव स्थायीति समत ।। सा0 द0 3/174

3 यथा नराणा नृपति शिष्याणा च यथा गुरू ।
एव हि सर्वभावाना भाव स्थायी महानिह ।। नाट्यशास्त्र 7/8

4 रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ता शमोऽपि च ।। सा0 द0 3/175

5 सा0 द0 3/251

(ख) विभावादि तथा रस के परस्पर सम्बन्ध के विषय में विविध आचार्यों के मत –

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने विभावादि तथा रस के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे विशद विवेचन किया है । आचार्य मम्मट ने भरतमुनि के द्वारा निर्दिष्ट रस सूत्र के चार व्याख्याकारो के मतो का उल्लेख किया है । वे आचार्य है – 1 भट्टलोल्लट, 2 श्रीशङ्कुक, 3 भट्टनायक, 4 अभिनवगुप्त ।[1]

भट्टलोल्लट के अनुसार विभावादि उत्पादक है तथा रस उनसे उत्पन्न होता है । रस साक्षात् रूपसे अनुकार्य राम आदि मे रहता है तथा अनुकर्ता नट आदि मे उसका अनुभव हुआ करता है । इनका मत 'रसोत्पत्तिवाद' कहलाता है ।

श्रीशङ्कुक के अनुसार विभावादि अनुमापक है , तथा रस उनके द्वारा अनुमेय होता है । यह मत 'रसानुमितिवाद' कहलाता है ।

भट्टनायक 'रसभुक्तिवाद के प्रतिपादक है, जिनके अनुसार विभावादि भोजक है, तथा रस उनसे भोज्य होता है ।

अभिनवगुप्त के अनुसार विभावादि व्यञ्जक है, और रस उनसे अभिव्यक्त होता है । यह मत 'रसाभिव्यक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है ।

इन आचार्यों मे अभिनवगुप्त के द्वारा की गई व्याख्या ही परवर्ती आचार्यों के द्वारा स्वीकार की गई है तथा उन्हे ही रससूत्र का सर्वोत्तम व्याख्याकार माना गया है ।

---

1 का0प्र0 वृत्ति भाग 4/28

उनके अनुसार सहृदयो अथवा सामाजिको के हृदय मे रत्यादिभाव सस्कार–रूप से सूक्ष्मतया स्थित रहते है । वासनारूप से विद्यमान ये स्थायी भाव उन्ही सामाजिको के हृदय मे सम्यक्तया अभिव्यक्त होते है, जो लोक मे ललना, उद्यान, तथा कटाक्षादि के द्वारा रत्यादि का अनुमान करने मे निपुण हो गये है । लोक के ये ललनादि काव्य – नाट्य मे विभावादि का रूप धारण कर लेते है । काव्य का अलौकिक शक्ति के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है । अतएव रसास्वादनकाल मे प्रमाता भी नियत सीमित अथवा परिमित नही रहता, तथा उसके हृदय मे एक विशेष प्रकार की चित्त वृत्ति का उदय हो जाता है, जिसमे किसी अन्य ज्ञेय का सम्पर्क नहीं रहता , तथा वह अपरिमित प्रमाता हो जाता है । इस अपरिमितावस्था मे रत्यादि की सामान्यरूप से प्रतीति होती है , अर्थात् रत्यादि भावो का भी साधारणीकरण हो जाता है । रत्यादि भाव अपने आकार के समान अभिन्नरूप से अनुभूत होता हुआ भी आस्वादमात्र स्परूप वाला होता है । इसकी स्थिति विभावादि की सत्तापर्यन्त ही होती है । यह आस्वाद मात्रस्वरूप तथा विभावादि जीवितावधि रत्यादि भाव ही रस कहलाता है । इसका आस्वादन अखण्ड रूप से होता है । इसमे विभावादि की प्रतीति पृथक् रूप से नही होती । जैसे पानक रस मे इलायची, कालीमिर्च , मिश्री, केसर, तथा कर्पूर इत्यादि का मिश्रण होता है , किन्तु इस मिश्रण का रस इन सभी वस्तुओ के रस से पृथक् विलक्षण तथा एकरूप होता है, उसी प्रकार रस विभावादि से पृथक् विलक्षण एव अखण्डरूप मे प्रतीत होता है । यह सहृदय के चित्त की द्रुति तथा विस्तार करता है । उसे ऐसा लगता है, मानो वह रस साक्षात् रूप से सामने परिस्फुरित हो रहा हो, हृदय मे प्रविष्ट सा हो रहा हो, प्रत्येक अड्ग मे अमृत का सिञ्चन सा कर रहा हो, अपने अतिरिक्त समस्त ससार को आच्छादित सा कर रहा हो तथा ब्रह्मानन्द जैसा अनुभव करा रहा हो ।[1] इसी कारण सहृदयो के मध्य इसे ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है ।

---

1. का0प्र0 वृत्ति भाग 4/28

(ग) **रसों की संख्या :–**

भरतमुनि ने रसो की सख्या आठ मानी है – श्रृङ्गार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, तथा अद्भुत ।[1] इन आठ रसो के विषय मे सभी आचार्य एक मत है, किन्तु कुछ आचार्यो ने शान्त, भक्ति, तथा वात्सल्य को भी रसो के अन्तर्गत माना है । भरतमुनि ने भी उपर्युक्त आठ रसो का वर्णन करने के अनन्तर शान्त रस का विवेचन किया है ।[2] आचार्य मम्मट ने शान्त रस को नवम् रस माना है , तथा निर्वेद को उसका स्थायिभाव कहा है ।[3] उन्होने वात्सल्य तथा भक्ति का भावध्वनि मे अन्तर्भाव किया है ।[4] अभिनव गुप्त ने भरतमुनि की मान्यता का समर्थन करते हुए "अभिनव–भारती" मे शान्त रस का विवेचन किया है, किन्तु इन्होने भी वात्सल्य को रस की कोटि से बाहर रखा है । इसके विपरीत आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को पृथक् रस के रूप मे मान्यता दी है ।[5] दशरूपककार धनञ्जय ने शान्तरस को केवल काव्य का विषय माना है , नाट्य का नही ।[6]

(घ) **महाकवि मंखक की दृष्टि में रस का महत्त्व –**

महाकवि मखक की दृष्टि मे रसयुक्त महाकाव्य ही प्रधान होता है । उन्होने "श्रीकण्ठचरितम्" मे रस की महत्ता को स्पष्ट करते हुए बिना रस के कवित्व को

---

1 नाट्यशास्त्र 6/16

2 नाट्यशास्त्र 6/84–87

3 निर्वेदस्थायिभावोऽस्तिशान्तोऽपि नवमोरसः। का0 प्र0 4/35

4 रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित ।।
भाव प्रोक्त । तत्रैव 4/35,36

5 सा0द0 3/251

6 दशरूपक 4/35

व्यर्थ बताया है।[1] महाकवि मखक उन्हे ही महाकवि समझते है, जिनकी वाणियाँ मधुकण छोडने वाली किसी विस्तृत रस को अधिक विशाल परिपाक के उत्कर्ष वाले पिको की तरह धारण करती है । और उन्हे कवि नही समझते है जो दुस्तर क्रम की दुर्बोधता के सम्बन्ध से श्रोताओ की बुद्धि को जो विरक्त करते है ।[2] इस प्रकार मखक ने रसवादी महाकवि को ही श्रेष्ठता प्रदान की है ।

महाकवि मङ्खक ने रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि रसहीन रचना का सस्कृत साहित्य मे कोई मूल्य नही होता ।[3]

मङ्खक के अनुसार सरस्वती देवी ही कवियो की माता है । उस माँ के कवित्व और पाण्डित्य रूपी दो स्तन है । जो सरस्वती माँ के कवित्व और पाण्डित्य रूपी दोनो स्तनो का चिरकाल तक पान करता है वह शास्त्र तथा काव्य मे प्रागल्भ्य एव सौष्ठव प्राप्त कर लेता है ।[4] माँ सरस्वती की अनुकम्पा से ही कोई भी महाकवि सरस काव्य के निर्माण मे प्रवृत्त होता है । काव्य का परिपोषक तत्त्व रस को महाकवि मङ्खक ने आवश्यक माना है । और रसास्वादयुक्त काव्य की रचना करना सर्वथा दुष्कर कार्य बताया है । मङ्खक के मतानुसार जिस प्रकार व्यक्ति हार आदि अलङ्कारो

---

1 अर्थोऽस्ति चेन्न पदशुद्धिरथास्ति सापि
नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्तया ।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेतद्
व्यर्थं बिना रसमहो गहनं कवित्वम् ।। श्रीकण्ठ० 2/32

2 मधुकणमुचो वाचो येषा विसारि रस कम–
प्युरुतरपरीपाकोद्रेका पिका इव बिभ्रति ।
त इह कवयो मन्ये नान्ये पुनर्दुरतिक्रम –
क्रमकठिनतायोगद्वेषा विमुह्यति शेमुषी ।। श्रीकण्ठ० 2/50

3 आटोपेन पटीयसा यदपि सा वाणी कवेरामुखे
खेलन्ती प्रथते–तथापि कुरुते नो सन्मनोरञ्जनम् ।
न स्याद्यावदमन्दसुन्दरगुणालङ्कारझांकारित
स प्रस्यन्दिलसद्रसायन रसासारानुसारी रस ।। श्रीकण्ठ० 2/50

4 सरस्वतीमातरभच्चिर न य कवित्वपाण्डित्यघनस्तन धय

से विभूषित होकर सिहासन पर अधिरूढ होकर भी बिना राज्याभिषेक के 'राजपद' को नही प्राप्त करता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलड्कारो से विभूषित होने पर भी जब तक काव्य मे विस्तृत रस का परिपाक नही होगा तब तक वह काव्य "प्रबन्ध--काव्य" अथवा "काव्याधिराज" का पद नही प्राप्त कर सकता है ।[1]

﴾ड﴿ प्रस्तुत महाकाव्य का अड्गीरस वीर :-

वाग्वैदग्धयसम्पन्न कवियो की रचनाओ मे प्राय सभी रसो का परिपाक हुआ करता है । इस प्रकार के रसयुक्त प्रबन्धो मे कोई एक रस अड्गी होता है, तथा अन्य रस उसके अड्ग के रूप मे हुआ करते है। इस विषय मे ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्द्धन का कहना है कि प्रबन्ध मे एक ही प्रधान रस उपनिबद्ध होकर अर्थविशेष की सिद्धि तथा सौन्दर्यातिशय की पुष्टि करता है । जैसे -- रामायण अथवा महाभारत मे । रामायण मे 'शोक श्लोकत्वमागत' कहने वाले आदि कवि बाल्मीकि ने स्वयं ही करूण रस का अड्गित्व सूचित किया है और सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त ही काव्य की रचना करके उसका निर्वाह भी किया है ।[2] यद्यपि प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" एक चित्रकाव्य है , जिसमे अलड्कारो को ही प्रमुखता दी गई है, और आदि से अन्त तक "उत्प्रेक्षा" नामक अर्थालड्कार का निर्वाह किया गया है , किन्तु अलड्कारो की प्रधानता होते हुए भी इसमे रसो की उपेक्षा नहीं गयी है । यत्र-तत्र विभिन्न प्रसड्गो मे इस महाकाव्य मे सभी रस उपलब्ध होते है ।

यहाँ यह विचारणीय है कि प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" का अड्गी रस कौन है । शिवपुराण की कथा "त्रिपुरदहन" पर आधारित यह ग्रन्थ युद्ध के वर्णनो

---

1 तैस्तैरलड्कृतिशतैरवतसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि ।
नून बिना घनरसप्रसराभिषेक
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्ध ।। तत्रैव 2/32

2 ध्वन्यालोक वृत्ति 4/5

से ओत–प्रोत है , अत इन वर्णनो मे रौद्र, वीर, भयानक – ये तीन रस सुगमता से प्राप्त हो जाते है । अनेक स्थानो पर प्रियजनो की मृत्यु अथवा अन्य वर्णनो मे करूण रस विद्यमान है । शान्त रस भी प्रचुरता से उपलब्ध होता है तथा बीभत्स रस के भी अनेक प्रसङ्ग प्राप्त होते है । रसराज श्रृङ्गार का वर्णन भी महाकवि ने अत्यधिक किया है जबकि इस महाकाव्य मे नायिका पार्वती का प्रत्यक्ष वर्णन एक जगह छोडकर कही भी नही हुआ, वह केवल दोलाक्रीडा मे प्रस्तुत होती है फिर भी पुष्पावचय, जलक्रीडा, दोलाक्रीडा आदि मे श्रृगार का वर्णन किया है । हास्य रस का इसमे अभाव है । अङ्गीरस के विषय मे आचार्य विश्वनाथ का स्पष्ट मत है कि किसी महाकाव्य मे श्रृङ्गार , वीर अथवा शान्त मे से कोई एक रस अङ्गी रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है । तथा उस एक रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस अङ्ग रूप से अभिव्यक्त किये जा सकते है ।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार करूण, रौद्र तथा अद्भुत रस आदि अङ्गीरस की कोटि से बाहर हो जाते है । चूँकि इस महाकाव्य का कथानक "त्रिपुरदहन" पर आधारित है अत इसमे महाकवि ने युद्धप्रधान वर्णन किया है इसलिए वीररस प्रधान महाकाव्य है । महाकवि द्वारा उपनिबद्ध वीर रस का आश्रय स्वय भगवान् शिव जी है । त्रिपुर के विनाशार्थ उनका उत्साह ही स्थायी भाव है, आलम्बन है प्रतिनायक त्रिपुरासुर देवो की विपत्तियाँ , असुरो का अहभाव, उनकी अबद्धयता एव स्वर्ण , रजत, लौह निर्मित तीनो पुरो की अभेद्यता आदि उद्दीपन विभाव है । मति, धृति, स्मृति, तर्क, अहकार, रोमाञ्च आदि सञ्चारी भाव है । प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे तेइसवे सर्ग "युद्धवर्णनम्" और चौबीसवे सर्ग "त्रिपुरदाहवर्णनम्" के अन्तर्गत वीर रस का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है । प्रारम्भ मे सर्ग चतुर्थ से षोड्श सर्ग पर्यन्त "कैलासवर्णनम्", "साधारणवसन्तवर्णनम्", "दोलाक्रीडावर्णनम्" "पुष्पावचयवर्णनम्", "जलक्रीडावर्णनम्", "सन्ध्यावर्णनम्", चन्द्रवर्णनम्", "चन्द्रोदयवर्णनम्", "प्रसाधनवर्णनम्", "पानकेलिवर्णनम्"

---

1 सा0द0 6/317

इत्यादि मे पाठक श्रृगारादि रसो का अनुभव करते-करते वीर रस को विस्मृत कर बैठता है। फिर भी कथावस्तु का सूत्र जैसे ही सत्रहवे सर्ग से पुन जुडता है वैसे ही अड्गी रस वीर एव उसके सहायक रौद्र रस, वीभत्स रस आदि का अनुभव होता है।

आगे अड्गीरस "वीर रस" का एव अड्गरस रौद्र, वीभत्स, भयानक, करूण, शान्त इत्यादि का विवेचन प्रस्तुत है।

वीर रस :-

उत्तम पात्र मे आश्रित वीररस होता है। इसका स्थायीभाव उत्साह, देवता महेन्द्र और रग सुवर्ण के सदृश होता है। इसमे जीतने योग्य पात्र आलम्बन विभाव होते है और उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते है। युद्ध के सहायक (धनुष आदि या सैन्य आदि) का अन्वेषणादि इसका अनुभाव है। धैर्य, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्चादि इसके सचारीभाव हैं। दान, धर्म, दया और युद्ध के कारण यह वीर चार प्रकार का होता है - 1 दानवीर 2 दया वीर 3 धर्मवीर 4 युद्धवीर।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे "युद्धवीर रस" का विशेष निरूपण किया गया है -

"बले दृप्यत्येव शिशुशशभृद्धत्तसशिरसो
जयश्रीविस्रम्भग्रथितपरिरम्भव्यतिकरै।

---

1 उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावक।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽय समुदाहृत ॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मता।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिण।
अनुभावस्तु तत्र स्यु सहायान्वेषणादय ॥
सचारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृ[illegible]।
स च दानधर्मयुद्धर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात ॥
सा०द० 231-234

बृहत्कोपाटोपप्रकटनविशेषस्थिरतर –

स्फुरद्युद्धश्रद्ध त्रयमपि पुराणामघटत ।।"[1]

उपर्युक्त श्लोक मे शिव और दैत्यो की उभय सेनाओ के बीच युद्ध का वर्णन प्रस्तुत किया गया है इसमे दैत्य बडे क्रोध के साथ शिवजी को जीतने हेतु एक स्थान पर एकत्रित होते है । यहाँ पर शिवजी मे उत्साह रूपी स्थायी भाव है और त्रिपुरासुर आलम्बन विभाव है और युद्ध के लिए दैत्यो का क्रोधित होना यहाँ पर उद्दीपन विभाव है, अस्त्र–शस्त्र आदि अनुभाव है । दैत्यो का गर्व, अहकार आदि सचारी भाव है, इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि मड्खक ने यहाँ पर वीर रस का निबन्धन किया है ।

हस्तैरस्त्रव्युदस्तै प्रसृतसरसिज लूनदण्डैर्विपाण्डु –

च्छत्रैरूच्चण्डफेन स्फुटमसिभिरभिव्यक्तशेवालवल्लि ।

लीलानृत्यत्कबन्धभ्रमरकरचनैर्नर्तितावर्तचक्र

सड्ग्रामोर्वीसरस्ते दनुजमदगजा लोडयन्तो जगर्जु ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक मे महाकवि मड्खक ने देव और दानवो के बीच प्रलयड्कारी युद्ध का वर्णन प्रस्तुत किया है । इसमे शिवजी के द्वारा दैत्यो के अड्गो को भड्ग करना, दैत्यो के अस्त्र–शस्त्रो को काट गिराना आदि मे अनुभाव है । दैत्यो के बहे हुए रक्त को कवि ने श्लोक मे सरोवर के रूप मे कल्पित किया है । इसलिए यहाँ पर सचारी भाव है । दैत्यो का विनाश करने के लिए शिवजी द्वारा उत्साह ही स्थायी भाव है , दैत्य आलम्बन विभाव है । दैत्यो का देवताओ के साथ युद्ध करने के लिए

---

1. श्रीकण्ठ0 23/49

2 श्रीकण्ठ0 23/53

चेष्टा से आगे बढना ही उद्दीपन विभाव है । अतएव यहाँ पर वीर रस है ।

"येनोदस्तो नभसि स बलेर्मन्दिराणि प्रवेष्टु
लक्ष्म्या मन्येऽनधपरिघतामाययौ दण्डपाद ।
बाणीकृत्य त्रिपुररिपुणा मुच्यमानोऽतिदूर
स त्रैलोक्याक्रमणचणता भूय एव प्रपेदे ॥"[1]

प्रस्तुत श्लोक मे महाकवि मड्खक ने "त्रिपुरदाहवर्णन" नामक चौबीसवे सर्ग के अन्तर्गत भीषण युद्ध का वर्णन करते हुए वीर रस को प्रस्तुत किया है । यहाँ भगवान शिव जी ने दैत्यो को परास्त करने हेतु विष्णु को बाण रूप मे अस्त्र बनाकर ऊपर फेका, बाण दण्ड रूप मे-आकाश मे दूर तक विस्तृत हो विष्णु मानव बलि मन्दिरो मे प्रवेशेच्छु लक्ष्मी को स्वदण्डपादरूपी अर्गला से निषिद्ध कर रहे हो ।

यहाँ पर त्रिपुरारि द्वारा युद्ध मे चेष्टा करना उद्दीपन विभाव है, दैत्य आलम्बन विभाव है , बाण आदि अस्त्र अनुभाव है, बाण रूपी विष्णु द्वारा दैत्यो को जीतने हेतु उत्साह ही स्थायी भाव है । इसलिए उपर्युक्त श्लोक मे वीर रस स्पष्ट होता है ।

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" के निम्न श्लोको मे भी वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है – तेइसवे सर्ग के अन्तर्गत श्लोक सख्या 3, 6, 10, 13, 21, 33, 42, 56 मे और चौबीसवे सर्ग की श्लोक सख्या 7, 11, 13, 16, 24, 31 आदि श्लोको मे पूर्णरूप से वीर रस प्रस्फुटित हुआ है ।

---

1. श्रीकण्ठ0 24/10

रौद्र रस –

रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध होता है । इसका वर्णलाल और देवतारूद्र है । इसमे 'आलम्बन' शत्रु होता है , उसकी चेष्टाऐ 'उद्दीपन' होती है । उग्रता , वीरता की बडाई, शस्त्र घुमाना, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, वेपथु और मद ये इस रस के अनुभाव होते है । मोह, क्रूरता , अमर्ष आदि व्यभिचारी भाव है ।[1]

वीर रस और रौद्र रस मे बहुत सूक्ष्म भेद होता है । यह इन दोनो के विभावादि के द्वारा स्पष्ट हो जाता है । कविराज श्री गड्गानन्द जी ने इन दोनो मे अन्तर स्पष्ट किया है – वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है और रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध होता है । वीर रस का आलम्बन प्रतिनायक होता है और वह प्रतिनायक प्रधान नायक के अभीष्ट कर्मो मे विघ्न उत्पन्न करने वाला होता है किन्तु वह सर्वथा विवेक शून्य नही होता । वीर रस का प्रतिनायक दुषद् और विद्वान होता है दूसरी ओर रौद्र रस का आलम्बन सर्वथा क्रोधाभिभूत और विवेक शून्य एव पापात्मा होता है । वीर रस के उद्दीपक विभाव है । अपकार, गुण आपत्ति, रौद्र रस का दुषद अपकारादि । वीर रस के अनुभाव है प्रतीकार करण दान आदि, रौद्र रस का अनुभाव विकल्पन आदि । वीर का सचारी भाव हर्ष, आवेग, चिन्ता आदि, रौद्र रस का मुख्यत गर्व आदि है । ओज गुण की स्थिति वीर एव रौद्र रस दोनो मे समान है ।

---

1 रौद्र क्रोधस्थायिभावो रक्तो रूद्राधिदैवत ।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपन मतम् ।।
मुष्टिप्रहारपातन विकृतच्छेदावदारणैश्चैव
सग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत्प्रौढ़ा ।।
भ्रूविभड्गौष्ठनिर्दशबाहुस्फोटनतर्जना ।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ।।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मद ।
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसदर्शनादय ।।
मोहामर्षादस्यत्र भावा स्युर्व्यभिचारिण । सा0द0 3/227–230

परन्तु रौद्र मे ओज की पराकाष्ठा होती है । वर्णसमास और वृत्तिकी भी साम्यता होती है । रौद्र रस मे आरभटी की खडखडाहट ही उसका प्राण होती है । यहाँ तक कि युद्ध वीर का एक मात्र पोषक रौद्र रस ही होता है ।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य मे महाकवि मखक ने रौद्र रस का निबन्धन सर्ग 12 और 24 मे किया है –

"गर्भस्थविश्वभरनाभिपद्मसदमप्रसक्तेश चतुराननस्य ।
तमीकुटुम्बप्रतिबिम्बभगया विगाह्यमानो रथराजहसै ।।
क्रुध्यन्निबागस्त्यनिवासदाना द्दयाता ऽ न्नुचचतरङ्ग दण्डै ।
सौहार्दमासाद्य विभाभिरिन्दोरित्थ प्रचुक्षोभ सरिद्भुजग ।।"[2]

उपर्युक्त श्लोक मे स्वकुक्षिसुप्त विष्णु की नाभि मे स्थित ब्रह्मा के वाहन हसो – समुद्र के जल मे पडते हुए स्वच्छ चन्द्रबिम्बो के द्वारा विगाह्मान एव अपनी ऊँची – ऊँची तरगो के दण्डो से, स्वशत्रु अगस्त्य (ऋषि तारा) को निवास प्रदान करने के अपराध के कारण अगस्त्य ऋषि ने एक बार समुद्र का पान कर लिया था ताडित करते हुए चन्द्र किरणो से बल पाकर, इस प्रकार नदियो का स्वामी समुद्र प्रक्षुब्ध हो रहा था ।

यहाँ पर अगस्त्य ऋषि का क्रोध स्थायिभाव है । आलम्बन समुद्र है । अगस्त्य ऋषि का ब्रह्मा जी के प्रति मोह व्यभिचारी भाव हुआ । आवेग मे आकर अगस्त्य

---

1 कर्ण भूषण 1/89

2 श्रीकण्ठ0 12/54–55

जी का समुद्र पान करना अनुभाव आदि है । इस प्रकार रौद्र रस का पूर्ण परिपाक हुआ है ।

"सनद्धानामपि परिकर रत्नमन्त्रौषधीना
मोघीकृत्य त्रिनयनशराग्रेसरो जातवेदा ।
गात्र गात्र द्युसदसुहृदा निर्दहन्नट्टहास
व्यानञ्जेव प्रकटितसत्कार नादैस्तदस्थानम् ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे महाकवि मखक ने भगवान् शिव जी द्वारा दैत्यो का नाश दिखाया गया है । कवचधारी त्रिपुरो के रत्न मन्त्र औषधियो के समूह को विफल बनाकर महेश के बाणाग्रभाग मे विद्यमान अग्निदेव दैत्यो की हड्डियो के जलने के चटचटाहट ध्वनि के व्याजसे मानो भयकर अट्टहास कर रहे थे ।

इसमे शिव जी का क्रोध स्थायी भाव है समस्त दैत्य आलम्बन है, दैत्यो की हड्डियो की चटचटाहट मे अनुभाव है, अग्निदेव का महादेव के प्रति मोह और आमर्ष ही व्यभिचारी भाव है अतएव रौद्र रस स्पष्ट है ।

प्रस्तुत महाकाव्य के निम्न श्लोको मे रौद्र रस का निबन्धन हुआ है ।

<u>रौद्र रसः–</u>

श्लोक स0 12/47–48

24/14, 24, 25

---

1 श्रीकण्ठ0 24/18

श्रृड्.गार रस :–

'श्रृड्ग' का अभिप्राय है कामाविर्भाव और ''श्रृड्गार' का अर्थ है – जो इस प्रकार के कामोद्भेद से सभूत हो । इस रस के आलम्बन प्राय उत्तम प्रकृति के प्रेमीजन हुआ करते है । परकीया तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोडकर अन्य प्रकार की नायिकाए तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके आलम्बन विभाव है । चन्द्र चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमर झड्कार आदि इसके उद्दीपन विभाव है । इसके अनुभाव भ्रूविक्षेप तथा कटाक्षादि है । औग्रय, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोडकर सभी व्यभिचारी भाव इसके परिपोषक हुआ करते है । ''रति'' इसका स्थायीभाव है । इसके दो भेद है – 1 सभोग श्रृड्गार 2 विप्रलम्भ श्रृड्गार ।[1]

संभोग श्रृड्.गार :–

प्रेम पगे नायक और नायिका के परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि की अनुभूति का प्रदाता जो रस है , वह सभोग श्रृड्गार है ।[2] इसके उद्दीपन विभावो मे षड्ऋतु, चन्द्र–चन्द्रिका, सूर्य, ज्योत्स्ना, चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, जल–विहार, वन–विहार, प्रभात, मधुपान, चन्दनादि के अनुलेप, भूषण–धारण तथा अन्यान्य स्वच्छ,

---

1 श्रृग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुक ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रस श्रृगार इष्यते ।।
परोढा वर्जयित्वा तु वेश्या चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिका स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायका. ।।
चन्द्रचन्दन रोलम्बरूताद्युद्दीपन मतम् ।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभाव प्रकीर्तित ।।
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिण ।
स्थायीभावो रति श्यामवर्णोऽय विष्णुदैवत ।।
विप्रलम्भोऽथ सभोग इत्येष द्विविधो मत ।। सा0द0 3/183–186

2 दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ । यत्रानुरक्तावन्योन्य सभोगोऽयमुदाहृत ।। सा0द03/210

सुन्दर और सुमधुर पदार्थ है ।[1]

महाकवि मड्खक ने सभोग श्रृड्गार का सुन्दर परिपाक प्रस्तुत किया है

"वस्त्र हरत्सु विजनेऽथ च चित्त चौर
लोकेषु तूर्णमबलाजघनस्थलानाम् ।
वीक्ष्य प्रबोधसमय रसपार्थिवस्य
काञ्ची चिर कलकल कलमाततान ।।[2]

यहाँ पर चित्त चोरो के द्वारा एकान्त मे कामिनियो के वस्त्र हटाने पर रसराजकाम के जागरण को व्यक्त किया गया है । यहाँ नायक के कामासक्त मे आलम्बन विभाव है । कामिनी नायिका के सौन्दर्य आदि मे उद्दीपन विभाव है । चित्त चोरो के द्वारा वस्त्र हटाने मे अनुभाव है उसकी उत्कण्ठा व्यभिचारी भाव है और नायक एव नायिका मे उत्पन्न रति स्थायीभाव है ।

निम्न श्लोक मे महाकवि मड्खक ने सभोग श्रृड्गार का वर्णन सभ्यता की मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए किया है –

"सख्योऽथ पक्ष्मलदृशा तदवेक्ष्य तन्त्र
स्मेराननार्पितकर शनकैर्निरीयु ।
तत्कर्पटाञ्चलसमीरविधूयमानो
दीपोऽपि निर्जिगमिषुत्वमिवाललम्बे ।।[3]

---

1 तत्र स्यादृतुषट्क चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमय ।
जलकेलिवनविहार प्रभातमधुपानयामिनीप्रभृति
अनुलेपनभूषाद्या वाच्य शुचि मेध्यमन्यच्च । तत्रैव 3/212–213

2 श्रीकण्ठ0 15/18

3 श्रीकण्ठ0 15/15

महाकवि मड्खक ने उपर्युक्त श्लोक के "तदवेक्ष्यतन्त्र" शब्द से सम्भोग श्रृड्गार का पूर्ण परिपाक प्रस्तुत कर दिया है।

विप्रलम्भ श्रृड्.गार :–

जहाँ पर नायक नायिका मे अनुराग तो अति उत्कट है , परन्तु प्रिय समागम नही होता उसे विप्रलम्भ अथवा वियोग कहते है।[1]

उदाहपार्थ :–

"अनल्पसकल्पवशेन मन्येत दिशस्त्वदाकारकृतावगूहना ।
ततश्च सा तासु मुहुर्विमुग्ध धीर्विमुञ्चतीर्ष्याकलुषे विलोचने ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक मे नायिका एकतान से नायक का ध्यान कर रही है। दशो दिशाओ मे उसे ही प्रतिफलित देखती है और अधिक विक्षिप्त हो जाने पर वह नायक के प्रतिबिम्बो को सत्य समझने लगती है।

यहॉ पर दिशा रूपी नायिका आलम्बन है, ईर्ष्या आदि व्यभिचारी भाव है, पति को देखने आदि की चेष्टा उद्दीपन विभाव है। इस प्रकार यहाँ विप्रलम्भ का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य के निम्न श्लोको मे श्रृड्.गार रस का समावेश किया है –
श्लोक स0 – 15/21, 25, 26, 31, 33, 40 इत्यादि।

---

1 यत्र तु रति प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ। सा0द0 3/186

2 श्रीकण्ठ0 12/29

भयानक रस –

भयानक रस का स्थायीभाव "भय" है। देवता काल, वर्ण कृष्ण और इसके आश्रयपात्र स्त्री नीचपुरूष आदि होते है। जिससे भय उत्पन्न हो वह "आलम्बन" और उसकी चेष्टाए 'उद्‌दीपन' मानी जाती है। विवर्णता, गद्‌गद् भाषण , प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और इधर उधर देखना आदि इसके अनुभाव होते है। जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्‌का, अपस्मार, सम्भ्रम् तथा मृत्यु आदि इसके व्यभिचारी भाव होते है।[1]

मङ्‌खक ने प्रस्तुत महाकाव्य के बाइसवे सर्ग "दैत्यपुरीक्षोभवर्णन" मे भयानक रस का प्रस्फुटन हुआ है।

उदाहरणार्थ :–

तै कृतान्तकरपाशपन्नगस्फारितस्फुटफणागणात्मसु।
शोणकान्तिवहिनवृष्टयो दृष्टयो मुमुचिरेऽसियष्टिसु ॥[2]

प्रस्तुत श्लोक मे देवो और दैत्यो के बीच युद्ध के समय दैत्य लोग भय के कारण साक्षात् यमराज को देख रहे है। यहाँ पर दैत्यो का "भय" स्थायी भाव है। और शिव आदि देवो से भयभीत है। अतएव शिव जी आलम्बन है , शिव की युद्ध के लिए चेष्टा उद्‌दीपन विभाव है, दैत्यों का भय के कारण कम्पन और उनके आँखों मे रक्ताभ आदि अनुभाव है तथा दैत्यो को अपनी ही तलवारे साक्षात यमराज के कालपाश

---

1 भयानको भयस्थायिभाव कालाधिदैवत ।
स्त्रीनीचप्रकृति कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदै ॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बन मतम् ।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्‌दीपन पुन ॥
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्‌गदस्वर भाषणम् ।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादय ॥
जुगुप्सावेगसंमोहसत्रासग्लानिदीनता ।
शङ्‌कापस्मारसभ्रान्तिमृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः ॥ सा०द० 2/235–238

सर्पो जैसी दिखाई देना व्यभिचारी भाव है । अतएव यहाँ पर पूर्ण भयानक रस का प्रस्फुटन हुआ ।

सस्रसे श्रवणोत्पल विजघटे कण्ठादथैकावली
श्रोत्राभ्या मणिकेलिकुण्डलयुग विभ्रश्य दूर ययौ ।
इत्थ दानवसुभ्रुवा हरचमूनादश्रुतौ पप्रथे
त्रासेनैव भविष्यदक्षतबृहद्वैधव्ययोग्य क्रम ॥[1]

जब देव और दैत्यो मे इतना घनघोर युद्ध होता है कि भगवान शिव की सेना के तुमुलनाद को सुनकर दैत्य स्त्रियो को त्रास के कारण भविष्य मे होने वाला वैधव्य तत्काल प्रारम्भ हो गया ।

यहाँ पर दैत्य स्त्रियो का भय स्थायी भाव है । शिव आदि देव आलम्बन है दैत्य स्त्रियो का भय के कारण कानो और गले आदि से आभूषण का गिरना अनुभाव है उनका तत्काल वैधव्य प्रारम्भ हो जाना व्यभिचारी भाव है अतएव यहाँ पर भयानक रस का सजीव चित्रण हुआ है ।

प्रस्तुत महाकाव्य के निम्न श्लोको मे भयानक रस का परिपाक हुआ है । श्लोक स0 22/32, 37, 55, 57, 58 इत्यादि ।

बीभत्स रस :–

बीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, वर्ण नील और देवता महाकाल है । दुर्गन्धयुक्त मास, रूधिर, चर्बी , आदि इसके आलम्बन होते है और उन्ही मे कीडे पड जाना आदि उद्दीपन होता है । थूँकना, मुँह फेर लेना, आँख बन्द करना आदि अनुभाव

---

1 श्रीकण्ठ0 21/50

एव मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि और मरण आदि व्यभिचारी भाव होते है ।

वैसे बीभत्स रस का परिपाक वैराग्य उपदेशक ग्रन्थ मे ही शोभा पाता है । अन्यत्र इस रस का निबन्धन कही–कही देखने को मिल जाता है । महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" मे युद्ध आदि के अन्तर्गत बीभत्स रस के कुछ उदाहरण दिये है ।

<u>उदाहरणार्थ</u> :–

"वास कृत्तिभिरासवर्द्धिरसृजा लीलावदश पलै
मुर्क्ताभि कटजन्मभिश्च दयितालोकस्तनालकृति ।
कि किं नेत्थमसिध्यदुद्घातमृधोल्लासे निशाचारिणा
मन्योन्यप्रहितामरासुरशरस्रग्दार्यमाणैर्गजै. ।।"[1]

प्रस्तुत श्लोक मे दोनो सेनाओ के द्वारा मारे जाते हुए हस्तियो के द्वारा निशाचरो का क्या–क्या सिद्ध नही हो गया अर्थात् मृत हस्तियो के चमडो से तम्बू बन गये, खून का मदिरापान और मॉस का भोजन आदि । अतएव यहॉ पर निशाचरो मे आलम्बन है हस्तियो के मरे हुए मास को खाना उद्दीपन विभाव है, खून के आसव से मदिरापान अनुभाव है इससे शिव जी की जुगुप्सा आदि स्थायीभाव है और ग्लानि आदि सञ्चारी भाव है । यहॉ पर पूर्णरूपेण बीभत्स रस का चित्रण हुआ है ।

निम्न श्लोको मे भी बीभत्स रस का सुन्दर एव सजीव निबन्धन हुआ है –

23/38, 46, 54 ।

---

1 जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रस ।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृत ।।
दुर्गन्ध मासरूधिरमेदांस्यालम्बन मतम् ।
तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपन मुदाहृतम् ।।
निष्ठीवनास्यबलननेत्रसकोचनादय ।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिण ।।
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादय ।

सा0द0 3/239–241

करूण रस –

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करूण रस आविर्भूत होता है । इसके देवता यमराज है । इसमे स्थायी भाव 'शोक' होता है । और विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते है एव उसका दाहकर्म आदि उद्दीपन होता है । प्रारब्ध की निन्दा, भूमिपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, निश्वास, स्तम्भ, प्रलाप आदि अनुभाव है, निर्वेद, मोह, अपस्मार व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव है ।[1]

किसी वीर रस के महाकाव्य मे करूण रस का अङ्ग बनकर आना भी स्वाभाविक सा होता है । युद्ध मे सैनिको की मृत्यु और उनकी मृत्यु से प्रभावित उनके सगे सम्बन्धी आत्मीय जनो का दुखी होना भी व्साभाविक है । एक जागरूक महाकवि इस परिवेदना का सहानुभूति पूर्ण वर्णन करके ही अपना महाकाव्य समाप्त करता है । महाकवि मखक ने भी सत्रहवे सर्ग मे देवो की विपत्ति का वर्णन, बारहवे सर्ग मे रतिविलाप वर्णन और दैत्यस्त्रियो का विलाप वर्णन आदि मे करूण रस का सुन्दर निबन्धन किया है ।

उदाहरणार्थ :–

"विजहीहि मुधा तपोधनानवजेतु स्मर चापचापलम् ।
पुरत पुनरप्यह सहे नहि वैधव्यविषादविक्रियाम् ।।[2]

---

1 इष्टनाशादनिष्टाप्ते करूणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरै कपोतवर्णोऽय कथितो यमदैवत ।।
शोकोऽत्र स्थायिभाव स्याच्छोच्यमालम्बन मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ।।
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादय ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ।।
निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमा ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभि[illegible] ।।

सा0द0 3/222–225

2 श्रीकण्ठ0 12/18

प्रस्तुत श्लोक मे कामदेव के मरने मे आलम्बन बिभाव, रति का विलाप रोदन आदि अनुभाव है, दुसह वियोग आदि मे उद्दीपन विभाव है। रति द्वारा कामदेव के लिए शोक स्थायीभाव है।

निम्न श्लोको मे भी करूण रस का मार्मिक चित्रण किया है –
12/13,23
17/62,64 इत्यादि मे।

शान्त रस :–

शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के लोग है। अनित्यता आदि के कारण समस्त सासारिक विषयो की निःसारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमात्म स्वरूप का ज्ञान ही इसका 'आलम्बन' विभाव है। इसके उद्दीपन है -- पवित्र आश्रम, भगवान् की लीलाभूमियॉं, तीर्थस्थान, रम्य कानन, साधु–सन्तो के सङ्ग आदि। रोमाञ्चादि इसके अनुभाव है तथा निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, जीवदया आदि व्यभिचारी भाव है।[1] शम का अभिप्राय है – वैराग्यदशा मे आत्मरति से होने वाला आनन्द।[2]

श्रीकण्ठचरितम् के सत्रहवे सर्ग मे भगवान् शङ्कर की महत्ता बतलाते हुए मङ्खक ने शान्त रस अभिव्यक्त किया है – हे त्रिनेत्र ! प्रकाशस्वरूप आप ईश्वर अकेले

---

1 शान्त शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मत ।
अनित्यत्वादिना शेषवस्तुनिःसारता तु या ॥
परमात्मस्वरूप वा तस्यालम्बनमिष्यते ।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्र तीर्थरम्यवनादय ॥
महापुरूषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्वभिचारिण ॥
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादय ।

सा०द० 3/245–249

2 शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामज सुखम् ॥

सा०द० 3/180

ही त्रिभुवन को जानने और स्ववश मे करने मे समर्थ है । आपकी स्वस्वरूपा विमर्शशक्ति भेद के होने पर भी आप मे ब्रह्माण्डभाव का भेद उत्पन्न नही कर पाती, यद्यपि वह आपसे भिन्न है ।[1] इसके बाद मङ्खक ने शिव का दार्शनिक स्वरूप भी कई जगह प्रस्तुत किया है – हे पचविशतत्व । साख्यशास्त्रवेत्ता व्यर्थ ही तुम त्रिलोकपालक को उदासीन स्वभाव कहते है । तब यदि यह प्रकृति ही जगत्कर्त्री है तो जरा कैवल्य तो प्राप्त करे बिना शङ्कर भगवान के छायानुग्राहकत्व के ।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीकण्ठचरितम् मे भगवान् शिव अपने दिव्यगुणो के साथ, पूर्णरूप मे केवल सत्रहवे सर्ग की देवसभा मे ही निबद्ध हुए है । अन्यत्र वे परोक्षरूप मे ही वर्णित है ।

इन वर्णनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मङ्खक को परमात्म तत्त्व का पूर्ण ज्ञान है । अत यहॉ परमात्मस्परूप का ज्ञान ही आलम्बन विभाव है । भगवान् के कार्यो का वर्णन उद्दीपन है । रोमाञ्चादि अनुभव है और निर्वेद , हर्ष, स्मृति, मति, प्रबोध आदि सञ्चारी भाव है । यहॉ पर 'शम' या 'निर्वेद'[3]स्थायीभाव है जो इन विभावादि के द्वारा पुष्ट होता है और श्रोता या पाठक को शान्त रस का आस्वादन कराता हुआ लोकोत्तर भाव जगत मे विचरण करने के लिए छोड देता है ।

इसके अतिरिक्त भगवान् शङ्कर के विभिन्न अवतारो[4] और उनके निवास स्थान कैलास पर्वत [5] के वर्णन मे भी शान्त रस की अनुभूति होती है ।

---

1 एकस्त्व त्रिनयन दृश्यसेऽधिकर्तु ज्ञातु च त्रिभुवनमीश्वर प्रकाश ।
तादात्म्य विवृतवती विमर्शशक्तिर्द्वैधेऽपि प्रथयति ते न भेददोषम् ॥ श्रीकण्ठ0 17/29

2 धिङ्मूढा वितथमुदासनस्वभाव भाषन्ते पुरुष तव त्रिलोकभर्तु ।
कर्त्री चेत्प्रकृतिरियं करोतु किंचित्कैवल्यं भवदधिरोमन्तरेण ॥ श्रीकण्ठ0 17/20

3 "निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति. . ।" इत्यादि (काव्यप्रकाश 4/35) के द्वारा आचार्य मम्मट ने "निर्वेद" को शान्त रस का स्थायी भाव माना है ।

भक्ति रस -

काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने जिन नौ रसो का विवेचन किया है उनमे भक्ति रस की गणना नही की है। भरत मुनिविरचित नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार आचार्य अभिनव गुप्त ने उनके द्वारा कहे गये शान्त या शम की व्याख्या करते हुए भक्ति को शान्त का अड्ग माना है।[1] आचार्य मम्मट ने भक्ति को रस न मानकर भावध्वनि मे उसका अन्तर्भाव किया है।[2] विश्वनाथ ने भी भक्ति को पृथक रस नही माना है। आचर्य रूद्रट तथा भोज ने "प्रेयान्' नाम का एक रस माना है जो भक्ति से कुछ कुछ मिलता अवश्य है किन्तु वह भी स्पष्ट रूप से भक्ति नही है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती, श्रीजीवगोस्वामी, श्रीरूपगोस्वामी, प्रभृति कुछ विद्वानो ने सुदृढ तर्कों के आधार पर भक्ति के रसत्व की स्थापना की है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की गणना भी मुख्य रसो मे की जानी चाहिए, भाव ध्वनि इत्यादि मे उसका अन्तर्भाव करना ठीक नही है।

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति 'रति' नामक स्थायी भाव ही भक्ति नामक रस है जो श्रवणादि के द्वारा भक्तो के हृदय मे विभाव, अनुभाव , सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावो के माध्यम से आस्वाद्यत्व को प्राप्त होता है।[3] यहाँ श्रीकृष्ण से तात्पर्य शड्करादि प्रधान देवताओ से भी है।

---

1 रतिर्देवादिविषया

2 रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजित. ।।
भाव प्रोक्त .. . । का0प्र0 4/35,36

3 विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि ।।
आस्वाद्यत्व हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभि ।
एषा कृष्णरति स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् ।।
— हरिभक्तिरसामृतसिन्धौ 2/1/2,6

यह भक्ति रस मुख्य तथा गौण दो प्रकार का होता है । मुख्य भक्ति रस के पॉच भेद है – शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल और मधुर । इनमे पूर्व–पूर्व से उत्तर–उत्तर श्रेष्ठ है । गौण भक्ति रस सात प्रकार का है – हास्य , अद्भुत, वीर, करूण, रौद्र, भयानक और वीभत्स । यद्यपि काव्याशास्त्रीय आचार्यो ने इन सात रसो का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया है । किन्तु यही रस भगवत्सम्बद्ध होने पर भक्ति रस के अङ्ग हो जाते है । इस प्रकार भक्ति रस (पॉच और सात) कुल बारह प्रकार का कहा गया है ।[1]

वस्तुत श्रीकण्ठचरित एक भक्तिरस का काव्य है । कवि और उसके पिता परम शैव थे । पिता के द्वारा शिवस्तुति की आज्ञा स्वप्न मे ही दी गई थी ।[2] यही कारण है कि प्रस्तुत महाकाव्य मे अनायास ही शिवमहिमावर्णन का अजस्रस्रोत फूट पडा है । प्रथम , पचम, सप्तम, षोडश और सप्तदश सर्गों मे शिव का भरपूर वर्णन मिलता है, इसके अतिरिक्त भी अनेक सर्गो मे प्रसङ्गत शिव का भूरि–भूरि स्तवन आया है । अतएव सम्पूर्ण महाकाव्य मे शङ्करभक्ति चर्चा ही तो है ।

कवि ने बन्दीजनो के मुख से शिव की जो स्तुति कराई है,[3] वह सम्पूर्ण महाकाव्य का प्राण है । सर्वत्र भगवत्स्तुति मे शान्त भक्ति रस का आस्वादन होता है

---

1 भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा ।
मुख्यस्तु पञ्चधा शान्त प्रीति प्रयाश्चवत्सल ।।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमा ।
हास्योद्भुतस्तथा वीर करूणो रौद्र इत्यपि ।।
भयानक बीभत्स रति गौणश्च सप्तधा ।
एव भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते ।।
– हरिभक्तिरसामृतसिन्धौ 2/5/95–97

2 श्रीकण्ठ0 3/75

3 श्रीकण्ठ0 16/1–56

"भगवान खट्वागी अर्थात् शिव की तृतीय नेत्राग्नि विजय को प्राप्त करे । इस ही अग्नि ने काम पतग को भस्म कर डाला है तथा इसके समक्ष तो भाल चन्द्र की किरणे रूई के फ्रीके फाहे जैसी ही लगती है । वह शिव शान्ति प्रदान करे ।"[1]

अपने परममित्र झषकेतन के झण्डे के लिए देवगड्गा का एक मकर हठात् पकड लेने के लिए, पार्वती की मुखद्युति को चुराकर भागने वाला चन्द्रमा शिव के शिर पर सिकुडकर बैठा हुआ है । कवि का आशय है कि वह चन्द्रमा सबको शीतलता प्रदान करे ।[2]

श्रीकण्ठचरित के चतुर्थ सर्ग मे भगवत्पूजन का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है ।[3]

मखक शिवभक्ति की महत्ता बताते हुए स्वय कहते है कि ज्ञान के बिना भी अपवर्ग की सीढी , बिना धनव्यय के ही श्रेष्ठ यज्ञ एव नास्तिक सर्पो के लिए मुधर दुग्धपान के समान यह शड्करभक्ति चर्चा ही सर्वोत्कृष्ट है ।[4]

---

1 जीयात्कृतानड्गपतड्गदाह खटवाड्गिनो नेत्र शिखिप्रदीप ।
यत्यान्तिके शुभ्रदशानिवेशश्रिय किरीटेन्दुकरा श्रयन्ते ।। श्रीकण्ठ0 1/1

2 सख्यु स्मरस्य नवकेतुकृते किरीट –
स्व सिन्धुवाहमकर सहसेव हर्तुम् ।
यस्योत्तमाड्गभुवि पुञ्जितमूर्तिरिन्दु –
रास्ते नगेन्द्रतनयाननवर्णचौर ।। श्रीकण्ठ0 5/41

3 श्रीकण्ठ0 4 /37–42

4 ज्ञानानपेक्षिण्यपवर्गवीथ्री यज्ञो विनैवार्थकदर्थनाभि ।
पयश्छटा नास्तिकपन्नगानां जयत्यसौ शकरभक्तिचर्चा ।।
श्रीकण्ठ0 1/44

तरूण बन्दी मखक ने साक्षात् भगवान् श्रीकण्ठ के चरणो मे अपने उद्‌गार पुष्प सादर समर्पित किये है ।[1] स्वप्न मे पिता विश्ववर्त के द्वारा दिये गये शिवलीला वर्णन" के आदेश को मङ्खक ने स्वान्त सुखाय बना लिया है । शिव के प्रसङ्ग से किया गया बन्दियो द्वारा प्रभाती गायन प्रात पठनीय है ।[2]

इस वर्णन मे भगवान् शङ्कर आलम्बन है, अन्तर्वृत्तिविशेष तथा विश्वरूपप्रदर्शन असाधारण उद्दीपन है, भगवान् की स्तुति करना अनुभाव है, रोमाञ्चादि सात्त्विक भाव है तथा हर्ष और आवेग सञ्चारी भाव है । इन सबके सयोग से पुष्ट हुआ "शान्तिरति" नामक स्थायिभाव शान्त भक्ति रस की चर्वणा कराता है ।

कुछ आचार्यो ने वात्सल्यरस की भी रसो मे गणना की है परन्तु प्रस्तुत महाकाव्य मे वात्सल्य रस का कोई उदाहरण नही मिलता है इसलिए यहॉ उसका विवेचन अपेक्षित नही है ।

---

1 सर्वे कैश्चन दूषिता कवितृभि प्रस्तीर्य पृथ्वीभृता –
मास्थानपणसीम्नि विक्रय तिरस्कारदनर्घा गिर ।
देवस्याद्रिभिदुत्तमाङ्गमकरीलिढाङ्घ्रिरेणुस्रज ।
कैलासाद्रिसभापतेरिति मया मङ्खेन मङ्खायते ।।

तत्रैव 1/56

2 श्रीकण्ठ0 तत्रैव 16/2

अष्टम अध्याय

"श्रीकण्ठचरितम्" में गुण, रीति, छन्द एवं दोष

"श्रीकण्ठचरितम्" मे गुण, रीति, छन्द एव दोष

(क) गुण :-

(1) काव्य-गुणों का स्वरूप :-

काव्य शोभा की उत्पत्ति के लिए काव्य मे गुणो का होना अनिवार्य है । अग्निपुराण के अनुसार जो साधन काव्य मे महती शोभा लाता है उसे 'गुण' कहते है [1] आचार्य वामन ने गुणो और अलङ्कारो का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्यशोभा के उत्पादक धर्म 'गुण' होते है । तथा उन काव्यशोभा के अतिशय के हेतु अलङ्कार है । केवल अलङ्कार काव्यशोभा को उत्पन्न नहीं कर सकते किन्तु ओज, प्रसाद आदि गुण तो अलङ्कारो के बिना भी काव्यशोभा को उत्पन्न कर सकते है ।[2] वामन के इस मत का आचार्य मम्मट ने स्पष्ट रूप से खण्डन करते हुए कहा है कि यदि काव्यशोभा के उत्पादक धर्मों को "गुण" तथा गुणकृत शोभा की वृद्धि करने वाले धर्मों को "अलङ्कार" माना जाये तब यह प्रश्न होगा कि क्या समस्त गुणो के होने से काव्य होगा अथवा कुछ ही गुणो के होने से ? यदि समस्त गुणो के होने से काव्य माना जाये तो गौडी तथा पाञ्चाली रीतियों जिनमे समस्त गुण नहीं बल्कि कुछ ही गुण होते है, किस प्रकार काव्यत्व की हेतु होगी ? और यदि कुछ ही गुणो के होने से काव्य माना जाये तो "अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्नि रूच्चै प्राज्य प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूम" इत्यादि मे भी ओज प्रभृति गुण होने से काव्यत्व होने लगेगा , जो कि उचित नही है ।[3]

"गुण" का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि जिस प्रकार शूरता इत्यादि आत्मा के धर्म है, उसी प्रकार जो काव्य मे प्रधानतया आत्मवत् स्थित रस के धर्म है, रस के साथ नियतस्थिति वाले है तथा रसोत्कर्ष के हेतु है, वे धर्म "गुण" है ।[4]

---

1 अग्निपुराण 346/3

2. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति 3/1/1,2

3. का0प्र0 8/67

4 का0 प्र0 8/66

मम्मट के मत मे गुण काव्य के आत्मस्थानीय रस के ही धर्म है, शब्दार्थ का धर्म भी माना जाता है । जिस प्रकार शूरता इत्यादि गुण आत्मा के ही धर्म है किन्तु गौण रूप से उनका शरीर मे भी व्यवहार होता है । उसी प्रकार माधुर्यादि गुण वास्तव मे काव्यात्मा रस के धर्म है किन्तु औपचारिक रूप से काव्य शरीर भूत शब्दार्थ मे भी उनका व्यवहार होता है । आचार्य मम्मट के अनुसार गुण रस के साक्षात उपकारक है जबकि अलङ्कार रस व्यञ्जना के उपकरण रूप शब्द तथा अर्थ के उपकारक है । इसके अतिरिक्त गुण सदैव रस के साथ रहते है तथा रस का अवश्य ही उपकार करते है किन्तु अलकार न तो नियमत रस के साथ रहते है और न सदैव रसोपकारक ही होते है । इस प्रकार मम्मट ने अलङ्कारो से भेद भी सम्यक् रूप से स्पष्ट कर दिया है । गुणो के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अग्निपुराण मे कहा गया है कि गुणो से रहित काव्य अलकृत होने पर भी उसी प्रकार प्रीतिजनक नही होता जिस प्रकार कुरूपा स्त्री के हार आदि आभूषण केवल भाररूप होते है । [1] आचार्य वामन ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार आभूषणो से रहित स्त्री का रूप उसके शालीनतादि गुणो से युक्त होने पर आकर्षक होता है तथा गुण युक्त स्त्री का रूप आभूषणो से युक्त होने पर अत्यन्त आकर्षक हो जाता है , उसी प्रकार उपमादि अलकारो से रहित काव्य भी केवल माधुर्य इत्यादि गुणो से युक्त होने पर आकर्षक होात है तथा अलकारो से युक्त काव्य माधुर्यादि गुणो से सम्पन्न होने पर अत्यधिक आकर्षक हो जाता है । किन्तु जिस प्रकार विविध आभूषणो से युक्त स्त्री शालीनतादि गुणो से रहित होने पर आकर्षण रहित होती है उसी प्रकार उपमादि अलंकारों से सम्पन्न काव्य भी माधुर्यादि गुणो से हीन होने पर अनादरणीय होता है ।[2]

[ii] गुणों की संख्या :-

अग्निपुराण मे उन्नीस गुणो का निरूपण हुआ है, जिनमे सात शब्द गुण,

---

1 अग्नि पुराण 346/1

2 काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 3/1/2

छ अर्थगुण तथा छ शब्दार्थगुण है ।[1] भरतमुनि ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता, तथा कान्ति ये दस गुण माने है ।[2] आचार्य वामन ने दस शब्दगुणो तथा दस अर्थगुणो का निरूपण किय है ।[3] भोज ने चौबीस शब्द गुण तथा चौबीस अर्थगुण प्रतिपादित किये है ।[4]

भामह, मम्मट, हेमचन्द्र, तथा विश्वनाथ इत्यादि आचार्यो ने केवल तीन गुण माने है –

1 माधुर्य 2 ओज 3 प्रसाद । ये आचार्य शेष सभी गुणो का इन्ही तीन गुणो मे अन्तर्भाव कर लेते है । प्रस्तुत महाकाव्य मे उपलब्ध गुणो का निरूपण इस प्रकार है –

(अ) <u>**माधुर्यगुण :–**</u>

जिस आहलादकता के कारण चित्त की द्रुति होती है – चित्त पिघल सा जाता है वह आह्लादकता ही माधुर्य गुण है और श्रृगारादि रसो मे होता है । वह माधुर्य गुण सम्भोग श्रृगार की अपेक्षा करूण मे, करूण की अपेक्षा विप्रलम्भ मे तथा विप्रलम्भश्रृगार की अपेक्षा शान्त मे उत्कृष्टतर हो जाता है क्योकि इन रसो मे चित्त क्रमश अधिकाधिक द्रवित होता जाता है ।[5]

टवर्ग – भिन्न स्पर्शवर्ण जो अग्रभाग मे अपने अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से

---

1 अग्निपुराण 346/5,6,12,18,19
2 नाट्यशास्त्र 17/95
3 काव्यालङ्कारसूत्र 3/1/14
4 सरस्वतीकण्ठाभरण का प्रथम परिच्छेद देखिये ।
5 का0प्र0 8/68

युक्त हो यथा अनड्ग, कुञ्ज इत्यादि, लघु स्वर जिनके बीच मे हो ऐसे "र" तथा "ण" वर्ण एव अल्पसमास या मध्यसमास वाली रचना माधुर्य की व्यञ्जक होती है।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे माधुर्यगुण के कुछ उदाहरण इस प्रकार है –

"ध्वस भेजेऽड्गरागो निबिडतरपरिष्वड्गभड्गिप्रसड्गात्
गॉतुत्रोटाशेषरला भरणपरिकरो भूयसा सभ्रमेण ।
शीर्णत्व केशपाशोऽगमदिति सफलीभूय कान्तोपभोगा –
दाकल्पोऽनड्गलीलाविधिषु विधुरतामालिलिड्गाड्गनानाम् ।।[2]

परस्पर निबिडालिगन से अगराग झर गया, अधिकाधिक कल्लोलक्षोभ से सब रत्नाभूषण विशीर्ण हो गये और केशपाश भी बिथर गया। स्वपतियो के द्वारा उपभोग से सफल हो कामिनियो का केशविन्यासादि इस प्रकार कामक्रीडाओ से विघटित हो गया।

यहाँ गकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है। अड्ग, अनड्ग, परिष्वड्ग, भड्गि आदि मे गकार अपने वर्गो के अन्तिम अक्षर से युक्त है और लीला, आलिलिड्ग आदि पदो मे लकार है। ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक है। "भेजेऽड्गरागो" यह मध्यमवृत्ति अर्थात स्वल्प समास वाली रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक है। इस प्रकार ये तीनो सम्भोगश्रृगार मे माधुर्य के व्यञ्जक है।

"कु खिद्विमुच्य गलत स्वमणीन्प्रयातो
देवोऽधुना त्रिजगतीदयित सुधाशु ।
प्रस्तौति याद्विरहकालमवेत्य सूर्य –
कान्तोऽपि सप्रति हठादनलप्रवेशम् ।।"[3]

---

1 का0 प्र0 8/74
2 श्रीकण्ठ0 15/46
3 श्रीकण्ठ0 16/11

त्रिलोक – प्रिय चन्द्र, स्वचन्द्र मणियो को आर्द्रदशा मे छोडकर कहाँ चला गया । देखो । यह सूर्यकान्तमणियाँ तक भी उसके वियोग मे हठपूर्वक अनलप्रवेश का प्रस्ताव कर रही है ।

यहाँ तकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है । दयित गलत, प्रयातो, कान्तो आदि मे तकार अपने वर्गो के अन्तिम अक्षर से युक्त है और विरह आदि पदो के ह्रस्व से व्यवहित रेफ है । ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक है । "खिद्विमुच्य" यह मध्यमवृत्ति अर्थात् स्वल्पसमास वाली रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक है । इस प्रकार ये तीनो करूण रस मे माधुर्य के व्यञ्जक है ।

"पद्मनाभ करूणा कुरू भूयोविग्रहेण परिपूरय राहुम् ।
येन तज्जठरकोटरशायी जात्वय विधुरयेन्न विधुर्न ।।"[1]

हे नारायण । दया करके राहु को पुन पूर्णशरीर बना दीजिये, कि जिससे उसके द्वारा ग्रसित हो यह चन्द्र उसके उदर मे जा हमे विरहिणी को पुन पुन दुख न दे ।

यहाँ धकार और नकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है विधु और विधु, येन एव येन्न आदि पदो मे धकार, नकार (तवर्ग) अपने अपने वर्गों के अन्तिम अक्षर से युक्त है । और कुरूणा आदि पदो के ह्रस्व से व्यवहित रेफ है । ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक है । इस प्रकार ये तीनो विप्रलम्भश्रृगार मे माधुर्य के व्यञ्जक है ।

क्षिप्रक्षिप्तोडुपुष्पो मुखरखगकुलध्वानयुक्तिप्रणीत –
स्तोत्रारम्भ प्रदीप निदधदधिनभ. कर्पर भानुभङ्गया ।
चक्रे भक्त्येव दूरानमिततुहिनरूग्बिम्बमूर्धा सपर्या –
पर्याप्ति स प्रसङ्गस्त्रिभुवनगुरवे चन्द्रचूडाय तस्मै ।।[2]

---

1 श्रीकण्ठ0 11/61

2 श्रीकण्ठ0 16/59

नक्षत्र पुष्प बरसाकर, खगकुल के मधुर कलरव का स्तोत्र प्रारम्भ करके, आकाश मे सूर्यदीप जलाकर और सुदूर पश्चिम मे निलीयमान चन्द्र के व्याज से स्वशीश को नवाते हुए, पूर्ण भक्ति के साथ प्रात काल ने त्रिभुवन गुरू चन्द्रशेखर की जैसे पूजा की।

यहाँ गकार तथा तकार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त है। खग, प्रसड्ग, रूग आदि मे गकार और क्षिप्त, प्रणीत , पर्याप्ति, युक्ति आदि पदो मे तकार अपने अपने वर्गों के अन्तिम अक्षर से युक्त है। मुखर आदि पदो के ह्रस्व से व्यवहित रेफ है। ये सब वर्ण माधुर्य के व्यञ्जक हैं। इस प्रकार ये तीनो शान्त रस मे माधुर्य के व्यञ्जक है।

(ब) <u>ओजोगुण :–</u>

वीर रस मे स्थित वह दीप्तिरूप धर्म, जो चित्त के विस्तार का हेतु है, जिसके कारण चित्त प्रज्ज्वलित सा हो जाता है, ओजोगुण कहलाता है। वीर रस से बीभत्स रस मे तथा बीभत्स रस से रौद्ररस मे यह गुण बढकर होता है।[1]

वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ क्रमश द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण का योग, रेफ से किसी वर्ण का ऊपर अथवा नीचे सम्बन्ध, तुल्यवर्णों का योग, ट इत्यादि तथा श, ष – ये वर्ण, दीर्घ समास, एव विकट रचना, ये सब ओजोगुण के व्यञ्जक है।[2]

प्रस्तुत महाकाव्य श्रीकण्ठचरितम् में ओजोगुणयुक्त पद्य इस प्रकार है –

---

1 काव्यप्रकाश 8/69,70

2. काव्य प्रकाश 8/75

चन्द्रादाप्तप्रसूतिर्दिशि दिशि दधती पद्म रागान्तवृत्ति

प्रत्यासत्ति स्पृशन्ती निबिडतरमहानीललक्ष्माञ्चिततत्त्वम् ।

नैर्मल्य गाहमाना नभसि च निकषग्रावपट्टायमाने

भूषा व्योमाधिदेव्यास्तिरयतु चतुर दीनता कौमुदी व ।।[1]

परस्पर निविड रूप से सघटित होती हुई, देव और दनुजो से अधिष्ठित वे दोनो सेनाऐ , जिनके फेनपिण्डसितच्छत्रकम्पयुक्त थे, गम्भीर तुमुलभेरी पटह नादोर्मिरव को करते हुए प्रलयकाल मे मिलते हुए दो महासमुद्रो सी लगती थी ।

इस पद्य मे युद्ध का वर्णन करते हुए महाकवि मड्खक वीरोचित उद्गार है यहॉ पर "चन्द्रादाप्तप्रसूतिर्दिशि" मे अनेक रेफ तथा "निबिडतरमहानील ' इत्यादि मे दीर्घ समास ओजोगुण चित्त को प्रज्ज्चलित सा करता है।

वास कृत्तिभिरासवर्द्धिरसृजा लीलावदश पलै --

र्मुक्ताभि कटजन्मभिश्च दयितालोकस्तनालकृति ।

कि कि नेत्थमसिध्यदुद्यतमृधोल्लासे निशाचारिणा --

मन्योन्यप्रहितामरासुरशरस्रग्दार्यमाणैर्गजै ।।[2]

उस महोद्धत सग्राम मे देवासुरो के शरसमूह से मरे हुए हाथियो के द्वारा निशाचरो का क्या -- क्या सिद्ध नही हो गया , अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो गया -- चर्म से वस्त्र, रक्त से मद्यसमृद्धि, मास से पुन--पुन यथेच्छ भक्षण और निकली हुई गजमुक्ताओ से असुरप्रेयसियों की स्तन भूषादि सब एक साथ ही सिद्ध हो गये । प्रस्तुत पद्य मे बीभत्स रस की अभिव्यक्ति होने से यहाँ दीप्ति रूप ओजोगुण चित्त का विस्तार करता है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 12/58

2 श्रीकण्ठ0 23/45

"कटजन्म" मे ट' वर्ण तथा "लीलावदश" एव 'शर' मे 'श' वर्ण इत्यादि परूष वर्ण है । 'कृत्ति' मे दो तुल्य वर्णों (त, त) का योग है । 'भिरासवर्द्धि' तथा 'स्रग्दार्य' मे ऊपर रेफ है और 'सृजा' एव 'अलकृति' मे नीचे रेफ है । यहाँ दीर्घ बन्ध एव विकट रचना है, अत ओजोगुण की अभिव्यक्ति मे सभी तत्त्व विद्यमान है । वीर की अपेक्षा बीभत्स रस मे ओज की अधिकता होती है अतएव यहाँ ओजोगुण अधिक स्फुरित हो रहा है ।

नृत्यद्वक्रभ्रकुटिघटिताटोपललाटनेत्र --
स्पर्धाबन्धप्रणयि धनुष कुञ्चितस्याञ्चनेन ।
दैत्यग्लानत्रिजगदगदकारचारित्रसीमा
सोऽरातिभ्य समधित ततो हव्यभुङ्मत्रमस्त्रम् ।।[1]

क्रोध से वक्र भ्रकुटि के तुल्य पूर्णप्रतानित धनुष पर, त्रिलोक दुखदारण समर्थ भगवान् शिव ने शत्रुओ के प्रति अग्निशर को धारण किया ।

प्रस्तुत उदाहरण मे दैत्यो के विनाशार्थ भगवान् शङ्कर द्वारा अग्नि शर धारण करना साक्षात रौद्र रस का परिपाक है, अत यहाँ दीप्तिरूप ओजोगुण चित्त को प्रज्ज्वलित कर देता है ।'भ्रकुटिघटिताटोपललाट' मे 'ट' वर्ण की अधिकता, 'धनुष' मे 'ष' वर्ण, इत्यादि परूष वर्ण ओज की अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध होते है । "नृत्यद्वक्रभ्रकुटि ' इत्यादि मे रेफ, तथा 'ततो' मे दो तुल्य वर्ण (त, त) का योग है । यहाँ दीर्घ बन्ध एव विकट रचना है अत ओजगुण की अभिव्यक्ति मे सभी सहायक तत्त्व विद्यमान है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 24/7

(स) **प्रसादगुण -**

जिस प्रकार सूखे ईंधन मे अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र मे जल सहसा व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो गुण अनायास ही चित्त मे व्याप्त हो जाता है वह प्रसादगुण है । इसकी स्थिति सभी रसो तथा रचनाओ मे होती है ।[1] जिसके द्वारा श्रवणमात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाती है तथा जो सब रसो और रचनाओ मे समानरूप से हो सकता है, वह प्रसादगुण माना गया है ।[2]

प्रस्तुत महाकाव्य अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण प्रसादगुण से प्राय शून्य है फिर भी कही कही कुछ उदाहरण प्राप्त हो जाते है -

सुखोऽनिल ख विशद जलानि रम्याणि तेजस्तरूण नवा भू ।
अहो मधो काचन शौर्यलक्ष्मीश्चकार भतेष्वपि या विकारम् ।।[3]

सुखद वायु, स्वच्छ आकाश, सुरम्य जल, मधुर तेज और सर्वथा नवशस्यश्यामला-भूमि ।।। अहो । यह क्या वसन्त की महिमा है कि जिसने जड भूतो मे भी मनोविकार उत्पन्न कर दिया है ।

इस पद्य मे अन्वय के लिए आकाक्षित सभी पद यथास्थान है, अत श्रवणमात्र से ही अर्थ का बोध हो जाता है । इसमे सभी माधुर्यव्यञ्जक वर्ण, मध्यमसमास, एव मधुर रचना - ये सब भी प्रसादगुण के व्यञ्जक है ।

कालकूटमिह निन्दति लोको येन शभुरजरामर एव ।
अन्तकं विरहणीषु सुधाशु स्तौत्यमु तु विरलो हि विवेक ।।[4]

---

1 का0प्र0 8/70
2. का0प्र0 8/76
3 श्रीकण्ठ0 6/37
4 श्रीकण्ठ0 11/54

जिस कालकूट के पान के द्वारा शम्भु अजर अमर है , उस कालकूट की ससार निन्दा करता है । और विरहणियो के नाशक इस सुधाशु की प्रशसा । ससार मे विवेक है कहॉ अर्थात् सुधाशुदर्शन की अपेक्षा कालकूटभक्षण श्रेष्ठ है सतत् दुख दायी चन्द्र कालकूट से बढकर है ।

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ भी श्रवणमात्र से ही स्पष्ट हो जाता है और यहॉ पर सभी तत्त्व प्रसादगुण के व्यञ्जक है ।

(III) प्रस्तुत ग्रन्थ में गुणों की समीक्षा :–

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य एक चित्रकाव्य है । चित्रकाव्य मे शब्द चमत्कार की प्रधानता होती है । प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ मे कवि ने अपना सारा ध्यान तथा कवित्त्वशक्ति शब्दालङ्कारो एव अर्थालङ्कारो के चमत्कार और "उत्प्रेक्षा" नामक अर्थालङ्कार के अधिकाधिक सन्निवेश मे लगा दिया है । इस कारण प्रस्तुत महाकाव्य मे रस एव गुण अत्यन्त उपेक्षित से हो गये है । श्रृङ्गार, करूण तथा शान्त इत्यादि कोमल रस माने गये है, अतएव इन रसो के वर्णन मे यथासम्भव कोमल वर्णों का प्रयोग ही होना चाहिए । जहॉ इन रसो मे कोमल वर्णो तथा छोटी छोटी पदावलियो का प्रयोग होता है वही माधुर्य गुण की स्थिति होती है किन्तु प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे श्रृङ्गार, करूण आदि रसो के प्रसङ्गो मे प्राय परूष वर्णों का प्रयोग मिलता है जिससे रसास्वादन मे व्यवधान उपस्थित होता है इसके अतिरिक्त श्रमसाध्य उत्प्रेक्षा, श्लिष्ट सागरूपक एव समासोक्ति के प्रचुर प्रयोगो के कारण यह महाकाव्य आद्योपान्त इतना जटिल एव दुरूह हो गया है कि इसका अर्थ समझना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, फिर श्रवणमात्र से अर्थप्रतीति की कल्पना करना स्वप्नवत् ही है इन्ही कारणो से प्रस्तुत महाकाव्य मे गुण अत्यन्त शोचनीय दशा को प्राप्त हो गये है ।

(ख) रीति अथवा वृत्ति :–

(I) रीति परिचय :–

'रीति' शब्द रीङ् गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है ।

काव्य की विशेष प्रकार की शैली 'रीति' कहलाती है । 'रीति' के लिए 'मार्ग', 'सघटना' तथा 'वृत्ति' शब्द भी प्रचलित है । काव्यशास्त्र मे 'वृत्ति' शब्द नाट्यशास्त्र की आरभटी आदि वृत्तियो से भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त होता है ।

अग्निपुराण मे 'रीति' शब्द का ही प्रयोग मिलता है । वहॉ चार प्रकार की रीतियॉ बताई गई है –

पाञ्चाली, गौडी, वैदर्भी तथा लाटी ।[1] आचार्य भामह ने केवल दो रीतियॉ मानी है – वैदर्भी तथा गौडी ।[2] आचार्य वामन ने रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हुए विशिष्ट प्रकार की माधुर्यादि गुण युक्त पद रचना को "रीति" कहा है ।[3] और वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली – इन तीन प्रकार की रीतियो का निरूपण कियाहै ।[4] आचार्य कुन्तक ने रीति के लिए "मार्ग" शब्द का प्रयोग किया है तथा तीन प्रकार के काव्य मार्ग बताये है – सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा उभयात्मक मध्यमार्ग ।[5] यह तीनो मार्ग वामन द्वारा निर्धारित वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली रीतियो के ही क्रमश नामान्तर है किन्तु कुन्तक रीति भेदो का आधार देश भेद को स्वीकार करने को तैयार नही है क्योंकि इस प्रकार देशो के अनन्त होने से रीतियॉ भी असख्य हो जायेगी ।[6] ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रीति का आधार समास को माना है किन्तु उन्होंने "रीति" के स्थान पर "सघटना" शब्द का प्रयोग किया है तथा असमासा, मध्यमसमासा, एव दीर्घसमासा नामक तीन सघटनाओ

---

1 अग्निपुराण 340/1
2 काव्यालङ्कार 1/32
3 काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/7,8
4 काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/9
5. वक्रोक्तिजीवित 1/24
6 वक्रोक्तिजीवित 1/24 वृत्ति भाग देखिये

का विवेचन किया है ।[1] उनके अनुसार सघटना माधुर्यादि गुणो के आश्रित होकर रसो का अभिव्यक्त करती है, वक्ता तथा वाच्य का औचित्य एव विषयाश्रित औचित्य भी सघटना का नियमन करता है ।[2] उद्भट[3] तथा मम्मट[4] ने वैदर्भी, गौडी, एव पाञ्चाली रीतियो को ही क्रमश उपनागरिका, परूषा एव कोमला "वृत्ति" कहा है । उद्भट ने लिखा है कि कोमलावृत्ति ही ग्राम्यावृत्ति कहलाती है । आचार्य मम्मट ने वृत्तियो को गुणाभिव्यञ्जक मानते हुए माधुर्यादि तीन गुणो के अनुसार ही उपनागरिका आदि तीनो वृत्तियो का निरूपण किया है । उन्होने वृत्तियो का देश आधारित विभाग नही किया है । भोज ने वैदर्भी आदि तीन रीतियो के अतिरिक्त अवन्तिका, लाटीया और मागधी नामक तीन रीतियॉ और मानी है ।[5] आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण मे पदो के मेल को "रीति" कहा है तथा उसे अगसस्थान के समान माना है । उन्होने चार प्रकार की रीतियॉ मानी है – वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली तथा लाटी ।[6]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न आचार्यो ने रीति, वृत्ति, मार्ग तथा सघटना इत्यादि भिन्न–भिन्न नामो से व्यवहित किया है । आचार्य मम्मट ने इसी बात की पुष्टि स्वरूप कहा है कि ये तीनो वृत्तियॉ उपनागरिकादि ही किन्ही के मत मे वैदर्भी आदि रीतियॉ मानी गयी है ।[7] परन्तु रीति, वृत्ति इत्यादि नामो मे अन्तर के पीछे शास्त्रकारो का कुछ मन्तव्य अवश्य है । वैदर्भी आदि रीतिभेदो, उपनागरिका आदि वृत्ति भेदो एव असमासा आदि सघटना भेदो की परिभाषाओ

---

1 ध्वन्यालोक 3/5
2 ध्वन्यालोक 3/6,7
3 काव्यालङ्कार सारसग्रह देखिये
4 का0प्र0 9/80
सरस्वतीकण्ठाभरण 2/52
सा0द0 9/1,2
का0प्र0 9/81

से रीति, वृत्ति तथा सघटना के सूक्ष्म अन्तर का पता चलता है । रचना को वर्ण और पद की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है । वर्णों के प्रयोग की दृष्टि से रचना के उपनागरिका, परूषा तथा कोमला ﴾ग्राम्या﴿ ये तीन विभाग उद्‌भट आदि ने किये है तथा उन्हे "वृत्ति" नाम दिया है । परन्तु पदो की दृष्टि से रचना के असमासा मध्यसमासा, एव दीर्घसमासा ये तीन भेद किये जा सकते है । इन्ही तीन भेदो को ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्द्धन ने "सघटना" कहा है । अत वर्णस्थितिप्रधान रचना के लिए "वृत्ति" शब्द तथा पदस्थिति प्रधान रचना के लिए "सघटना" शब्द का प्रयोग किया गया है । आचार्य वामन ने "रचना प्रकार" के सन्दर्भ मे "रीति" शब्द का प्रयोग किया है तथा रीतियो का सम्बन्ध माधुर्यादिगुणो से जोडा है । चूँकि गुणो की अभिव्यक्ति मे पद और वर्ण दोनो की ही उपयोगिता है, अत वामनोक्त रीति मे सघटना तथा वृत्ति दोनो का अन्तर्भाव हो जाता है । इसी कारण वामन के बाद रूद्रट, विश्वनाथ आदि द्वारा रीति की जो विवेचना की गई उसमे रीति के प्रत्येक भेद मे उसकी वर्णगत तथा पदगत दोनो ही विशिष्टाताओ को बतलाया गया है । इस प्रकार "वृत्ति" और "सघटना" ये दोनो "रीति" के अड्‌ग है तथा इन दोनो की समष्टि को "रीति" कहते है ।

आचार्य भामह को छोडकर प्राय सभी आचार्यो ने वैदर्भी , गौडी एव पाञ्चाली रीतियो को कुछ नामान्तर के साथ स्वीकार किया है । कुछ आचार्यो ने लाटी रीति को भी मान्यता दी है परन्तु अनेक आचार्य इसे नही मानते है । अत मुख्य रूप से वैदर्भी , गौडी तथा पाञ्चाली रीति पर विचार करना अपेक्षित है ।

﴾॥﴿ रीति विभाजन का आधार :-

रीतियो का वैदर्भी आदि विभाजन देश के आधार पर किया गया है । वैदर्भी रीति विदर्भदेश ﴾बरार﴿ से गौडी रीति गौडदेश ﴾उत्तरी बगाल﴿ से तथा पाञ्चाली रीति पाञ्चाल देश ﴾गड्‌गा-यमुना के मध्यवर्ती भाग﴿ से सम्बन्धित है । लाटी रीति का सम्बन्ध लाट

देश ॅनर्मदा के पश्चिम के भू भागॅ से है ।

ॅIIIॅ **"श्रीकण्ठचरितम्" मे रीति निरूपण :–**

सामान्यतया महाकवि ने समस्त महाकाव्य वैदर्भी रीति मे लिखा है । परन्तु यथावसर और यथारस गौडी पाचाली रीतियो का भी प्रयोग किया है । अनुकूल पद सघटना के उदाहरण पान–सुरतकेलि तथा त्रिपुरसहार मे मिलते है । स्वल्पसमास वाली रचना वैदर्भीरीति के अन्तर्गत आती है । यह रीति कोमलता प्रधान है । समासो से अर्थावगम की कठोरता बढ जाती है । महाकवि मखक ने वैदर्भी रीति की स्वयमेव प्रशसा की है –

वैदर्भीरीतिसूत्र मे, धीमानो के कण्ठ के हार भूत, गुम्फित सदर्थरत्नो से पूर्ण रचना, जो व्युत्पत्ति की शाणाश्मा पर और भी तीखी कर दी गई हो, क्या बिना सरस्वती के दृक्प्रसाद अर्थात् आशीर्वाद के ही बन जाया करती है ? अर्थात् वौदर्भी रीति मे सदर्थो से युक्त और व्युत्पत्तिमयी रचना के लिए सरस्वती देवी की कृपा भी होनी आत्यावश्यक है ।"[1]

महाकवि मखक ने "श्रीकण्ठचरितम्" मे वैदर्भी रीति का प्रयोग भी किया है "कैलासवर्णन"[2] "भगवद्वर्णन्"[3], पानकेलि[4] तथा सुरतक्रीडा[5] मे वैदर्भीरीति का कवि ने प्रशसनीय निर्वाह किया है । परन्तु कुछ श्लोको मे अनावश्यक रूप से दीर्घ समासो का प्रयोग करके महाकाव्य को दुरूह बना दिया है । इस महाकाव्य मे पाञ्चाली और गौडी रीति भी दिखाई पडती है ।

---

1 या वैदर्भपथाध्वनीनभणितिप्रत्यग्रसूत्रान्तर–
प्रोतप्रीतिकृदर्थरत्नघटित कण्ठे गुणो धीमताम् ।
वाग्देवीनयनाञ्चलाञ्चनचमत्कार विनोदेति कि
सा वाणी मसृणीकृता निरवधि व्युत्पत्तिशाणाश्मनि ।।" श्रीकण्ठ0 2/41

2 कैलासवर्णनम् – सर्ग 4

3 भगवद्वर्णनम् – सर्ग 5

4 पानकेलिवर्णनम् – सर्ग 14

5. क्रीडावर्णनम् सर्ग 15

प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे रीतियो का विवेचन इस प्रकार है --

(अ) **वैदर्भी रीति –**

जहाँ माधुर्यव्यञ्जक वर्णो के द्वारा समासरहित अथवा अल्पसमासो से युक्त मनोहर रचना की जाती है, वहाँ वैदर्भी रीति होती है ।[1]

"श्रीकण्ठचरितम्" के अनेक प्रसङ्गो मे वैदर्भी रीति का प्रयोग मिलता है, यथा –

"युक्तमाह दयितो मम वक्त्र पङ्कज रहसि चाटुकथासु ।
सस्तव रूचिभिरस्य हिमाशो प्राप्य कामपि रूज यदुपैति ।।"[2]

प्रियतम ने एकान्त की चाटुकथाओ मे मेरे मुख को उचित ही कमल कहा था, क्योकि वह मेरा मुख इस चन्द्र के सम्पर्क को प्राप्त करके कुछ मुरझा जो जाता है ।

प्रस्तुत श्लोक मे माधुर्य व्यञ्जक वर्ण है "त" और रेफ तथा अल्पसमास से युक्त मनोहर रचना है अतएव वैदर्भी रीति यहाँ पर है ।

(ब) **गौडी रीति .–**

जिस रचना मे ओज को प्रकाशित करने वाले कठिन वर्णों का प्रयोग होता है तथा समासो की अधिकता होती है, वहाँ गौडी रीति होती है ।[3]

---

1 माधुर्यव्यञ्जकैवर्णै रचना ललितात्मिका ।
आवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिष्यिते ।। सा0द0 9/2,3

2 श्रीकण्ठ0 11/60

3 ओज प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर पुन ।।
समासबहुला गौडी .। सा0द0 9/3,4

"श्रीकण्ठचरितम्" मे गौडी रीति का भी प्रयोग हुआ है यथा –

"कालत्व भ्रकुटीषु वेपथुरथो दन्तच्छदे भीष्मता –
भाजामूष्मभरश्च चेतसि पद तेषा बबन्ध क्रुधा ।
अन्योन्याहितसङ्गकृष्णहिमगुज्वालाध्वजोट्टङ्कत
श्रीकण्ठाशुगपातवैशससमासत्तिप्रभावादिव ।।"[1]

भीषणता को धारण करने वाले उन त्रिपुरो की विकराल भ्रकुटियो मे कृष्णत्व, ओष्ठाधर मे वेपथु और चित्त मे आक्रोश भर गया । कृष्ण, शीतकर, और अग्नि के सम्मिश्रण से बने श्रीकण्ठ के बाण के पतन से ही सम्भवत उनकी यह दशा थी ।

प्रस्तुत श्लोक मे "ट" और "ष" वर्ण एव दो तुल्य वर्ण (त,त) का योग है । यहाँ दीर्घबन्ध एव विकट रचना है अत ओज को प्रकाशित करने मे सभी सहायक तत्त्व विद्यमान है इसलिए इस पद्य मे गौडी रीति है ।

(स) <u>पाञ्चाली रीति :–</u>

आचार्य वामन के अनुसार माधुर्य और सौकुमार्य गुणो से युक्त रीति का नाम पाञ्चाली है ।[2] किन्तु आचार्य विश्वनाथ के मत मे वैदर्भी तथा गौडी रीति के जो शेष वर्ण है अर्थात् जो वर्ण न माधुर्य व्यञ्जक है, न ओजव्यञ्जक, ऐसे वर्णो से युक्त रचना, जिसमें पॉच – छ पदो तक का समास हो, वह रीति पाञ्चाली कहलाती है ।[2] आचार्य मम्मट ने "पाञ्चाली रीति" को ही "कोमला वृत्ति" कहा है तथा उसका लक्षण विश्वनाथ द्वारा दिये गये पाञ्चाली रीति के लक्षण के अनुसार ही किया है ।[4] उद्भट के मत मे

1 श्रीकण्ठ0 23/5/
2 माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ।।–काव्यालङ्कार सूत्र 1/2/13
3 . वर्णै शेषै पुनर्द्वयो ।
समस्त पञ्चषपदो बन्ध पाञ्चालिका मता ।। सा0द0 9/4
4. कोमला परै ।। परै शेषै । का0प्र0 9/80

कोमला वृत्ति ही ग्राम्या वृत्ति" कहलाती है ।[1]

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे मड्खक ने पाञ्चाली रीति का भी प्रयोग किया है यथा –

कालकूटमधुनापि निहन्तु हन्त नो वहसि लाञ्छनभड्गया ।
यद्भयादिव निगीर्णमपि त्वामाशु मुञ्चति सुधाकर राहु ।।[2]

हे चन्द्र । तुम क्या आज भी (क्योंकि जन्म के पूर्व तुम समुद्र के गर्भ मे कालकूट के साथ ही बसते थे) हम विरहिणियो को मारने के लिए कालकूट विष को धारण कर रहे हो सम्भवत इसी से राहु तुम्हे निगल कर भी कालकूट कलक के भय से पुन उगल देता है ।

(ग) छन्दोविचार –

(1) छन्द परम्परा –

सुवृत्ततिलक मे आचार्य क्षेमेन्द्र ने विभिन्न छन्दो के विविध रसो–विषयो मे प्रयोग किये जाने की परम्परा का निरूपण किया है । विशिष्ट कवियो के प्रिय छन्दो का भी सकेत उन्होने किया है । जैसे काल विशेष मे ही कोई विषय (रस भाव) किसी राग विशेष भैरवी आदि मे गाया जा सकता है । उसी प्रकार रस आदि भावादि भी सामान्यत जिस किसी भी छन्द मे न लिखे जाकर किसी छन्द विशेष के ही विषय हुआ करते है । उस रस छन्द के सामंजस्य का निरूपण सुवृत्ततिलक मे किया गया है । आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताया है कि –

1 कथा और उपदेश प्राय विषय अनुष्टुप छन्द मे लिखना चाहिए ।

---

1 शेषैर्वर्णैर्यथायोग कथिता कोमलाख्यया ।
ग्राम्या वृत्ति प्रशसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धय ।। काव्यालड्कार सार सड्ग्रह 1/7

2 श्रीकण्ठ0 11/56

2 श्रृगार रस सयोग पक्ष आलम्बन वर्णन, नायिका रूप वर्णन, वसन्त जलक्रीडादि ललितवर्णन, उपजाति छन्दो मे ।

3 चन्द्रोदय प्रकृति विभावो का वर्णन रथोद्धता मे करना चाहिए ।

4 षाड्गुण्यादि राजनीति का वर्णन वशस्थवृत्त मे करना चाहिए ।

5 वीर रस तथा रौद्र के सकर मे वसन्ततिलका छन्द का ।

6 सर्गान्त मालिनी छन्द मे करना चाहिए ।

7 परिक्षेपादि मे शिखरिणी का प्रयोग करना चाहिए ।

8 रूचि–औचित्य विचार मे हारिणीवृत्त है ।

9 साक्षेप क्रोध धिक्कार मे पृथ्वी वृत्त का प्रयोग करे ।

10 वर्षाद्विर्णन मे मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग करना चाहिए ।

11 नृपादि मे शौर्यादि के वर्णन मे शार्दूलविक्रीडित वृत्त समीचीन है ।

12 सवेग पवनादि के वर्णन मे स्रग्धरा वृत्त ठीक है ।

इन छन्दो मे कोई क्रमबद्ध रस विषय रूचिकर नहीं होता [1]

---

1. सुवृत्ततिलक – 3/9–23 – महाकवि क्षेमेन्द्र रचित

ɸ11ɸ प्रस्तुत महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" में उपलब्ध छन्दों का विवेचन –

महाकवि मखक ने अनुष्टुप छन्द का प्रयोग कैलासवर्णनम् के 45वे पद्य गणोद्योगवर्णन के 45वे पद्य मे, 25वे सर्ग के 105वे पद्य मे किया है । इन विषयो मे रस वृत्त का प्रयोग सर्वथा परम्परा के अनुकूल है । ग्रन्थारम्भ के साथ–साथ प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में 44 इन्द्रवज्रा वृत्तो मे नमस्कार वर्णन परम्परा के अनुकूल है । षष्ठ सर्ग मे 57 उपजाति–वृत्तो मे वसन्त वर्णन सर्वथा परम्परा के अनुकूल है । 11वे सर्ग मे 11 पद्यो मे आलम्बन चन्द्र की प्रशसा 12वे सर्ग मे 16 उपेन्द्रवज्रा वृत्तो मे दूतीवाक्य, इसी सर्ग मे 22 इन्द्रवज्रा पद्यो मे समुद्रक्षोभ का वर्णन, सर्ग 20 मे 55 उपजाति वृत्तो मे रथबन्धन एव 21वे मे 41 उपेन्द्रवज्रा पद्यो मे रथयात्रादि सर्वथा परम्परा प्राप्त ही है । दशम सर्ग मे 40 रथोद्धता पद्यो मे सन्ध्या वर्णन तो सर्वथा परम्परा का पालन ही है । कश्मीर तथा स्ववशादि के वर्णन मे वशस्थ का प्रयोग परम्परा के विपरीत है । वसन्ततिलका का प्रयोग विविध है ।

शिखरिणी हारिणी तथा पृथ्वीवृत्तो का प्रयोग कवि ने अत्यल्प किया है । मन्दाक्रान्ता के 9 पद्यो मे प्रभातीगायन सर्वथा समीचीन है ।

शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग सर्ग 2 मे 16वे पद्य, सर्ग 16 मे 27वे पद्य तथा सर्ग 25 मे 25वे पद्य मे हुआ है । इस वृत्त का प्रयोग प्रतिसर्ग मे हुआ है । सर्ग 12 मे 19 स्रग्धरा पद्यो मे चन्द्राशीर्वचन परम्परा से दूर है ।

महाकवि मखक ने छन्दोबद्धता मे परम्परा के पालन के साथ साथ स्वप्रतिभा का प्रयोग भी किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे 25 सर्ग है । सम्पूर्ण पद्य सख्या 1649 है यह 1649 पद्य केवल 26 छन्दो मे विभक्त है । महाकवि मखक ने सर्गारम्भ रस एव विषयानुकूल छन्दो से किया है और अन्त अधिकाशत स्रग्धरा या शार्दूलविक्रीडित छन्द

मे किया है । सख्या और प्रयोग की दृष्टि से स्पष्ट है कि कवि को इन्द्रवज्रा , उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, अनुष्टुप और शार्दूलविक्रीडित विशेष रूचिकर है । महाकवि मखक ने प्रसिद्ध आर्याछन्द का प्रयोग अपने 25 सर्गो मे एक बार भी नही किया है । चतुर्थ सर्ग मे वियोगिनी का मात्र एक बार प्रयोग किया है । इसी प्रकार "रूचिरा" का प्रभातवर्णन मे एक बार का प्रयोग भी आश्चर्यकारक है ।

महाकवि मखक ने साधारण वर्णन के लिए परम्परा प्राप्त इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति वृत्त को चुना है । धार्मिक औरश्रद्धास्पद विषय के वर्णन के लिए अनुष्टुप का प्रयोग किया है । वसन्ततिलका का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत है । इस छन्द मे कवि ने लगभग प्रत्येक विषय और रस का वर्णन किया है । पचम सर्ग का प्रारम्भ इस छन्द मे करके 47 पद्यो मे महाकवि ने भगवद्वर्णन किया है । 15वे सर्ग का प्रारम्भ भी इसी छन्द मे करके 40 पद्यो मे जलक्रीडा वर्णित है । सर्ग 18 का प्रारम्भ इसी वृत्त मे करके 54 छन्दो मे गणक्षोभ का वर्णन है । भगवद्वर्णन जलक्रीडा और गणक्षोभवर्णन अपनी विविधता के कारण स्पष्ट सकेत करते है कि वसन्ततिलका कवि का प्रियतम वृत्त है केवल सर्ग 24 को छोडकर प्रत्येक सर्ग मे इसका प्रयोग भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है । शा0 वि0 का प्रयोग कवि ने प्रत्येक सर्ग मे किया है । इस दण्डक एव गणछन्द का प्रयोग प्रत्येक रस एव विषय मे करके महाकवि मखक ने अपने छन्द पाण्डित्य का सफल प्रदर्शन किया है । 16वे सर्ग का प्रारम्भ इस वृत्त से करके मखक ने 27 पद्यो मे प्रभात वर्णन किया है । 25वे सर्ग मे विविध विषयो के वर्णन के 25 ही शा0 वि0 पद्य है । प्रभात सन्ध्या तथा भगवद्वर्णन जैसे पवित्र विषयो का वर्णन इस वृत्त मे विशेष है । 3 सर्गों का अन्त भी कवि ने इसी छन्द मे किया है । स्रग्धरा का मात्र प्रयोग सर्ग का अन्त करने मे है । 12वे सर्ग मे 19 पद्यो में चन्द्रवर्णन आशीर्वचन कुछ विशेषता लिए हुए है ।

अनुष्टुप मे चतुर्थसर्ग के प्रारम्भ मे 45 पद्य कैलासवर्णन सर्ग 19 के प्रारम्भ मे 44 पद्यो मे विविध/विषय तथा 25वे सर्ग मे 115 पद्यो मे विविध विषय वर्णित है । इन तीन सर्गारम्भो के अतिरिक्त इसका अन्यत्र एक भी प्रयोग नही है । षष्ठ सर्ग के प्रारम्भ मे 57 उपजाति पद्यो मे वसन्त वर्णन करते हुए कवि ने उपजातिवृत्त प्रयोग मे मौलिकता का प्रयोग किया है । इन्द्रवज्रा एव उपेन्द्रवज्रा के विशुद्ध प्रयोग महाकवि मखक की छन्दक्षमता के द्योतक है । साथ ही इस महाकाव्य का प्रारम्भ महाकवि ने इन्द्रवज्रा मे ही किया है अन्त शिखरिणी वृत्त मे है । तृतीय सर्ग के प्रारम्भ मे 69 पद्यो मे व शस्थ वृत्त मे स्ववशादि का वर्णन महाकवि की छन्दचयन की सजगता , स्वतन्त्रता तथा मौलिकता का अभिद्योतक है । नवे सर्ग के प्रारम्भ मे जलक्रीडा का वर्णन महाकवि ने उद्गता छन्द मे किया है ऐसा प्रतीत होता है कि उद्क् + गता विग्रहकरके ही महाकवि ने जलकेलि के वर्णन हेतु इस छन्द को चुना होगा । दर्शन मात्र देकर तत्क्षण गमनोद्यत और रथारूढा सन्ध्या का वर्णन रथोद्धता से बढकर और हो भी किस छन्द मे सकता है । प्रसाधन तथा अलकरण साधन सीमित होते है, सम्भवत इसी दृष्टिकोण से महाकवि ने प्रसाधन वर्णन के लिए "प्रमिताक्षरा" जैसे छन्द को चुना है । प्रभातवर्णन विभावरी मे न करके शा0 वि0 तथा अन्य छन्दो मे करना महाकवि की भक्तिभावना का एक धुधला सकेत ज्ञात होता है मखक ने भगवद्गोष्ठी का वर्णन प्रहर्षिणी जैसे सुन्दर छन्द मे किया है । वसन्ततिलका छन्द वीर रस के वर्णन के अनुकूल नही है । फिर भी इस छन्द मे "गण क्षोभवर्णन केवल मात्र गणो के प्रति भी कवि की आस्था विशेष को ही अभिद्योतित करता है । भयकर प्राकृतिक विप्लवो का वर्णन प्राय सभी महाकवियो ने शर्दूलिविक्रीडित मे किया है । महाकवि ने भी अपशकुनो का वर्णन शार्दूलविक्रीडित 9 पद्यो मे किया है । दैत्य क्षोभ का देवो ने स्वागत ही किया होगा , तभी तो इसका वर्णन भी स्वागता नाम के छन्द मे हुआ है । पुष्पिताग्रा मे युद्धवर्णन विजयोल्लासिनी पुष्पवर्षा के अतिरिक्त और किसी प्रकार सगति नहीं स्वीकार करता ।

नवीनता से प्रेरित होकर कवि ने कही कही पर छन्दो का कछ ऐसा मिश्रसयोजन

किया है कि छन्द को ज्ञात करने मे भी कठिनता उपस्थित हो गई है । एक सर्ग मे एक ही वृत्त और सर्गान्त मे भिन्न छन्द के सयोजन की महाकाव्य परम्परा का कवि ने सर्वथा तिरस्कार किया है । वसन्त तिलका तथा शार्दूलविक्रीडित का प्रत्येक विषय के वर्णन के अनुकूल होना भी विचारणीय है ।

सर्ग		छन्द	श्लोक सख्या	विषय
प्रथम सर्ग	1	इन्द्रवज्रा	44	नमस्कारवर्णन
	2	शार्दूलविक्रीडित	10	"
	3	वसन्ततिलका	2	"
द्वितीय सर्ग	1	इन्द्र वज्रा	27	दुर्जननिन्दादि
	2	शार्दूलविक्रीडित	13	सत्कविप्रशसा
	3	बसन्ततिलका	"	सत्काव्यनिर्णय
	4	मन्दाक्रान्ता	1	कविप्रशसा
	5	शिखरिणी	2	"
तृतीय सर्ग	1	शार्दूलविक्रीडित	3	दिवगतपितृवर्णन
	2	बसन्ततिलका	1	पितृ आदेश
	3	मालिनी	1	पितृवर्णन
	4	मजुभाषिणी	2	पितृ आज्ञा
	5	वशस्थ	69	कश्मीर तथा स्ववंशादि वर्णन
	6	शिखरिणी	2	पितृशोक शान्ति वर्णन एव स्वप्न
चतुर्थ सर्ग	1	अनुष्टुप	45	कैलासवर्णन
	2	उपेन्द्रवज्रा	1	"
	3.	पुष्पिताग्रा	1	

सर्ग	छन्द	श्लोक सख्या	विषय
	4 शार्दूलविक्रीडित	6	कैलासवर्णन
	5 वसन्ततिलका	4	"
	6 मालिनी	1	"
	7 मजुभाषिणी	1	"
	8 वियोगिनी	1	"
	9 वशस्थ	1	"
	10 शिखरिणी	1	"
	11 स्रग्धरा	2	"
पचमसर्ग	1 शार्दूलविक्रीडित	4	शिवमहिमा वर्णन
	2 वसन्ततिलका	57	"
	3 मालिनी	1	"
	4. मन्दाक्रान्ता	2	"
	5 शिखरिणी	1	"
	6 स्रग्धरा	1	"
	7 हरिणी	1	"
षष्ठसर्ग	1 उपजाति	57	वसन्तवर्णन
	2 पृथ्वी	1	"
	3 शार्दूलविक्रीडित	6	"
	4 प्रहर्षिणी	1	"
	5. वसन्ततिलका	1	"
	6 मालिनी	4	"
	7. मंजुभाषिणी	1	"
	8 शिखरिणी	1	"
	9 स्रग्धरा	1	"

सर्ग	छन्द	श्लोक सख्या	विषय
	10 हारिणी	1	वसन्तवर्णन
सप्तमसर्ग	1 पुष्पिताग्रा	45	वन--विहारवर्णन
	2 शार्दूलविक्रीडित	2	"
	3 वसन्ततिलका	14	दोलाक्रीडावर्णन
	4 मालिनी	2	"
	5 मन्दाक्रान्ता	1	"
	6 स्रग्धरा	1	"
	7 हारिणी	1	"
अष्टमसर्ग	1 औपछन्दसिक	52	कुसुमावचयवर्णन
	2 शार्दूलविक्रीडित	2	"
	3 वसन्ततिलका	2	"
नवमसर्ग	1 उद्गता	45	जलक्रीडा
	2 वसन्ततिलका	4	"
	3 शार्दूलविक्रीडित	2	"
	4 शिखरिणी	1	"
	5 हरिणी	1	"
	6 प्रहर्षिणी	1	"
	7 मजुभाषिणी	1	"
	8 पृथ्वी	1	"
दशमसर्ग	1. रथोद्धता	40	सन्ध्यावर्णन
	2 वसन्ततिलका	5	"
	3 शिखरिणी	2	"
	4 शार्दूलविक्रीडित	8	"
	5. स्रग्धरा	2	"

सर्ग	छन्द	श्लोक सख्या	विषय
	6 हारिणी	2	सन्ध्यावर्णन
	7 मालिनी	1	"
	8 पुष्पिताग्रा	1	"
एकादशसर्ग	1 स्वागता	24	चन्द्रवर्णन
	2 पुष्पिताग्रा	8	कृष्णाभिसारिका वर्णन
	3 वसन्ततिलका	19	शुक्लाभिसारिका वर्णन
	4 स्वागता	11	चन्द्रनिन्दा
	5 उपजाति	11	चन्द्रप्रशसा
	6 शार्दूलविक्रीडित	1	"
	7 स्रग्धरा	1	"
द्वादशसर्ग	1 स्वागता	12	युद्धसज्जा
	2 वैतालीय	12	कामपत्नी रति का अनुनय
	3 उपेन्द्र वज्रा	4	दूतीवाक्य
	4 इन्द्रवज्रा	19, 3	समुद्रक्षोभ
	5 स्रग्धरा	18, 1	चन्द्राशीर्वचन
	6 वैतालीय	13	चन्द्रचाटुता
	7 शार्दूलविक्रीडित	2	चन्द्रवर्णन
	8 मन्दाक्रान्ता	1	"
त्रयोदशसर्ग	1 प्रमिताक्षरा	42	प्रसाधनवर्णन
	2 वसन्ततिलका	7	"
	3. शार्दूल विक्रीडित	6	"

सर्ग	छन्द	श्लोक सख्या	विषय
	4 मालिनी	1	प्रसाधनवर्णन
	5 मन्दाक्रान्ता	1	"
चतुर्दशसर्ग	1 मजुभाषिणी	52	पानकेलिवर्णन
	2 वसन्ततिलका	7	"
	3 शार्दूलविक्रीडित	3	"
	4 मन्दाक्रान्ता	2	"
	5 पुष्पिताग्रा	1	"
	6 मालिनी	1	"
	7 स्रग्धरा	2	"
पचदशसर्ग	1 वसन्ततिलका	40	कामक्रीडावर्णन
	2 हारिणी	2	"
	3 स्रग्धरा	3	"
	4 शार्दूलविक्रीडित	3	"
	5 मन्दाक्रान्ता	2	"
षोडशसर्ग	1 शार्दूलविक्रीडित	27	शिवजागरण प्रभाती गायन वर्णन
	2 मन्दाक्रान्ता	9	"
	3 हरिणी	4	"
	4 वसन्ततिलका	8	"
	5 मालिनी	2	"
	6. शिखरिणी	5	"
	7. रूचिरा	1	"
	8 पृथ्वी	1	"

सप्तदशसर्ग	1 प्रहर्षिणी	57	देववार्ता
	2 मालिनी	2	असुरवर्णन
	3 वसन्ततिलका	2	"
	4 शिखरिणी	1	"
	5 शार्दूलविक्रीडित	3	देवविपर्यन्त वर्णन
	6 स्रग्धरा	2	दहनप्रस्ताव
अष्टदशसर्ग	1 वसन्ततिलका	54	गणक्षोभवर्णन
	2 शार्दूलविक्रीडित	3	"
	3 स्रग्धरा	3	"
	4 पृथ्वी	1	"
एकोन्विंशति सर्ग	1 अनुष्टुप	44	गणोद्योग वर्णन
	2 पुष्पिताग्रा	2	"
	3 वसन्ततिलका	4	अपशकुनवर्णन
	4 शार्दूलविक्रीडित	9	"
	5 मन्दाक्रान्ता	2	"
	6 पृथ्वी	1	"
	7. स्रग्धरा	2	"
	8 मालिनी	1	"
विंशसर्ग	1 उपजाति	55	रथबन्धन वर्णन
	2 मन्दाक्रान्ता	2	"
	3 शार्दूलविक्रीडित	6	"
	4.वसन्ततिलका	1	"
	5. स्रग्धरा	1	"

सर्ग	छन्द	श्लोक सख्या	विषय
एकविशति सर्ग	1 उपेन्द्रवज्रा	41	अभियान वर्णन
	2 शार्दूलविक्रीडित	4	"
	3 मन्दाक्रान्ता	3	"
	4 वसन्ततिलका	2	"
	5 पुष्पिताग्रा	1	"
	6 पृथ्वी	1	"
	7 स्रग्धरा	1	"
द्वविशति सर्ग	1 स्वागता	46	दैत्यक्षोभ वर्णन
	2 पुष्पिताग्रा	1	"
	3 वसन्ततिलका	5	"
	4 शार्दूलविक्रीडित	3	"
	5 स्रग्धरा	3	"
त्रयोविंश सर्ग	1 पुष्पिताग्रा	36	युद्धवर्णन
	2 वसन्ततिलका	4	"
	3 शार्दूलविक्रीडित	4	"
	4 रथोद्धता	1	"
	5 मालिनी	4	"
	6 स्रग्धरा	5	"
	7 शिखरिणी	2	"
चतुर्विंश सर्ग	1 मन्दाक्रान्ता	39	पुरदहन वर्णन

सर्ग	छन्द	श्लोक सख्या	विषय
	2 स्रग्धरा	2	पुरदहन वर्णन
	3 मालिनी	1	इन्द्रोल्लास
	4 शार्दूलविक्रीडित	2	जयोल्लास
पचविश सर्ग	1 अनुष्टुप	115	कविसन्तोषादि वर्णन
	2 शार्दूलविक्रीडित	25	कविस्तुति आदि
	3 वसन्ततिलका	6	"
	4- शिखरिणी	3	"

(घ) दोष–निरूपण .–

(।) दोष–ज्ञान का औचित्य :–

दोष शब्द "दुष् वैक्लब्ये" धातु से सञ्ज्ञा मे घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है – दुष्ट होना, विकार कारक होना । आनन्दानुभूति कराना ही जिनका प्रधान उद्देश्य है, ऐसे काव्यादि की रचना अत्यन्त सावधानपूर्वक की जानी चाहिए, जिससे उस रचना से प्राप्त होने वाले आनन्द में विघ्न न पडे । इसीलिए काव्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए मम्मटाचार्य ने सर्वप्रथम "अदोषौ" पद से उसके दोषराहित्य की बात कही है । दोष युक्त काव्य मे उस चमत्कार की अनुभूति नही हो सकती है, जो दोषरहित काव्य से होती है । अत दोषाभाव का निरूपण करना आवश्यक है परन्तु अभाव का स्वरूपत निरूपण करना सम्भव नहीं है । अभाव का निरूपण उसके प्रतियोगी के निरूपण के अधीन होता है । अत दोषाभाव – निरूपण में उसके प्रतियोगी , दोषो का विवेचन ही किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त जब तक दोषों का परिचय नही होगा, तब तक उनका परित्याग भी सम्भव नहीं है । अत इन दो कारणो से (अभाव का निरूपण

सम्भव न होने से, तथा दोषो के परिचय के बिना उनका परित्याग असम्भव होने से) काव्यशास्त्रियो ने दोषो का निरूपण अपने ग्रन्थो मे किया है । वस्तुत शब्दो द्वारा दोषो की ही व्याख्या करना सम्भव है , उसी से दोषाभाव की भी व्याख्या अर्थत प्राप्त होती है ।

आचार्य वामन ने गुण के विपर्यय को ही दोष माना है ।[1] अत उनके मतानुसार केवल गुण–स्वरूप के प्रतिपादन से दोषो का ज्ञान अर्थत हो जायेगा ।[2] परन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकारो ने वामन के इस मत का खण्डन किया है । उद्योतकार के अनुसार "दोष केवल गुणो का विपर्यय ही नही होते है, बल्कि प्रसादादि गुणो के होने पर भी काव्य मे दोषो का अस्तित्व हो सकता है, तथा गुणो का व्यत्यय अर्थात् दोषो का स्वरूप भी सरलता से वर्णित किया जा सकता है । अत दोष–स्वरूप का विवेचन अत्यावश्यक है काव्य–रचना मे दोष होने पर उसके गुण भी व्यर्थ हो जाते है । कहा भी गया है कि "सुन्दर शरीर भी श्वेत कुष्ठ के एक दाग से ही असुन्दर हो जाता है ।[3]

(।।) काव्य दोष का स्वरूप :–

आचार्य मम्मट ने दोष का लक्षण बताते हुए कहा है कि "जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है वह दोष कहलाता है । काव्य मे रस ही मुख्य है, तथा उस रस के द्वारा आश्रय लिए जाने से वाच्यार्थ भी मुख्य होता है । रस और वाच्यार्थ इन दोनो के उपयोगी (उपाय भूत) शब्दादि होते है, अतएव उनमे भी दोष होता है ।[4]

मम्मटोक्त इस दोष लक्षण मे दोष सामान्य का कथन "मुख्यार्थहतिर्दोष" इस वाक्याश द्वारा किया गया है । इसमे "हति" शब्द भाव का साधन है , जिससे इसका

---

1 गुणविपर्ययात्मानो दोषा. । काव्यालङ्कारसूत्र 2/1/1
2 गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषा दोषाणामर्थादवगमोऽर्थसिद्धि ।। तत्रैव वृत्ति 2/1/2
3. व्यत्ययस्यापि सुवचत्वात्, प्रसादादिगुणसत्त्वेऽपि दोषसत्त्वाच्च
स्याद् वपु सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।" उद्योत
4 मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य ।
उभयोपयोगिन स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।। का०प्र० 7/49

अर्थ होगा – "मुख्यस्य अर्थस्य हति यस्मात् स दोष" अर्थात् जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष हो, वह दोष है। कुछ विद्वान यहाँ "हति" शब्द को करण का साधन मानते है। ऐसा मानने पर इसका विग्रह होगा – मुख्यार्थो हन्यतेऽनेनेति" अर्थात् जो मुख्यार्थ का अपकर्ष करे, वह दोष है। परन्तु "हति" शब्द चाहे भाव का साधन माना जाये, चाहे करण का साधन, दोनो ही मतो मे मुख्यार्थ का अपकर्ष ही दोष है।

यहाँ मुख्यार्थ का तात्पर्य वाच्यार्थ नही है, क्योकि ऐसा मानने पर केवल अर्थ दोषो का ही समावेश इस दोषलक्षण मे हो सकेगा, जबकि दोष तो शब्द, अर्थ, गुण, रचना, वाक्य, रस, इत्यादि सभी मे हो सकते है। जब ये समस्त दोष इस परिभाषा के अन्तर्गत नही आ सकेगे, तो यह लक्षण अव्याप्त हो जायेगा। अत यहाँ पर मुख्यार्थ से तात्पर्य है – वह तत्त्व जो दूसरे की इच्छा के अधीन नही है, बल्कि स्वेच्छाधीन है, और ऐसा तत्त्व स्वत पुरूषार्थरूप तथा आनन्दस्वरूप "रस" माना गया है। यहाँ मुख्य "रस" को कहा गया है – "रसश्च मुख्य"। "रस" शब्द की 'रस्यते (आस्वाद्यते) इति रस' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनका आस्वाद लिया जाये, वे भाव आदि भी रस शब्द मे उपसग्रहीत हो जाते है। इस प्रकार रस भावादि के विघातक तत्त्व दोष कहलाते है।

परन्तु यदि केवल रसादि के अपकर्षक ही दोष माने जायेगे, तो नीरस काव्य अपकर्षणीय रस का अभाव होने से सर्वथा निर्दोष ही सिद्ध होगा। किन्तु ऐसा नही है। नीरस काव्य मे भी प्राय दोष पाये जाते है। इसी के समाधान के लिए आगे कहा गया है – "तदाश्रयाद् वाच्य" अर्थात् रस के द्वारा उपकारक रूप मे अपेक्षित होने से वाच्यार्थ भी मुख्य है। वाच्यार्थ के बिना रस की अभिव्यक्ति नही हो सकती है, अत वाच्यार्थ रस का उपकारक है। वाच्यार्थ से तात्पर्य यहाँ रस सम्बन्धी वाच्यार्थ से है। इसलिए चमत्कारी अर्थ ही यहाँ मुख्यार्थ है। रसयुक्त काव्य मे सभी दोष हो सकते है, इस

प्रकार रस दोष तथा अर्थ दोष का कथन तो हो गया , किन्तु शब्द दोष का वर्णन अभी नही हुआ । शब्द दोषो का दोष लक्षण मे समावेश करने के लिए उपर्युक्त कारिका मे कहा गया है - "उभयोपयोगिन स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स" अर्थात् शब्दादि तो रस तथा अर्थ ‌(वाच्यार्थ) दोनो के उपयोगी (उपायभूत) होते है इसलिए शब्दादि मे भी दोष होता है, केवल रसादि मे ही नही होता है । "शब्द" पद की "शब्द्यते बोध्यतेऽनेन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा बोध कराया जाय, वह "शब्द" कहलाता है । चूँकि पद और वाक्य भी प्रतिपादनात्मक बोधनक्रिया से युक्त होते है, अर्थात् उनके द्वारा भी बोध कराया जाता है । इसलिए "शब्द" पद से पद और वाक्य इन दोनो का ग्रहण हो जाता है । काव्य मे ये भी दोष-युक्त हो सकते है । इसके अतिरिक्त "शब्दाद्या" पद मे "आद्य" पद से वर्ण और रचना का ग्रहण होता है ।[1] इस प्रकार रस, वाच्यार्थ, शब्द, वाक्य, वर्ण तथा रचना - ये सभी तत्त्व काव्य मे मुख्य होते है, अत इन सभी का अपकर्ष होने पर दोष होता है ।

दोष के उपर्युक्त लक्षण मे "हति" शब्द का अर्थ "विनाश" नही है, क्योंकि दोषो के कारण रस का नाश नही होता है, प्रत्युत् दुष्ट काव्य मे भी रसानुभूति होती है । यदि "हति" का अर्थ "विनाश" किया जायेगा तब तो यह दोषलक्षण ही असड्गत हो जायेगा । वस्तुत यहाँ "हति" शब्द "अपकर्ष" का वाचक है ।

काव्य दोष मुख्यरूप से तीन प्रकार के होते है - 1 शब्द दोष 2 अर्थ दोष और 3 रस दोष । वाक्यार्थ का बोध होने के पूर्व प्रतीत होने वाले दोष शब्दगत होते है । वाक्यार्थबोध के पश्चात् प्रतीत होने वाले तथा परम्परा से रस के अपकर्षक दोष अर्थगत दोष होते है । रस का साक्षात् अपकर्ष करने वाले दोष रस दोष माने गये है ।

---

1 शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने - का0प्र0 वृत्ति 7/49

चूँकि पद पदाश तथा वाक्य का अन्तर्भाव शब्द मे होता है , अत शब्ददोष भी तीन प्रकार के सम्भव है – 1 पद दोष 2 पदाशदोष 3 वाक्यदोष । इस आधार पर कुल पॉच प्रकार के काव्य दोष माने गये है – 1 पददोष 2 पदॉश दोष 3 वाक्यदोष 4 अर्थदोष 5 रसदोष आदि । इन पॉच प्रकार के दोषो के अतिरिक्त आचार्यों ने कुछ अलङ्कार दोषो का भी वर्णन किया है, किन्तु फिर उनका अन्तर्भाव उपर्युक्त इन्ही पॉच प्रकार के दोषो मे मा। लिया गया है ।

(।।।) महाकवि मंखक की दृष्टि में दोष का स्वरूप :–

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" के द्वितीय सर्ग "सुजन – दुर्जनवर्णनम्" के अन्तर्गत महाकवि मखक ने भाषाशैली , रस, तथा काव्य–दोष आदि विषयो पर पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करते हुए कुछ अपना मत अभिव्यक्त किया है । निसन्देह रूप से उन्होने उपने उन सिद्धान्तो एव नियमो का पालन भी किया है । अत काव्य – दोष के विषय मे स्वय कवि के विचार जान लेना अपेक्षित होगा –

उत्कृष्ट कोटि की कविता का ज्ञान किस प्रकार करना चाहिए, यह स्पष्ट करते हुए महाकवि मखक ने कहा है – कि बिना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नही खुलता जिस प्रकार बिना ऑधी के मणिदीपक और तैल दीपक का अन्तर नही मालूम पडता ।[1] रमणीय काव्यो का निरीक्षण करने से दोषों का पता उसी प्रकार से चल जाता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र मे जरा सा धब्बा ।[2] काव्य दोष स्पष्ट बहुत ऊपर ही झलकते है । सम्भवत पण्डितसभा के आचार्यो और विद्वानो ने कवि के समक्ष कुछ कह

---

1 "नो शक्य एव परिहृत्य दृढा परीक्षा, ज्ञातु मितस्य महतश्च कवेर्विशष ।
को नाम तीव्रपवनागमभन्तरेण, भेदेन वेत्ति शिखिदीपमणिप्रदीपौ ।।" श्रीकण्ठ0 2/37

2 सुक्तौ शुचावेव परे कवीना सद्य प्रमादस्खलित लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुर कथ वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपात ।। श्रीकण्ठ0 2/9

"सारमेयत्व" धारण करना उचित नही समझा होगा ।[1]

यही नही कि कवि को ज्ञान नही है । कवि उत्तम काव्य के गुण दोषो तथा काव्यात्मा रस को भली भॉति जानता –समझता है – मखक के अनुसार साधारण कवियो के काव्य मे वाच्य–लक्ष्य–व्यग्य रूप अर्थ की स्थिति स्पष्ट नही हुआ करती, वाच्यादि अर्थ यदि स्पष्ट भी हो गये तो सुबन्त–तिङ्न्त पदो की शुद्धि दुर्लभ हो जाती है । वाच्यादि अर्थ और पदशुद्धि दोनो के मिल जाने पर किसी किसी कवि के काव्य मे वैदर्भी प्रभृति रीतियॉ स्पष्ट नही हुआ करती । रीति भी है तो अनुकूल पदसघटना ही कठिन होती है । उन पर भी प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी सचरण अर्थात् वक्रगतित्व तो सर्वथा दुर्लभ ही रहता है । और यह सब भी सम्भव हो जाने पर किसी किसी की रचना काव्यात्मा रस के अभाव मे नीरस हुआ करती है । बडा गहन है "कवित्व" ।[2]

महाकवियो के काव्य के अर्थावबोध की तीक्ष्णता से उसकी व्युत्पत्ति और सहृदयानु–रजकता से उसके रस का अनुमान कर लेना चाहिए । यदि यह काव्य भूषण व्युत्पत्ति एव ईक्षुदीक्षा रस प्राप्त हो तो निसन्देह कवि वाणी मे पानक रस न्याय घट जाता है ।[3] रसचर्वणा "पानकरसन्याय" के अनुसार होती है । "पानक" कश्मीर मे एक पेयविशेष बनाया जाता है उसमे मिर्च, जीरा, द्राक्षा और मिश्री आदि डालकर कई बार पकाते–छानते है । कोई महाकाव्य भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और रस से ही सहृदयावर्जक हुआ करता है,

---

1 एक पुनर्दुर्जनसारमेयैर्धृतो गुणोऽय परसूक्तिकोषम् ।
विविक्षता लुण्ठयितु भषन्ति यदग्रत काव्यमलिम्लुचानाम् ।।
विधेरूपाध्याय धुरामसाधुर पूर्वचारित्र धरोऽधिशेताम् ।
तेनाप्यसृष्टानि सृजत्यय यत्सता ललाटेषु दुरक्षराणि ।। श्रीकण्ठ0 2/22,25

2 अर्थोऽस्ति चेन्न पदशुद्धिरथास्ति सापि, नो रीतिरस्ति यदि सा घटना कुतस्त्या ।
साप्यस्ति चेन्न नववक्रगतिस्तदेत –, द्वयर्थं विना रसमहो गहन कवित्वम् ।।
श्रीकण्ठ0 2/30

3 व्युत्पत्तिभूषणभवैहि नितान्त तैक्ष्ण्या – न्माधुर्यतो रसमथोन्मिषदिक्षु दीक्षम् ।
रूढा तयोर्यदि मिथो घटना कवीनां , जातैव तद्वचसि पानकरीतिसिद्धि ।।
श्रीकण्ठ0 2/38

वे पूर्व तत्त्वदर्शी महाकवि अब कहाँ रहे कि जिन्होने, बडे आयास के साथ, वाणीरूपी इक्षुलता को पुन पुन निपीड्न करके सर्वथा सरस रचनाए रची थी । अब तो जहाँ तहाँ कवि ही कवि दिखाई देते है । वे सदा कठोर अनुप्रास, मुरजवन्धादि चित्र, यमक और क्लिष्टश्लेषादि रचनाए ही प्रस्तुत करते रहते है ।[1]

काव्य लक्षण के उपनिषद्भूत उन उन काव्यप्रकाश काव्यमीमासादि शास्त्रग्रन्थो के पुन पुन परिशीलन के बिना कवित्वपर्वत पर पहुँचने मे कभी भी पाटव नही प्राप्त होता, समयानुकूल ऋतु के प्राप्त होने पर पके हुए फल का मधुर स्वाद क्या कच्चे कैथे के फल मे भी प्राप्त हो सकता है? नही ।[2] सर्वथा अनवद्य और सरस काव्य प्रणयन के लिए शास्त्रानुशीलन और अभ्यासकृत परिपाक आवश्यक है ।

शिथिल , सशयावह और अशक्त पदो वाले जीर्ण कविकाव्यगृह मे सरस्वती कभी नही बसती, और न ही शास्त्रीय शब्दो की नाममात्र की स्थूणाओ से स्तम्भित, पर डगमगाते हुए घर मे भी वास करती है ।[3] शिथिल, सशयावह और अशक्त पदो वाली कविता मात्र शास्त्रीय शब्दो के विपुल प्रयोग से ही सत्काव्य नही बन जाती ।

---

1 यातास्ते रससारसग्रहविधि निष्पीडय निष्पीडय ये
वाक्तत्त्वेक्षुलता पुरा कतिपये तत्त्वस्पृशश्चक्रिरे ।
जायन्तेऽद्य यथायथं तु क्रवयस्ते तत्र संतन्वते
येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम् ।। श्रीकण्ठ02/42

2 अविहितबृहत्ततच्छास्त्रक्रमोपनिषच्छ्रमे
कवितरि गिरि प्रागल्भ्य नो कथचिदुदञ्चति ।
ऋतुकृतपरीपाकस्रोत प्रकर्षमनाश्रिते
कथमिप रसप्रस्यन्द स्याद्दधित्थशलाटुनि ।। श्रीकण्ठ0 2/48

3 शैथिल्यस्पृशि सशयावहपदे क्षोदासहिष्णौ कवे
स्वैर तत्र सरस्वती निविशते किं काव्यजीर्णौकसि ।
यच्छास्त्रक्रमशिल्पकारूभिरलभूष्णुप्रकर्षै परै –
र्न्यस्ताभि कथमप्युपस्कृतिवच. स्थूणाभिरूत्तभ्यते ।।
श्रीकण्ठ0 2/56

इस प्रकार महाकवि मखक ने काव्य गुण दोषो का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है जो इस महाकाव्य की विशेषता है ।

⟮।।।।⟯ प्रस्तुत महाकाव्य में उपलब्ध काव्यदोषों का विवेचन –

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे प्राप्त दोषो को निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है –

⟮अ⟯ गुणीभूतव्यग्यादि ध्वनिकाव्य–दोष,

⟮ब⟯ पद दोष, ⟮स⟯ अर्थदोष ⟮द⟯ अलङ्कार दोष

⟮त⟯ रसदोष ⟮थ⟯ छन्दोभङ्गादि दोष

इन दोषो के निरूपण मे मम्मटाचार्य के काव्य प्रकाश के दोषलक्षण तथा क्रम को स्वीकार किया है ।

⟮अ⟯ गुणीभूतव्यंग्यादि ध्वनि काव्य दोष :–

अगूढव्यङ्ग्य, अन्य रस या वाच्यार्थ का अङ्गभूत व्यङ्ग्य, वाच्यसिद्धयङ्ग, अस्फुटव्यङ्ग्य, सन्दिग्धप्राधान्य व्यङ्ग्य, तुल्य प्राधान्य व्यङ्ग्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर व्यङ्ग्य नाम के आठ मध्यमकाव्य भेद होते है ।[1] इन्हे हम साधारणतया दोषो मे नही ले सकते, परन्तु उत्तम काव्य की अपेक्षा से इन्हे दोषवद् ही माना जाता है ।

⟮1⟯ अगूढ व्यङ्ग्य –

किंचितगूढ ध्वनि ही सहृदयावर्जक हुआ करती है । सहजगम्य अर्थ मे एक उपेक्षा का भाव आ जाता है --

---

1. क0प्र0, 45वी कारिका

"घट्टयत्सु रूषा तेषु साटोप करपङ्कजै ।
हरससदि भीत्येव भित्तयोऽपि चकम्पिरे ।।"[1]

यहाँ पर "गणो के क्रोध से सभाभवन भी काँप रहा था " मे काव्यत्व अतिन्यून है । करों का पङ्कजत्व निरूपण व्यर्थ है ।

⁅2⁆ **वाच्यसिद्धयङ्ग –**

वाक्य के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रधान अर्थ होते है । वाच्य की अपेक्षा लक्ष्यार्थ और इन दोनो की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ उत्तम माना जाता है । कभी कभी व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का साधक बन जाता है तब ध्वनि की चारूता नष्ट हो जाती है यथा –

'य प्रोल्लङ्घयति स्म तारक भुव स्वर्वाहिनीनिर्गम –
प्रोच्चण्डेन निरर्गलेन च रणोल्लासेन शक्त्येकभू ।
आरूढ स भुजगवैरिणमय त्वद्दवारि पारिप्लव
सेवावाप्तिधिया स्थिति विवृणुते स्कन्दो मुकुन्दो यथा ।।[2]

तारकभुव – तारक दैत्य के स्थान और ऊर्ध्वाकाश, स्वर्वाहिनी – सेना एव गरूगा, शक्ति – पार्वती एव सामर्थ्य, भुजगवैरिण – मयूर तथा गरूड इत्यादि श्लिष्ट विशेषणो की महिमा से स्कन्द का मुकुन्द के समान होना व्यङ्ग्य ⁅उपमा ध्वनि⁆ था । यहाँ महाकवि मङ्खक के द्वारा "मुकुन्दो यथा" पाठ से वह व्यङ्ग्य वाच्यार्थ "स्कन्दस्तुति" का साधक बन गया । श्लिष्ट विशेषण मुकुन्द के समान स्कन्द अर्थ के पोषक मात्र रह गये । उनकी व्यजकता नष्ट हो गयी । "स्कन्दो मुकुन्दो बहिः" कर देने से इन इन विशेषणो से युक्त मुकुन्द के समान इन इन विशेषणो वाले स्कन्द अर्थ में श्लिष्ट विशेषणो की सार्थकता

---

1 श्रीकण्ठ0 19/3

2 श्रीकण्ठ0 16/35

अक्षुण्ण रहती है ।

"दैत्योदयासवरस श्रवणानुतर्ष –
मार्गेण ते गणगणा विनिपीतवन्त ।
रज्यद्विलोचनकपोलतला स्खलद्भि –
र्वाक्यैर्विलोलवलितभ्रु विकारमूहु ॥"[1]

दुराचारो को सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक होता है । ऑखो का लाल होना, भ्रूभङ्गादि और क्रोधादि मे वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है । पूर्वार्ध मे गणो ने दैत्यो के उपद्रवादि सुने । उन्हे क्रोध आना स्वाभाविक है । उत्तरार्ध मे कवि ने भ्रूविकारादि के कथन के द्वारा उस व्यङ्ग्य क्रोध को वाच्य बना दिया । क्रोध स्थायी न रहकर सञ्चारी सा प्रतीत होने लगता है ।

(3) **समप्राधान्य –**

कभी कभी व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ के तुल्य ही चारू होता है यथा –

"तत्तद्युद्भवसुधराचुलकितारातिप्रतापानल –
प्राग्भार वमतामिवाट्टहसितज्वालावलीलीलया ।
तेषा रोषकषायितेक्षणपुटव्याजेन वीरश्रियो
दीयानाददिरे विचेतुमसुरान्सयन्निशायामिव ॥"[2]

"प्रमथगण क्रोध मे भयकर अटट्हास कर रहे थे । उनकी ऑखे अग्नि सी जल रही थी" श्लोक का वाच्य है और 'उन्हे भयकर क्रोध आया हुआ था ' व्यङ्ग्य दोनो समप्राधान्य है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 18/1

2 श्रीकण्ठ0 18/58

फूत्कारैस्तुदतोऽप्यपारगरलोद्गारैर्गिरीशोरगा –
न्पश्यैते त्रिदशा अपि प्रतिकल सर्वे नमस्कुर्वते ।
यत्सर्वाधमता रसातलसमुत्पत्तेर्गता अप्यमी
सकलृप्ता भवतोत्तमाड्गघटनाद्विश्वोपरि स्थायिन ।।[1]

श्लोक के पूर्वार्ध मे – 'दुखद भी गिरीशोरग देवताओ के द्वारा नमस्कार किये जा रहे है – सर्पो का श्रेष्ठत्व गम्य है ' । श्लोक के उत्तरार्ध का वाच्यार्थ भी यही है । वाच्यार्थ और व्यड्ग्यार्थ तुल्यप्राधान्य की कोटि के है ।

﴾4﴿ <u>असुन्दर व्यड्ग्य –</u>

कभी–कभी बहुत असुन्दर व्यड्ग्य भी निकल आया करता है यथा –

"क्ष्मापीठपृष्ठमपि घट्टयतोऽतिवेल–
मुद्वेलमत्सररसप्लवमानदृष्टे ।
अभ्यासतो मुरजवादन विभ्रमेषु
नो नन्दिन करतल श्रममाससाद ।।"[2]

श्लोक का वाच्यार्थ है – गर्वयुक्त ऑखो वाले नन्दी की हथेलियॉ बडी देर तक पृथ्वी को पीटते रहने पर भी नही थकी, क्योकि वे मृदग के बजाने के सतत् अभ्यासी थे ' । व्यड्ग्यार्थ निकलता है – "मृदग बजाने के सतत् अभ्यासी नन्दी व्यर्थ ही पृथ्वी को पीट रहे थे ।' अतएव यहॉ पर असुन्दर व्यड्ग्य है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 16/52

2 श्रीकण्ठ0 18/52

(ब) **पद दोष –**

एक पद के दूषित होने से रसास्वादन मे व्यवधान उत्पन्न हो जाता है । वाक्य दोष भी इन्ही के साथ है ।

1 **च्युतसस्कृति पद दोष –**

"च्युता स्खलिता सस्कृति सस्करण व्याकरण-- लक्षणानुगमो यत्र' इस विग्रह के अनुसार "च्युतसस्कृति' वह दोषयुक्त पद है जो व्याकरण के नियमो के विरूद्ध हो ।[1]

जिस भाषा मे काव्य रचना की गई हो, उसी भाषा के व्याकरण के आधार पर उसकी अशुद्धि (व्याकरणहीनता) पर विचार किया जाता है ।[2]

व्याकरण के नियमो का उल्लड्घन सभी प्रकार के काव्यो मे दोष रूप ही माना जाता है । प्रस्तुत महाकाव्य मे कुछ पद्य ऐसे है , जिनमे व्याकरण के नियमो का पूर्णरूपेण पालन नही हुआ है , यथा –

अधिवल्लिमण्डपमखण्डमान्मथप्रथमोपदेशगुरू भड्गुरभ्रुव ।
अथ वल्लभै समभग्न विभ्रमा मधु कर्तुमीषुरधरामृतातिथिम् ।।[3]

प्रस्तुत श्लोक मे "इष्" धातु दिकर्मक नही है अत "मधु . अतिथिम् कर्तुमीषु" अशुद्ध है 'मधु अतिथी कर्तुमीषु' हो सकता है परन्तु छन्दोभड्ग हो जायेगा । इस दशा मे च्युतसस्कृति दोष होता है ।

---

1 च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम् । का0प्र0वृत्ति 50,51
2. यद्भाषासस्कारकव्याकरणलक्षण विरूद्धं यत् तत् तद्भाषाया च्युतसस्कृतीति भाव । बालबोधिनी पृ0 268
3 श्रीकण्ठ0 14/1

इसी प्रकार 'पौष्पचापे सदसि पाठ अशुद्ध है । 'मीनकेतो सदसि' उचित होगा ।[1]

एक और श्लोक मे 'रमणी चिरादबोधि मे "विवेद" ठीक होगा ।[2]

2 **अप्रयुक्त पद दोष –**

कोश आदि मे उस अर्थ मे पढा हुआ होने पर भी कवियो द्वारा न अपनाया हुआ शब्द प्रयोग अप्रयुक्त दोष होता है ।[3] "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य 'अप्रयुक्त पद दोष' के उदाहरण द्रष्टव्य है –

"पर्यच्छवसन्मकरकेतुरसा निसर्गा –
दुद्यत्पयोधरभरा च तनुर्वधूनाम् ।
आसाद्य कड्कण विशेषमहो चकार
प्रेयोजनस्य नयनद्वयमुत्पिपासम् ।।[4]

प्रस्तुत पद्य मे तनुर्वधूनाम्" मे "तनु" पद ह्रस्वान्त पठित तो है, पर प्रयोग मे "तनू" ही है । मड्खक ने कई बार इसका ह्रस्वान्त प्रयोग किया है ।

विकोषकदर्पकृपाणधाम्ना व्यञ्जन्समलब्धमिवाड्गमड्गम् ।
जल्पाकतोत्सेकमियाय चूतसौरभ्यसभ्यो मधुपायिलोक ।।[5]

---

1. श्रीकण्ठ0 14/67
2 श्रीकण्ठ0 8/26
3 अप्रयुक्त तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम् ।
– का0 प्र0 7/50,51 वृत्ति भाग पृ0 268
4 श्रीकण्ठ0 13/43
5 श्रीकण्ठ0 6/49

यहाँ पर व्यञ्जन्समलब्धमिवाड्गमड्गम्" मे "समलब्ध" पद बन सकता है। लेकिन प्रयोग मे "समालब्धम्" ही आता है। फिर भी यह "समलब्धम्" "लिप्तम्' का अर्थ नही दे सकता, जो कवि को अभीष्ट है।

इसी प्रकार से तत्तद् युद्धवसुधराचुल' मे "युद्धवसुन्धरा" युद्ध क्षेत्र के अर्थ मे किसी अन्य कवि ने प्रयोग न किया होगा। 'वसुन्धरा' वीर भोग्या अवश्य है, पर युद्धमयी नही।[1]

3 **असमर्थ पद दोष –**

जो उस रूप मे अर्थात् उपसन्दानोजीवी रूप मे पढा गया है, परन्तु उस उपसन्दान या अन्य किसी की सहायता न होने से किसी विशेष स्थल पर उस अर्थ मे उसकी शक्ति नही है, उसको "असमर्थ" कहते है।[2]

"घटमानदन्तवलया विबभु सुरसुभ्रुवा मृदुलबाहुलता।
निजकान्तिचौर्यरचनैकरूषा कृतवेष्टना इव मृणालदलै ॥"[3]

प्रस्तुत श्लोक मे 'दन्तवलय' 'मृणालदल' नही हो सकते। 'मृणालदल' हथकडियो के वाचक तो कभी हो ही नही सकते। फिर "दल" शब्द पत्तो या पखुडियो का वाचक है, न कि "नाल" का। मृणालनाल के वलय बनाये जाते है, दलो के नही मृणालनाल मृदुकण्टकयुक्त मटमैले ही होते है, श्वेत नही। हाँ "विसतन्तु" अवश्य ही श्वेत होते है, परन्तु उनके वलय नही बनाये जाते। बाहुओ का "लता" विशेषण भी

---

1 श्रीकण्ठ0 18/58
2 असमर्थ यत्तदर्थं पठयते न च तत्रास्य शक्ति।
– का0 प्र0 वृत्ति 7/50,51 पृ0 268
3. श्रीकण्ठ0 13/18

अननुगुण हैं। लताए मृणालनाल के ही परिवार की है।

इसी प्रकार "असमर्थ पद दोष" के सक्षेप मे और भी उदाहरण द्रष्टव्य है

(अ) श्रीखण्डकाण्डरस" मे "काण्ड" पद खण्ड या भाग के अर्थ मे प्रयुक्त है, परन्तु काण्ड और टुकडे या अश मे बडा अन्तर होता है।[1]

(ब) "लतानताङ्गीषु सहेलमात्तलोलापुञ्जासितचामरासु।" मे "पुञ्ज" पद "माला" अर्थ मे प्रयुक्त है। जबकि उसमे इसकी शक्ति नही है।[2]

(स) चन्द्रहासपथदर्शनताम्यद्विप्रयोगभरजर्जररामे।
सेतुबन्ध इव तत्समये स क्षोगसभ्रममवाप पयोधि ॥[3]

प्रस्तुत पद्य मे "विप्रयोग भरजर्जररामे" पद 'विरहार्तासु पान्थप्रियासु' तथा 'विरहार्तरामे' अर्थो के कहने मे सर्वथा असमर्थ है। विशेष कर 'जर्जर' पद 'आर्त' के बोधन मे। बाल-युवादि आर्त हो सकते है, पर जर्जर नही। "विप्रयोग" मे "प्र" स्पष्ट ही निरर्थक और अधिक प्रयुक्त है। अतएव "वियोगभर" ही शुद्ध है। "विप्रयोग" सयोग भी हो सकता है, जो अभीष्ट नही है। और "चन्द्रहासपथदर्शनताम्यत्" यह वियोगिनियो के पक्ष मे तो लग सकता है कि वे ज्योत्स्ना को देख देख कर ग्लपित हो रही थी। लेकिन , सीता के विषय मे यह कहना कि वह रावण के चन्द्रहास को देखकर भयभीत हो रही थी, नितान्त झूठ होगा।

---

1 श्रीकण्ठ0 11/35
2 श्रीकण्ठ0 6/47
3 श्रीकण्ठ0 11/10

4 **अनुचितार्थ पददोष –**

अभीष्टार्थ के विरूद्ध भी किसी अनुचित अर्थ का सम्भव हो जाना ही अनुचितार्थदोष कहलाता है ।

मुखमनुसृतदीर्घमत्सर ते सहजरूचिप्रतिवादतोऽम्बुजेषु ।
प्रभवति गिरिराजपुत्रि सोढु कथमपि तत्सुहृदो न पादपातम् ।।[1]

उक्त पद्य मे अनुचितार्थ पद दोष है । हे गिरिराजपुत्रि । कमलो मे ईर्ष्यालु तुम्हारा मुख उस कमल के सुहृद् सूर्य के 'पादपात' को सहन नही कर पाता । 'पादपात' पद 'पदाघात' का भी वाचक है ।

5 **निरर्थक पद दोष –**

श्लोक मे जब केवल पादपूर्ति के प्रयोजन से 'च' 'ह' आदि पद रखे जाते है, तो वे निरर्थक होते है ।[2] आचार्यो ने इसे दोषरूप माना है । काव्य प्रकाश के टीकाकार आचार्य वामन झलकीकर के मतानुसार ये (च, ह, खलु आदि) निरर्थक पद छन्दोगत न्यूनता के परिहारमात्र के प्रयोजक होते है । अतएव वाक्य के अलङ्कारभूत यमकादि के स्थलो मे ये दोषरूप नही होते है ।[3]

निरर्थक पद युक्त श्लोको के कुछ उदाहरण इस प्रकार है –

परिणतिमुपजग्मुषा तुषारद्युतिवपुषोदरसीम्न्यखण्डितेन ।
अनुहरसि हरे पुरध्रिमूर्ति पिहितहठोद्गतनाभिपुण्डरीकाय् ।।[4]

---

1 श्रीकण्ठ0 7/13
2 निरर्थक पादपूरणमात्रप्रयोजनम् चादिपदम् । का0प्र0वृत्ति 7/50,51
3 वृत्तन्यूनतापरिहारमात्रप्रयोजनकमिति यावत् । अतएव वाक्य अलङ्कार भूतं यमकादि निर्वाहकं चखल्वादिपदमदुष्टम् ।बालबोधिनी पृ0 273
4 श्रीकण्ठ0 11/16

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्ध मे 'सीम्नि' पद निरर्थक है । 'उपजग्मुषा' मे "उप" भी व्यर्थ ही है । पौन पौन्य के अभाव मे क्वसु प्रत्यय का प्रयोग भी निरर्थक है । "परिणतिमुपगतेन" या "परिणतिप्राप्तेन" पर्याप्त था ।

धुन्वन्पर परूषरोषतयोत्तमाङ्ग
प्रेङ्खोलकेलिमणिकुण्डलयुग्मभङ्गया ।
निन्ये निनर्तिषति वैरिकबन्धलोके
सनद्धतालपुटतामिध वक्त्रचन्द्रम् ॥[1]

उक्त पद्य मे 'केलि' निरर्थक है, मणिकुण्डल ही पर्याप्त है । "प्रेङखोल" से चलत्" का भाव नही आता । "प्रचलमणिकुण्डल" शोभावह है । 'सुभट' के 'वक्त्र' मे 'चन्द्र' से कोई प्रयोजन विशेष सिद्ध नही होता । 'वैरिकबन्धेषु' के अर्थ को "वैरिजनक-बन्धेषु' तो किसी प्रकार कहता है, परन्तु 'वैरिकबन्धलोके' नही । 'लोके' पद व्यर्थ है ।

"धूमच्छटाप्रविकटभ्रुकुटीपुटस्य'[2] मे 'प्र' निरर्थक है ।

"तव वरललने वलीविभङ्गप्रतिफलनप्रविभक्तमूर्तिरिन्दु ।[3]

उक्त पद्याश मे 'प्रविभक्त' का 'प्र' निरर्थक और 'वली' मे 'त्रि' न्यून है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 18/14
2 श्रीकण्ठ0 18/18
3 श्रीकण्ठ0 11/17

6 **अवाचक पद दोष –**

"अवाचक" वह दुष्ट पद है जो विवक्षित धर्मी से विवक्षित धर्मविशिष्ट का कही भी वाचक न हो ।[1] "श्रीकण्ठचरितम्" के कुछ पद्य इस दोष के सदर्भ मे द्रष्टव्य है –

ऋजुतूलिकाग्रविनिर्वेशिगलद्‌ब्हलाञ्जनव्यतिकरक्रमत ।
प्रकटीविधातुमिव केलिपथ पपिरे तमासि नयनै सुदृशाम् ।।[2]

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध मे 'प्रकटीविधातुमिव केलिपथ' मे 'प्रकटीविधातु' पद निर्मातु का अवाचक है । वैसे यह मड्‌खक का बडा विदग्ध प्रयोग है । कवि ने इस पद को मकडी की भॉति अपने ही अन्दर से निकालकर उसी के जाले के समान, अन्धकारा–च्छादित अभिसरण मार्ग बना लेने के अर्थ मे प्रयोग किया है । "केलिपथम्" "अभिसरणमार्गे" का अवाचक है । ' केलि' 'रतिर्केलि' का भी वाचक नही है ।

एक एवावसथोऽजनि श्रिय ।[3] मे "आवसथ" पद 'आश्रय' का वाचक नही है ।

'अखण्डदयिताश्लेष'[4] मे 'अखण्ड' निविड का अवाचक है । इसी प्रकार "पृष्ठभ्रमत्सजवषट्पदचक्रचिन्ह"[5] मे 'पृष्ठ' पद चकिया के ऊपरी चक्र का वाचक नही है ।

---

1 विवक्षितधर्मविशिष्टस्य विवक्षितधर्मिण क्वापि न वाचक यत्तदित्यर्थ । बालबोधिनी पृ0 274
2 श्रीकण्ठ0 13/26
3 श्रीकण्ठ0 3/64
4 श्रीकण्ठ0 15/42
5 श्रीकण्ठ0 6/63

7 **अप्रतीत पददोष -**

अप्रतीत - जो केवल किसी विशेष शास्त्र मे प्रसिद्ध है अर्थात् किसी विशेष शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, उसका प्रयोग साधारण रूप मे करना अप्रतीत दोष कहलाता है ।[1]

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" मे अप्रतीत पददोष भी है यथा -

आवहन्ननवधि परिवार मण्डल शशभृतोऽधिशयान ।
चित्रमत्र कुसुमायुधदेवो मानिनीष्वधित सहृतिमुद्राम् ।।[2]

इस पद्य मे "सहृतिमुद्रा" पीपल आदि के नीचे या श्मशानादि मे विधि विधान विशेष के साथ भाव विशेष मे बैठना भी अभिचारशास्त्र मे ही प्रसिद्ध है ।

अकल्पयच्युततरो स्वदेहमारात्रिकायेव मधु व्रताली । उक्त पद्याश मे "आरात्रिकम्" किसी की भूतादि आधि व्याधियो को अपने ऊपर ले लेने के विचार से भरे हुए मृद्घट को लेकर रूग्ण के चारो ओर घूमते है , और पुन उस घट को बाहर किसी दूर स्थान पर रख आते है । पद अभिचारशास्त्र मे ही प्रसिद्ध है ।

8 **नेयार्थ पद दोष .-**

"नेय रूढि, प्रयोजनाभावे कविना कल्पितोऽर्थ यत्र" जहॉ रूढि और प्रयोजनरूप लक्षणा के हेतुओ के न होने पर भी कवि अपनी इच्छा से यो ही लक्षणा से शब्द का प्रयोग कर दे, वहॉ नेयार्थत्व दोष होता है । उदाहरणार्थ -

---

1 अप्रतीत यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् । का0प्र0 7/50,51 वृत्ति भाग पृ0 273

2 श्रीकण्ठ0 11/3

3 श्रीकण्ठ0 6/15

शयनमपि सरोजिनीपलाशैर्मनसिजसैन्यसितेतरातपत्रैः ।
अमृतकरतनोस्तनोति तस्या घटितविधुतुदसततिप्रतिष्ठाम् ।।[1]

श्वेत कामकटक से भिन्न कृष्णवर्ण सरोजनी के पत्तो से बनाया गया विरहिणी या नायिका का शयन भी उसके लिए उत्पन्न राहुसन्तति को व्यक्त करता है । "तस्या अमृतकरतनो शयनम्" मे "अमृतकरतनु" पद मे सारोपा गौणी लक्षणा है । नायिका की कोमलता व्यग्य है । इस व्यग्यार्थ मे पद्मिनीदलो का राहुसन्तति के समान दुखद होना सहायक है । इस सहायता (हेतु) के अभाव मे यह व्यग्यार्थ असम्भव था । यही इसकी नेयार्थता है । साधारणतया चन्द्र की उपमा नायिका के मुखमात्र से दी जाती है , और उसमे चन्द्र की मनोज्ञता, आहलादकता, श्वेतता, तथा वर्तुलत्व मुख्य हेतु होते है , कोमलता नही ।

9 **न्यून पदत्व दोष :–**

वाक्य मे किसी आवश्यक पद का न होना न्यून पदत्वदोष होता है ।

प्रस्तुत "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे न्यून पदत्व दोष के उदाहरण भी द्रष्टव्य है –

सा वाणी मसृणीकृता निरवधि व्युत्पत्तिशाणाश्मनि ।।[2]

"व्युत्पत्तिशाणाश्मनि मसृणीकृता इव सा वाणी" मे 'इव' अध्याहार्य है । इसी पद्य मे 'सा वाणी उदेति' के सवादी वाक्य या धीमताकण्ठे घटिता गुणो भवति' मे 'भवति' या 'जायते' न्यून है ।

---

1 श्रीकण्ठ 0 7/29
2 श्रीकण्ठ0 2/41

इतरा निसर्गहठगौरतनूर्मृगनाभिपड कममुचत्कुचयो ।
भयतश्चचाल मुहुरक्षियुग दयितस्य गाढविनिमग्नमिव ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे 'अक्षियुग न चचाल', "न" न्यून है । गाढविनिमग्नमिव के साथ 'मुहु' अधिक है । पूर्वार्ध मे 'मृगनाभिपड्कम्' लेप हेतु कहा जा चुका है अत 'भयत' भी व्यर्थ है । 'मृगनाभिपड्कम्' (मृगस्यनाभावुत्पन्नाया कस्तूरिकाया लेपमड्ग–रागम्) दीर्घ सूत्रता है । "कस्तूरिका" अध्याहार्य है ।

10 **अधिकपदत्व दोष –**

वाक्य मे अनावश्यक पद की स्थिति होना अधिकपदत्व दोष कहलाता है ।[2]

"श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य मे अधिकपदत्व दोष के सदर्भ मे कई उदाहरण द्रष्टव्य है –

अधिमद्यमध्यमुरूपुष्पसहतिभ्रमरावली कलकलाकुला दधे ।
हरभीतिभड्गुरमतेर्मनोभुवो जलदुर्गगर्तगतसैन्यविभ्रमम् ।।[3]

यहाँ पर "अधिमद्यमध्यमुरूपुष्पसहति भ्रमरावली" के स्थान मे "अधिमद्य भ्रमरावली" पर्याप्त है । "अधिमद्य" के बाद "मध्यम्" नितान्त व्यर्थ है । मद्यगन्ध ही भ्रमरो को आकर्षित करने के लिए यथेष्ट है, जैसा कि स्वय कवि ने ही कई श्लोको मे वर्णन किया है फिर मद्य के मध्य मे "पुष्पसहति" की क्या आवश्यकता ? चषक मे कमल आदि एक दो पुष्प भी पर्याप्त है , "सहति" पुष्पो का अतिरेक है । "हरभीतिभड्गुरमतेर्मनोभुव" ठीक है । .मतेर्मनो' मे भी समास होकर विभक्ति का लोप होना चाहिए । "जलदुर्ग–

1 श्रीकण्ठ0 13/33
2 अविवक्षितार्थक पदक वाक्यम् । का0प्र0नागे0टीका 7/50,51 वृत्ति भाग
3. श्रीकण्ठ0 14/39

गर्तगतसैन्यविभ्रमम्" मे "जलदुर्गगतसैन्यविभ्रमम्" उचित है इसमे "गर्त" पद अधिक है। भगवान् शिव ने स्वय काम को भस्म किया था । कामकटक को नही । काम ने स्वय जलदुर्ग मे न छिपकर स्वसेना को व्यर्थ ही छिपाया ।"चषक" जलदुर्ग के समान है एव "मदिरा" जल के समान है मे अधिकोपमा तथा हीनोपमाए भी है । लिङ्गभेद तो है ही । "कलकला" पद ग्राम्य है ।

एक और उदाहरण सक्षेप मे द्रष्टव्य है –

उरशेषाहिरत्नान्तरे"[1] मे "उरशेषरत्नान्तरे" या "उरोऽहिरत्नान्तरे" होना चाहिए । "शेष" हो या "अहि" परन्तु दोनो नही । शिव की छाती पर "शेष" नही रहता । "शेष" पर विष्णु शयन करते है या फिर पृथ्वी शेषाधारा है । ऊहिरत्न "सर्पमणि" का वाचक "द्रविडप्राणायाम्" से हो सकेगा ।

मदनमदद्विपकर्णतालवायु ।"[2] यहाँ पर "मदनद्विपकर्णवायु" ठीक है "मद" और "ताल" से अर्थ मे कोई चारूत्व नही आता ।

11 **अस्थानस्थपददोष :–**

अनुचित स्थान पर स्थित पद और समास को अस्थानस्यपददोष कहते है –

जायन्तेऽद्य यथायथ तु कवयस्ते तत्र सतन्वते
येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम् ॥[3]

---

1 श्रीकण्ठ0 5/55
2. श्रीकण्ठ0 7/21
3 श्रीकण्ठ0 2/42

यहाँ पर अनुप्रास, चित्र , यमक, और श्लेष नामो के बीच मे "कठोर" विशेषण का गुम्फन नही हो सकता , निपात का हो सकता है । अतएव "अनुप्रासदुश्चित्रयमक श्लेषा" हो या फिर "कठोरानुप्रासचित्रयमक" पाठ किया जाय ।

द्विजाधिराजेन गवा प्रसादात्प्रतिक्षप कारित भूमिसेक ।
पान्थप्रियाणामृतचक्रवर्ती नेत्रेष्ववग्राहमपाचकार ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे सभङ्गश्लेष है । वसन्त और चक्रवर्ती अभिधेय है । एक अर्थ है – वसन्त ऋतुचक्रवर्ती ने चन्द्र के द्वारा किरणो से भूमि को आप्लावित करवाकर प्रोषित भर्तृकाओ की ऑखो मे बन्द वर्षा अर्थात् अश्रुप्रवाह को दूर कर दिया , उन्हे रूला दिया । दूसरा अर्थ – चक्रवर्ती राजा ने ब्राह्मण के द्वारा गायो के दूध से भूमि को आप्लावित करवाकर वर्षा के प्रतिबन्ध को दूर कर दिया ।

यहाँ "ऋतुचक्रवर्ती" "पान्थप्रियाणा" के बाद आकर उनके उपपति का बोधक हो जाता है अत इसे कही अन्यत्र होना चाहिए । "प्रतिक्षप" दोनो अर्थों मे अनावश्यक है । द्वितीय अर्थ मे "गवा प्रसादात्" का अर्थ 'गायो के दूध से "नेयार्थ" है ।

12 **विरूद्धमतिकृत दोष :–**

जब किसी पद से प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति हो तो विरूद्ध मतिकृत दोष हो जाता है ।

प्रस्तुत महाकाव्य मे "विरूद्धमतिकृत दोष" प्राप्त है यथा –

विभ्राणो वपुरहिमालि लुप्तताप प्रत्युप्तामखिलगणैर्दिवादिसाराम्
आश्चर्य चरितमुदञ्चयन्नपूर्वा शर्वाणीदयिततम सभामवापत् ।।[1]

प्रस्तुत श्लोक मे "शर्वाणीदयिततम" बडा विचित्र पद है । शर्व + आनुक् +ङीप् – शर्वाणी अर्थात् शिव की पत्नी । "शर्वाणीदयिता" – कोई शिव से भिन्न अत शर्वाणीदयित तम और "अगजाभुजगादि" आदि कई पद कवि ने विरूद्ध प्रयोग किये है

13 **पतत्प्रकर्ष दोष .–**

अर्थ अलकार आदि का गिरता हुआ उत्कर्ष पतत्प्रकर्ष दोष कहलाता है । यथा–

य सान्द्रोदयरागयोगसुभग सिन्दूरमुद्रालिपि
प्रागध्यास्त समस्तमान्मथबृहत्कोषप्रतिष्ठातिथि ।
जज्ञे स क्रमशो निरङ्कुशरतक्षुभ्यत्सुरप्रेयसी –
कर्णाग्रच्युतदन्तपत्रतुलनामल्लस्तमीवल्लभ ।।[2]

श्लोक के पूर्वार्ध मे कवि ने चन्द्र को कामदेव के बृहत्कोष का सिन्दूरटीका बताया है । व्यङ्ग्य यह है कि 'उदयरागरजित पूर्णचन्द्र अत्यन्त कामोद्दीपक था' । और उत्तरार्ध मे उसी पूर्णचन्द्र को कवि ने सुरप्रेयसियो के रतच्युत कर्णदन्तपत्र अर्थात् हाथीदाँत के कर्णभूषण बताया है । यहाँ पूर्णचन्द्र की उत्तेजकता भी शून्य हो गई । वह मात्र श्वेताभदन्तपत्र रह गया है । तब भी वह "तुलनामल्ल" कहा गया है ।

पतत्प्रकर्ष दाष दशम् सर्ग के 55वे श्लोक मे भी है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 17/5

2 श्रीकण्ठ0 10/49

14 **समाप्तपुनराप्त दोष –**

वाक्य की अन्तिम क्रिया के बाद भी कोई नवीन विषय कहना "समाप्तपुनराप्त दोष" कहलाता है यथा –

कुर्वाणो निखिल जगन्मुकुलित मोहेन निद्रात्मना
ध्वान्ताडम्बरकालकूटगरलापीडोऽरूणद्यो दिश ।
त्वन्मूर्त्यन्तरमर्यमा गिलति त पश्याष्टमूर्ते यतो
विस्रस्ता कणिका इवाधिनलिनं भृङ्गारूजन्त्यध्वगान् ।।[1]

"हे अष्टमूर्ते । देखिये तुम्हारी अष्टमूर्तियो मे से एक यह सूर्य उस ध्वान्त कालकूट को लील रहा है कि जिस (ध्वान्त) ने निद्रामोह से जगत् को मूर्च्छित कर रक्खा था । यह उसकी छिटकी विषकणिकाए भृग पथिको को दुख दे रहे है ।" यहाँ 'त ध्वान्त कालकूट गिलति' तक "अर्गमा" की महिमा का परिचायक है । भँवरो का पथिको को दुख देना उससे कोई सम्बन्ध नही रखता ।

"ध्वान्तकालकूटोऽरूणद्योदिश" उचित है । शेष विशेषण व्यर्थ है । "कणिका इव भृगा" मे लिङ्गभेद खटकता है ।

समाप्तपुनराप्त दोष पञ्चम सर्ग के 41वे श्लोक, षष्ठ सर्ग के 46वे श्लोक, दशम् के 60वे श्लोक, षोड्श सर्ग के 31वे श्लोक मे भी है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 16/23

15 **विधेयाविमर्श दोष –**

अभिधेय का प्राधान्य से विचार न किया जाना ही "विधेयाविमर्शदोष" कहलाता है ।[1] यथा –

वृन्दारकाधिपशिरोरूहपारिजात –
स्रग्बन्धु भिर्मधुकरैरूपवीणिताड्घ्रि ।
देव स्वय जगदनुग्रहकेलिकार –
स्त बालशीतकिरणाभरणोऽधिशेते ॥[2]

यह पञ्चम सर्ग का प्रथम श्लोक है । इसमे आए हुए "त" का अभिधेय कैलास अपने शुद्धरूप मे चतुर्थ सर्ग के अन्तिम श्लोक 64 मे भी विद्यमान नही है । बर. केवल यही एक समाधान है कि चतुर्थ सर्ग मे जिस कैलास का वर्णन किया गया है वह उसके "त" से है । इतनी दीर्घसूत्रता से "विधेयाविमर्शदोष" मानना होगा ।

पचम सर्ग के कई श्लोको मे प्रक्रान्त शिव की अनु स्मृति करनी पडती है

16 **अमतपरार्थ दोष :–**

जहाँ दूसरा अर्थ प्रकृत अर्थ के विपरीत है वहाँ अमत परार्थता वाक्य दोष होता है ।

"श्रीकण्ठमचरितम्"मेंयह दोष भी प्राप्त होता है यथा –

---

1 अविमृष्ट प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयाशो यत्रतत् । का0प्र0

2 श्रीकण्ठ0 5/1

प्रहरति हरिणाड्कने तवेद कुचयुगमन्तिकबिम्बिते लसन्त्या ।
रूचिसहचरकोकपक्षपातादिव चलहारलताविवल्गनेन ।।[1]

इस पद्य मे हारलता मे प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब बृहत् कुचो की अपेक्षा बहुत छोटे छोटे होगे । चन्द्रबिम्ब हार मे बिम्बित होकर कुचो को मार रहे है, तो कहा जा सकता है, पर "कुच बिम्बो को मार रहे है " नही कहा जा सकता । आकर टकराने वाले बिम्ब है कुच नही । यहाँ प्राकरणिक वाच्य श्रड्गार का व्यड्ग्य द्वितीय रौद्ररस विरोधी है ।

कोक – चकवा – चकई अपने रात्रि के विलगाव के लिए प्रसिद्ध है, और किसी विशेषता के लिए नही । चन्द्र उनके विलगाव मे कारण भी नही है । अत कुचो की 'रूचि' और कोक मे 'सहचरता' ही क्या? पक्षपात भी क्यो? चन्द्र से कैसा प्रतिशोध ? "लसन्त्या " पद निरर्थक है ।

अमतपरार्थ दोष अट्ठारह सर्ग के 32वे श्लोक और ग्यारह सर्ग के 9वे श्लोक मे भी है ।

(स) **अर्थ दोष :–**

वाक्यादि के शुद्ध होते हुए भी जहाँ अर्थ ही अयुक्त हो वहाँ अर्थदोष होता है । आचार्य मम्मट ने 23 प्रकार के अर्थ दोष माने है । वह अर्थदोष "श्रीकण्ठचरितम्" मे भी प्राप्त है ।

---

1 श्रीकण्ठ० 11/18

1 **क्लिष्ट दोष –**

जहाँ अर्थ क्लेशगम्य हो वहाँ उक्त दोष होता है जैसे –

घनकुन्दकुड् मलविशोषणच्छलात्तुहिनापचारचरूभाण्डयज्वना ।
तिमिरद्रुहोऽम्बुदनिचोलगोलक महसा विहाय जगृहे कठोरता ।।[1]

इस श्लोक मे यजमान ने तुहिनापचार से "कृत्या" अर्थात् मारणक्रिया के द्वारा सूर्य का तेज पुन प्राप्त कराया, यह सरल अर्थ है । तिमिरद्रोही सूर्य का राज्य अत्यन्त क्षीण हो गया था । उसके पुरोहित ने अभिचारक्रिया कृत्या का अनुष्ठान किया । उसका 'मारण' तुहिन के रूप मे था । तुहिन ने जाकर शत्रुसैन्य कुन्दो का सहार किया । शत्रु हेमन्त शक्तिहीन पड गया । हेमन्त शत्रु के द्वारा फेके गये अभिचारिक मेघरूपी निचोल (प्राच्छादक) गोलक को फेंककर, तब सूर्य के तेज मे शनै शनै कठोरता आई आदि कितनी क्लिष्टता है ।

श्रीकण्ठचरितम् के दशम् सर्ग के 11वे श्लोक मे भी क्लिष्टत्व दोष है ।

2 **ग्राम्यत्व दोष :–**

जहाँ पर अविदग्ध पूर्ण बात की जाय वहाँ पर ग्राम्यत्व अर्थ दोष होता है । उदाहरणार्थ –

मुखवाससौरभहृत भ्रमरप्रततेप्सितस्थिति कपोलतलम् ।
पुरूषायितेषु पटिमस्पृहया धृतकूर्चलेखमिव काप्यवहत् ।।[2]

---

1 श्रीकण्ठ0 6/71

2. श्रीकण्ठ0 13/20

इस पद्य मे मडराने वाले भँवरो के व्याज से किसी नायिका ने, बल– अर्थात् प्रवीणता दिखाने के विचार से मूँछे लगा रखी थी। अत ग्राम्यत्व दोष है।

चौदहवे सर्ग के 52वे श्लोक मे भी ग्राम्यत्व दोष है।

3 **सन्दिग्ध दोष :–**

जहाॅं अर्थ मे सन्देह विद्यमान हो वहाॅं सन्दिग्ध दोष होता है। यथा –

चन्द्रातपाभिसरणे मणिनूपुराभ्या
पादौ पर परिचर त्वमधीरतारे।
तन्मञ्जुशिञ्जितशतैरूपहूयमान
यन्निह्नवाय तव केलिमरालयूथम् ॥[1]

यहाॅं नूपुरख से आकर्षित होकर आगत हसयूथ श्वेताभिसारिका के ऊपर मडराते है और स्वय ध्वनि भी करते है। वे स्वध्वनि से नूपुरध्वनि का या स्वश्वेतता से श्वेताभिसारिका का निह्नव करते है ? दोनो का निह्नव करते है या अनिह्नव ? सन्देह होगा कि रात्रि मे इतने हस क्यो इतने नीचे मडरा रहे है ?

छठे सर्ग के 19वे श्लोक मे भी सन्दिग्ध दोष प्राप्त है।

4 **निर्हेतुता दोष :–**

जहाॅं पर हेतु का अभाव हो वहाॅं पर निर्हेतुत्व दोष होता है। "श्रीकण्ठचरितम्" मे उक्त दोष प्राप्त है यथा –

---

1 श्रीकण्ठ0 11/37

"यस्याश्चकास्ति कटकेषु सहेलखेल –
द्विद्याधरीचरणयावकपङ्कमुद्रा ।
श्रीकण्ठनेत्रपथजानपदार्कसोम –
सेवाकृते सततसनिहितेव सध्या ।।[1]

इसमे कैलास की कन्दरा आदि मे विद्याधरी के चरणो की लाक्षा अर्थात् महावर के चिह्न बने हुए है । यह अलक्तक चिन्ह सन्ध्या के समान है , जो श्रीकण्ठ के नेत्ररूपी देश के निवासी सूर्य और चन्द्रमा की सेवा के लिए सदा वही बनी रहती है – क्योकि शिव सदा ही कैलास मे बसते है और लाक्षा चिन्ह भी स्थायी है । दाहिनी ऑख सूर्य और बायी चन्द्र है ।

पर्वतो मे विद्याधरादि स्वाभाविक रूप से वर्णन किये जाते है । शिव भी सम्भावत ही सदा कैलासवासी है । अत ऐसी दशा मे स्थायी (असम्भव) सन्ध्या की कल्पना और वह भी कल्पित सूर्य चन्द्र निवासियो की सेवा के लिए उपहास्यास्पद है । सन्ध्या सेवा भी क्या करती है ?

"निर्हेतुता दोष" दशम् सर्ग के 12वे श्लोक , ग्यारहवे सर्ग के 11वे श्लोक, तेरहवे सर्ग के 47वे श्लोक और अट्ठारहवे सर्ग के 12वे श्लोक एव तेरहवे सर्ग के 42वे श्लोक, चौदहवे सर्ग के 21वे श्लोक मे भी प्राप्त है ।

5 **प्रसिद्धि विरूद्धत्व दोष .–**

काव्य प्रकाश के टीकाकार वामनझलकीकर के मतानुसार जहाँ अर्थ मे प्रसिद्धि न हो, अर्थात् जब किसी ऐसे अर्थ का उपादान किया जाये, जो प्रसिद्ध न हो, तो वहाँ

---

1 श्रीकण्ठ0 4/61

प्रसिद्धि विरूद्ध दोष होता है ।[1] यह दो प्रकार का होता है –

1 लोकप्रसिद्धि विरूद्ध 2 कविप्रसिद्धिविरूद्ध दोष । यथा

इत्थ श्रृङ्गार भङ्गीरसमयसमयाविष्कृते कि रजन्या
सार्ध नीहारधाम्ना स्फुटमघटि रतौ वैपरीत्यप्रयोग ।
तस्मिन्नस्ताद्रिकेलीशयनतलवलद्विग्रहे ह्यग्रहीत्सा
पृष्टारूढा विशीर्णे तिमिरकचभरे सकुचत्तारकत्वम् ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक मे पीठ पर चढकर "वैपरीत्यप्रयोग" बुद्धिगम्य नही लगता अत लोकविरूद्ध हैं ।

छठे सर्ग के 49वे श्लोक मे कविप्रसिद्धिविरूद्ध दोष है ।

6 **अनवीकृत दोष –**

एक ही अर्थ को उसी पद से पुन कहना अनवीकृत दोष कहलाता है । यथा –

"देवी स्वय भगवती युवसु प्रसन्ना
तत्राजनिष्ट नियत झटिति प्रसन्ना
यद्वैभवाद्दृढमपि प्रविमुच्य मान
तान्सुभ्रुवोऽनुजगृहुर्हठचुम्बनेन ।।"[3]

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्ध मे प्रसन्नता का भाव अनवीकृत है । अत अनवीकृत दोष हुआ ।

---

1 यत्रार्थे न प्रसिद्धि स प्रसिद्धिविरूद्ध ।" बालबोधिनीटीका पृ0 387
2 श्रीकण्ठ0 15/50
3 श्रीकण्ठ0 14/54

7 **नियम दोष –**

नियम विशेषो का भावाभाव प्रतिपादन करना नियम दोष कहलाता है ।

प्रस्तुत महाकाव्य मे नियमदोष भी प्राप्त होते है जैसे –
अपरा परागनिकरेण घनतरहरिद्रिताम्बरा ।
आत्तदयितवसनव्यसना रमणीमनुव्यधित पीतवासस ।।[1]

न तो सब फूलो का पराग पीला ही होता है और न ही लक्ष्मी को कृष्ण का पीताम्बर पहनने का व्यसन । अतएव यहाँ पर नियम दोष विद्यमान है ।

उक्त दोष के उदाहरण ग्यारहवे सर्ग का 8वॉ श्लोक, और 13वे सर्ग का 12वॉ श्लोक है ।

8 **साकांक्ष दोष :–**

वाक्यार्थ का साकाक्ष होना ही उक्त दोष होता है "आकाक्षया सहवर्तते इत्यर्थ "। जैसे –

अधुनाप्यनुभूयते त्वया स्मर शापात्फलमब्जजन्मन ।
किमय क्रियते तदप्यहो बहुमुन्यन्तरशापसग्रह ।।[2]

अब्जजन्म ब्रह्मा के किस शाप का क्या फल कामदेव भोग रहा है ? आचार के विरूद्ध रति अपने पति का नाम ले रही है । यहॉ पर साकाक्ष दोष है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 9/4

2 श्रीकण्ठ0 12/22

9 **अश्लीलार्थता दोष –**

जहाँ अर्थ ही अश्लील निकलता हो वहाँ पर अश्लीलार्थता दोष प्राप्त होता है यथा –

द्वैधस्यान्त व्यथित बपुषोर्यस्तमन्द्रीन्द्रपुत्र्या
साक स्थान कुसुमधनुषोऽनुग्रहात्यादरस्य ।
सौन्दर्याख्यान वधिमदिरानिर्भरे यत्र नेत्रै –
र्लेभे वृन्दारकमृगदृशा स्वैरमापानकेलि ॥[1]

प्रस्तुत श्लोक मे शिव के "अर्धनारीश्वर" स्वरूप का वर्णन है । कवि ने कुछ विशेषणो आदि के द्वारा इसे अशिष्टता की सीमा पर पहुँचा दिया है । इस पद्य का ध्वन्यार्थ स्पष्ट ही "शिव–पार्वती का सम्भोग " निकलता है, कि जिसे देवागनाए वेशर्मी से देख रही है । इसमे शिव पार्वती के कृत्य का वर्णन और दर्शन दोनो विद्यमान है ।

अश्लील दोष के अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत महाकाव्य मे प्राप्त होते है – सत्रहवे सर्ग मे 8वॉ श्लोक, तेइसवे सर्ग मे चतुर्थ श्लोक, और पञ्चम सर्ग मे पञ्चम श्लोक है ।

(द) **अलङ्कार दोष :–**

साम्यगर्भालङ्कारो मे साम्य के दोनो पार्श्वो मे गुणलिगादि की समता आवश्यक है । व्यतिरेकादि मे भी लिगवचन साम्य अपेक्षित होता है । असम उपमानादि वर्ण्य और चर्वण को दूषित बना देते है । दो तीन उदाहरण द्रष्टव्य है –

---

1 श्रीकण्ठ0 5/54

त्रैलोक्यलक्ष्मीगुरूहारदाम्नि शेषस्य भोगे तरलेन्द्रनील ।
देवो दिते सततितन्तुभेदी नेदीयसी वो विदधातु सिद्धिम् ।।[1]

प्रस्तुत पद्य मे स्वय लक्ष्मीपति विष्णु लक्ष्मी ही के हार के "इन्द्रनीलमणि" है । हार है – शेष नाग । यहाँ पर हीनोपमा अलड्कार है । अतएव अलड्कार दोष हुआ । इसी प्रकार से उक्त दोष सप्तम् सर्ग मे 21वाँ श्लोक और पन्द्रहवे सर्ग मे 42वाँ श्लोक है ।

अधिकोपमा अलड्कार दोष पन्द्रहवे सर्ग के 7वे श्लोक मे प्राप्त है ।

असमर्थोपमा अलड्कार दोष द्वितीय सर्ग के 11वे श्लोक मे है ।

लिड्ग विरोध दोष द्वितीय सर्ग के 41वे श्लोक मे और चौबीसवे सर्ग के 43वे श्लोक मे है ।

सपदि रविजदिग्भुव समीरा विषमशराजगरस्य फूत्कृतानि ।
विरहिहरिणचक्षुषा शरीर निदधति हालहलस्य दीर्धिकासु ।।[2]

प्रस्तुत पद्य मे "समीरा फूत्कृतानिदीर्धिकासु" एक दूसरे के उपमान या समान है । यहाँ पा "लिड्गजातिविरोध" है ।

"वचनविरोध" चौबीसवे सर्ग के 37वे श्लोक मे और "हीनरूपक" पञ्चम सर्ग के 13वे श्लोक मे है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 1/30

2 श्रीकण्ठ0 7/24

(त) **रस दोष –**

आचार्य मम्मट ने दोष सामान्य के लक्षण मे मुख्यार्थ के उपधातक तत्त्व को दोष बतलाते हुए कहा है कि काव्य मे "रस" ही मुख्य है – मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्य" । 'रस्यते इति रस' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनका आस्वादन किया जाये वे भाव इत्यादि भी "रस" शब्द के अन्तर्गत आ जाते है । अत रस तथा भाव इत्यादि के अपकर्षक तत्त्व रस दोष कहलाते है । काव्य प्रकाश मे तेरह रस दोषो का परिगणन किया गया है ।[1]

प्रस्तुत महाकाव्य के अन्तर्गत कुछ रस दोष इस प्रकार है –

1 **रस विरोध –**

आश्रय और क्रम के विचार से कुछ रस एक दूसरे के विरोधी होते है । प्रबल विरोधी दूसरे रस की चर्वणा को गुणीभूत बना देता है । यथा –

दैत्योदयासवरस श्रवणानुतर्ष –
मार्गेण ले गणगणा विनिपीतवन्त ।
राज्यद्विलोचनकपोलतला स्खलद्भि –
र्वाक्यैर्विलोलवलितभ्रु विकारमूहु ॥[2]

उक्त पद्य मे युद्ध का प्रसङ्ग है । दैत्यो के अत्याचार स्थायीभाव 'उत्साह' के उद्दीपक है । जो आगे चलकर "युद्धवीर" मे परिपुष्ट होगा । मदपान श्रृगार की रति का पोषक है । वीर श्रृगार का आश्रय एक ही "गण" है । वर्णित सात्त्विकभाव और अनुभाव ऐसे है जो वीर श्रृगार दोनो के अड्ग है । व्यड्ग्य वीर रस है, पर श्रृगार

---

1 का0प्र0 7/60–62

2 श्रीकण्ठ0 18/1

वाच्य की स्थिति मे है, क्योंकि सभी विशेषण उसी के पोषक है । अतएव श्रृगार वीर का बाधक हो रहा है ।

रस विरोध दोष" "श्रीकण्ठचरितम्" के पन्द्रहवे सर्ग के 38वे श्लोक मे, अटठारहवे सर्ग के 14वे श्लोक, 32वे श्लोक , 58वे श्लोक और चौबीसवे सर्ग के 12वे श्लोक, 27वे श्लोक मे है ।

2 **स्वशब्दवाच्यत्व दोष –**

रस सदा ध्वन्यमान ही स्वादयुक्त होता है । रस ध्वनि के लिए उपयुक्त आलम्बनो–द्दीपनादि का निबन्धन आवश्यक होता है । केवल श्रृगार या रौद्र कह देने से या रति – क्रोध स्थायीभाव के उच्चारण मात्र से रस चर्वणा नही होती है । यथा –

मम वीररसो दूरमास्कन्द्य स्यन्दनग्रहम् ।
द्विषा ललाटतो मार्ष्टु भ्रमद्भ्रूभङ्गकालिका ॥[1]

प्रस्तुत श्लोक मे प्रधान नायक शिव का कथन है । "मेरा वीर रस रथ मे बैठकर शत्रुओ की भ्रूभङ्गकालिमा को नष्ट करे " यह कहने मात्र से उनकी ओजस्विता व्यक्त नही होती ।

3 **अकाण्डप्रथन दोष :–**

प्रक्रान्त प्रदीप्त या अप्रदीप्त रस के बीच ही मे किसी अन्य रस के विभावादि का पूर्ण सन्निवेश ही "अकाण्डप्रथन दोष" होता है । यथा –

---

1 श्रीकण्ठ0 19/43

काचित्तत्र विमुद्रपङ्कजमुखी सौभाग्यभाग्यावधि –
बिभ्राण हठकष्टरक्षितनिजाकल्पैकपात्र वपु ।
प्रेमव्याकुलकान्तकेलिकलहप्रोन्मृज्यमानाखिल –
क्रीडामण्डनडम्बरा व्यजयतायत्नात्सपत्नीजनम् ॥[1]

"प्रसाधनवर्णन" का यह अन्तिम दो पद्यो से पूर्व का श्लोक है । इसमे प्रेम व्याकुल कान्त ने एकाएक आकर केलिकलह से प्रेयसी की सारी भूषा सज्जा अस्त व्यस्त कर दी । ऐसी उस प्रेयसी ने भी यत्नपूर्वक ही स्वपत्नियो को जीत लिया । "पानकेलि" के पूर्व ही यह एकाएक भोगवर्णन कैसा ?

इसी प्रकार सप्तम सर्ग मे 28 से 36 तक के नव श्लोको का कुलक भी अकाण्ड प्रथन ही है । यह सर्ग वसन्त और "दोलाक्रीडा" वर्णन का है । शिव वसन्त की शोभा वर्णन कर रहे थे । इसी बीच वे इस कुलक मे पार्वती से यह बताने लगते है कि "दूतियो ने जाकर उन उन विरहिणिनियो की दशा उनके प्रेमियो से कही । प्रेमी प्रेयसी की विह्वलता सुन, झट भागते हुए उनके पास पहुँच गये । यह अकाण्डकुलक और शिव के मुख से शोभा नही देता ।

ग्यारहवे सर्ग मे 25 से 32 तक के आठ श्लोको का "कृष्णाभिसारिको का कुलक "चन्द्रवर्णन" के प्रसङ्ग मे शोभा नही देता । यद्यपि कवि ने यहॉ धारण किये गये कृष्ण वेश को दूर करने का ही उपदेश सखी से दिलवाया है ।

बारहवे सर्ग मे 96 श्लोक और इक्कीसवे सर्ग मे 53 श्लोक मे भी "अकाण्डप्रथन दोष" है ।

---

1 श्रीकण्ठ0 13/50

(थ) **छन्दोदोष –**

विषय के अनुकूल छन्द का ग्रहण और अधिकृत छन्द के गण–मात्रादि का खण्डित होना एव यति भड्गादि "छन्दोदोष" के अन्तर्गत आते है ।

कवि ने प्रत्येक सर्ग के विषय को विभिन्न छन्दो मे वर्णित किया । कोई छन्द उस विषय के अनुकूल है और कोई अननुकूल । "पुष्पिताग्रा", मालिनी, और बसन्ततिलका आदि वृत्त वीर रस के अनुकूल नही है, कवि ने उक्त वृत्तो का वीर रस मे प्रयोग किया है । स्रग्धरा, हरिणी, पृथ्वी तथा शार्दूलविक्रीडित जैसे दण्डक वृत्त श्रृड्गार के उपयुक्त नही है, फिर भी इनका प्रयोग कवि "रतिक्रीडावर्णन" [1] मे किया है । "श्रीकण्ठचरितम्" के अनेको पद्यो मे यति भड्ग विद्यमान है । एक श्लोक मे स्वय टीकाकार ने भी यति भड्ग स्वीकार किया है ।[2]

उपर्युक्त दोष "श्रीकण्ठचरितम्" का विश्लेषण करने पर प्राप्त होते है, परन्तु यह दोष रसास्वादन मे व्यवधान नहीं उपस्थित करते है । मड्खक के "श्रीकण्ठचरितम्" मे यह दोष लापरवाही से आ गये है यदि वह चाहते तो बाद मे अपने गुरू रूय्यक की सहायता से काव्य का सशोधन कर सकते थे परन्तु उन्होने ऐसा नही किया । मानवोचित गुण दोषो को बनाये रक्खा ।

---

1 श्रीकण्ठ0 सर्ग 15

2 श्रीकण्ठ0 6/73

उपसंहार

उपसहार

भगवान् शिव, उनकी मान्यता और उनका साहित्य अत्यन्त प्राचीन है । त्रिपुर– दहन का कथानक भी अत्यन्त प्राचीन एव प्रसिद्ध रहा है । आचार्य भरतमुनि ने ही सर्वप्रथम "त्रिपुरदाह" डिम के देवो के द्वारा खेले जाने का वर्णन अपने "नाट्यशास्त्र" मे किया है परन्तु अलभ्य है । वेद, ब्राह्मण और पुराणो मे भी त्रिपुर वर्णन आया है परन्तु कवि को इस विषय की कोई साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध न थी । कवि ने सर्व प्रथम शिवपुराण के आधार पर पौराणिक "त्रिपुरासुर दहन" को साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया है । अत्यन्त सूक्ष्म, श्लाघनीय परिवर्तन भी उपस्थित किया है । कवि ने "श्रीकण्ठ–चरितम्" के मूल कथानक और प्रबन्ध कल्पना मे कोई भी उल्लेखनीय तत्त्व कही अन्यत्र से ग्रहण नही किये है ।

प्रस्तुत देव महाकाव्य "श्रीकण्ठचरितम्" मे चरितनायक के उत्कर्षमय चित्रण, सहृदयो के आवर्जन, वसन्तादि के उत्कृष्ट वर्णन, भक्तिसूक्ति सचयन, लोकोक्तिसग्रथन और लोकोपकार के पुनीत सन्देश, कल्पना की मौलिकता, अनूठी उक्तियाँ सूक्ष्म विशद उत्प्रेक्षाए, सरसभाषा मसृणपदशय्या, वैदर्भी रीति, सन्तुलित अर्थगाम्भीर्य और रसो का उत्तम परिपाक जिस रूप मे प्राप्त होता है , वह अन्यत्र दुर्लभ है । काश्मीर की प्रकृति सुषमा मे पले बढे हुए मड्खक के निसर्गोज्ज्वल देवोद्गार सर्वथा अनुपम है ।

"कुमारसम्भव" , "किरातार्जुनीय", और "श्रीकण्ठचरित" आदि शिवपरक ग्रन्थो पर विचार किया जाय तो "श्रीकण्ठचरित" का स्थान भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है । "कुमारसम्भव" नामक महाकाव्य मे हिमालय की पुत्री पार्वती द्वारा घोर तपस्या के फलस्वरूप वर रूप मे शिव को प्राप्त करने तथा उनसे कार्तिकेय की उत्पत्ति का वर्णन है । इस महाकाव्य के द्वितीय सर्ग मे तारकासुर से पीडित देवो का ब्रह्मा के पास जाना और शिव पार्वती के पुत्र स्कन्द द्वारा तारकासुर के वध का उपाय ब्रह्मा के

द्वारा बताया जाना वर्णित है । जबकि महाकवि मखक ने तारकासुर के तीन पुत्रो का शिव द्वारा वध दिखाया है । कालिदास ने अष्टम् सर्ग मे शिव पार्वती की रतिक्रीडा का वर्णन अश्लील ढग से किया है । और मखक ने नायक शिव एव नायिका पार्वती का पवित्र दाम्पत्य जीवन प्रस्तुत किया है । वैसे "कुमारसम्भव" से महाकवि मड्खक ने प्रेरणा अवश्य ली होगी ।

"किरातार्जुनीय" मे कौरवो पर विजय प्राप्ति के लिए अर्जुन का हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या करने और किरात वेषधारी शिव से युद्ध तथा प्रसन्न शिव से पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति का वर्णन है । भारवि ने इस महाकाव्य मे चित्रालड्कारो का प्रयोग कर क्लिष्ट बना दिया है । जबकि मड्खक ने चित्र महाकाव्य परम्परा से दूर हटकर वैदर्भी रीति मे "श्रीकण्ठचरितम्" की रचना की । परन्तु इसका अभिप्राय यह नही हो सकता कि किरातार्जुनीय मे दुरूहता एव बोझिलता ही प्रधान है । अपितु भारवि अर्थगाम्भीर्य से परिपूर्ण, वचनो के विन्यास मे पटु है । इनके वर्णन की शैली अतीव प्रौढ है । नूतनतम पदो के प्रयोग मे ये सिद्धहस्त है । इन्ही गुणो के कारण भारवि का महाकाव्य बृहत्त्रयी मे स्थान रखता है ।

"हरविजय" मे क्रीडासक्त पार्वती ने भगवान् शड्कर के तीनो नेत्रो को अपने हाथो से बन्द कर दिया । इससे विश्व भर मे अन्धकार फैल गया । यह अन्धकार ही "अन्धक" असुर के रूप मे परिणत हो गया । भगवान् शड्कर ने उस अन्धकासुर का वध किया । तथापि इस काव्य मे पाण्डित्य का बोझ इतना अधिक है कि पाठक रसास्वादन से वचित हो जाता है । "श्रीकण्ठचरितम्" मे मात्र रस सार सग्रहीत किया गया है । इसमे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और रस के समुचित प्रयोग की न्यूनता सहृदयो को न मिलेगी । कवि की मौलिकता रसिकता के दर्शन पद पद पर होगे । इसी लिए शिवपरक ग्रन्थो मे "श्रीकण्ठचरित" का स्थान महत्त्वपूर्ण है ।

महाकवि मङ्खक ने बाणभट्ट से प्रभावित होकर "श्रीकण्ठचरितम" मे स्वदेश "काश्मीर" तथा स्व–वशादि का विस्तृत परिचय दिया है । और द्वितीय सर्ग मे कवि और काव्य के स्वरूप का अनूठा चित्रण किया है । इतना ही नही, प्रस्तुत महाकाव्य के पच्चीसवे सर्ग का साहित्यिक एव ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्व है । इस सर्ग मे महाकवि ने स्वाग्रज अलकार "लकक" की विद्वतसभा का जीवन्त वर्णन किया है । किस प्रकार पण्डित एव विज्ञ सहृदयो की भरी सभा मे नवागत परीक्ष्य कवि की प्रतिभा तथा आशुकवित्व की परीक्षा होती थी, इसका तत्कालीन वर्णन इसमे प्राप्त होता है । राजदूत सुहल तथा तेजकण्ठ एव इनके गुरू रूय्यक आदि 32 विद्वानो ने किस प्रकार मङ्खक की निष्पक्ष परीक्षा ली, मङ्खक ने सभी विद्वानो को स्वकवित्व से सन्तुष्ट किया । मङ्खक के गुरू रूय्यक ने इनकी भूरि भूरि प्रशसा की ।

मङ्खक ने कालिदास , भारवि , माघ और काव्यप्रकाश आदि का अच्छा अध्ययन किया था । अत इनके कुछ श्लोकों पर पूर्ववर्ती कवियो का प्रभाव परिलक्षित होना स्वाभाविक है –

तान्सगच्छति भारती भगवती विस्रम्भत क्रीडया –
नुध्यातैव झगित्यसावपि हठानभ्यासदूरीकृता ।
तसद्यत्नशतप्रसादितवचोदेवीप्रसादीकृतं
स्वच्छ सगमनीयरत्नमिव ये शत्तज्युद्भुत विभ्रति ।।[1]

अपने पाण्डित्य हठ के कारण जिन्होंने स्व–व्युत्पत्ति बढाने के लिए गम्भीर अध्ययन नही किया है । और पढकर अनभ्यासवश जिसे विस्मृतप्राय बना रखा है उन

---

1 श्रीकण्ठ0 2/58

ऐसे भी कवित्वप्रतिभाशाली व्यक्तियो के पास अनायास ही शतश नवनवोत्प्रेक्षाए वैसे ही उठ आती है जैसे कि "सगमनीयमणि" के धारणकर्ता के पास उसका प्रिय आ जाता है ।

प्रस्तुत श्लोक पर महाकवि कालिदास के "विक्रमोर्वशीय " के श्लोक का प्रभाव परिलक्षित होता है –

सगमनीय इतिमणि शैलसुताचरणरागयोनिरयम् ।
आवहतिधार्यमाण सगममचिरात्प्रियजनेन ।।[1]

इसमे "सगमनीय मणि" का लक्षण मात्र बताया गया है , परन्तु मड्खक ने उस लक्षण का सुन्दर साहित्यिक प्रयोग उपस्थित किया है ।

"श्रीकण्ठचरितम्" मे वसन्तवर्णन के अन्तर्गत कर्णिकार (अमलतास) के एक साधारण से रेखाचित्र ने महाकवि मड्खक को "कर्णिकार मड्खक" बना दिया । श्लोक इस प्रकार है –

विवृण्वता सौरभरोरदोष बन्दिव्रत वर्णगुणैस्पृशन्त्या ।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे घ्राणेन दृष्टेर्ववृधे विवाद ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक पर सहृदयो का ध्यान महाकवि कालिदास के कारण गया । उन्होने भी वसन्त मे कर्णिकार को देखा था, और निकट से देखा था । तभी तो कालिदास का चित्तगन्ध के अभाव मे खिन्न हो सीधे विधाता को कोसने लगा था –

---

1 विक्रमो0 4/36

2 श्रीकण्ठ0 6/13

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकार दुनोति निर्गन्धतयास्म चेत ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणाना पराड् मुखीविश्वसृजाप्रवृत्ति ।।[1]

कवि मड् खक ने ब्रह्मा को न तो कोसा ही और न ही कर्णिकार की सहज निर्गन्धता से खिन्न ही हुए, प्रत्युत घ्राण और दृष्टि मे विवाद का बढना भी नितान्त स्वाभाविक है स्त्री– प्रकृति निसर्गत ही वितण्डावादिनी होती है । इस प्रकार के वर्णन ने सहृदय पाठक को अपनी ओर आकर्षित किया और मड् खक को "कर्णिकार मड् खक" की उपाधि दे दी ।

मड् खक ने काव्य दोष का जो विवेचन किया है वह श्लोक इस प्रकार है –

सूक्तौ शुचावेव परे कवीना सद्य प्रमादस्खलित लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुर कथ वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपात ।।[2]

प्रस्तुत श्लोक पर कालिदास के "कुमारसम्भव" का प्रभाव पडा है ।[3]

महाकवि मड् खक ने "श्रीकण्ठचरितम्" मे अष्टमूर्ति शिव का वर्णन कई स्थलो मे किया है ।[4] जबकि कालिदास ने "अभिज्ञानशाकुन्तल" की नन्दी मे मात्र एक जगह किया है ।[5]

मड् खक के प्रस्तुत श्लोक पर कादम्बरी का प्रभाव परिलक्षित होता है । मड् खक का श्लोक –

सदवृत्तविश्रान्तिमतीनजातुकृच्छ्रेऽपि पात्र परूषाक्षरणाम् ।
सत्पुण्यभाज सततानुवृत्ताकस्याप्यहोसद्गृहिणीववाणी ।।[6]

---

1 कुमार0 2/28
2 श्रीकण्ठ0 2/9
3 कुमार0 1/3
4 श्रीकण्ठ0 5/43–45, 8/3, 17/32,
5 श्रीकण्ठ0 2/13
6 अभिज्ञान0 1/1

किसी ही पुण्यशाली की कविताकामिनी उस सद्गृहिणी के समान होती है जो शुद्ध , सौम्य और सततानुवृत्ता हो । इस श्लोक पर महाकवि बाणभट्ट के निम्न श्लोक की छाया है

स्फुरत्कलालापविलासकोमला
करोति राग हृदि कौतुकाभिधम् ।
रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवावधूरिव ।।[1]

दोनो श्लोको मे काव्यसौन्दर्य समान है पर "अभिनववधू" थोडी चचल होती है और "सद्गृहिणी" मसृण उदारता लिए हुए होती है ।

महाकवि मड्खक पर माघ का भी प्रभाव पडा । मड्खक का प्रस्तुत श्लोक इस प्रकार है –

पाशैर्वद्धशिरोधरा फणिमयैरूत्खातनाकिद्रुम –
स्कन्धालानतलेषुदानसलिलावग्राहिणोदिगद्विपा ।
नीतास्तैरजिरेषुयामगजता स्रस्तैऽपि विश्वम्भरा –
भारे कीडनिपीडनेन दधते दूरावनम्र शिर ।।[2]

प्रस्तुत पद्य पर महाकवि माघ के निम्नश्लोक की छाया है –

"परेतभर्तुर्महिषोऽमुनाधनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डल ।
हृतेऽपिभारे महतस्त्रपाभरादुवाहदुखेनभृशानत शिर ।।[3]

माघ मे यमराज का वाहन भैसा लज्जावनत है और मड्खक ने दिग्गजो को अवनत शिर दिखाया है । माघ के वक्ता नारद है, और मड्खक के नारद के पिता ब्रह्मा जी । इन दोनो श्लोकों के तुलनात्मक सौन्दर्य मे नारद ब्रह्मा और भैसा हाथी का ही समानुपात मिलेगा ।

---

1 कादम्बरी – अष्टम श्लोक
2 श्रीकण्ठ0 17/65
3 शिशु0 1/57

इसी प्रकार मङ्खक के बाइसवे सर्ग के 23वे श्लोक पर गीता के "हतो व प्राप्यसे स्वर्ग जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम् "[1] की छाप है। मङ्खक के पञ्चम सर्ग के 23वे श्लोक पर काव्यप्रकाश के श्लोक 340 का प्रभाव है। काव्यप्रकाश का वह श्लोक "अमरूशतक" से सगृहीत है।

वसन्त, चन्द्रोदय, चन्द्र, प्रसाधन तथा पानकेलि आदि का वर्णन कवि ने सर्वथा परम्परा प्राप्त ही किया है। केवल कुछ नवीन उद्भावनाए यत्र--तत्र गोचर होती है। त्रिपुरारि का चरित्र भी एक लौकिक महाराजाधिराज के वृत्त पर आधारित है। देव गणो और उनकी अर्धाङ्गिनियो की पानकेलि आदि साधारण कामुको के समान वर्णन करके कवि ने स्वकाव्य को दूषित बना लिया है। दोलाक्रीडा, शिवप्रभाती, त्रिपुरभस्म का वर्णन और वीरो की रणसज्जा का द्विधाफलकथन का कवि ने अनूठा चित्रण किया है। मङ्खक ने आचार्य वामन के विपरीत कवि के प्रकार सतृणाभ्यवहारी और अरोचकी का वर्णन किया है।

सूक्तिसग्रहकारो ने रत्नकोषो मे "श्रीकण्ठचरितम्" के रत्नो को स्थान भी दिया
[illegible] "श्रीकण्ठचरितम्" के 33 श्लोक विभिन्न

सुभाषितावलि श्लोक स0
27/1609
27/170
27/171
27/172

---

1 भगवद्गीता 2/37

श्रीकण्ठचरितम् -- श्लोक स0	सुभाषितावलि – श्लोक स0
2/12	27/173
2/14	27/174
2/19	27/175
2/30	27/176
2/34	27/177
2/42	27/178
2/51	27/179
11/52	187/1119
11/53	187/1120
11/54	187/1121
11/56	187/1122
11/57	187/1123
11/58	187/1124
11/59	187/1125
11/60	187/1126
11/61	187/1127
11/87	247/1444
12/88	247/1445
12/89	247/1446
12/90	247/1447
12/92	247/1448
6/51	281/1659
6/13	281/1660
6/8	281/1661
6/9	281/1662

श्रीकण्ठचरितम – श्लोक स0	सुभाषितावलि – श्लोक स0
6/65	281/1663
10/19	329/1930
14/20	347/2023
25/126	429/2512

श्रीभगदत्त जल्हण दक्षिण भारत के राजा कृष्ण के मन्त्री थे । इनका समय 13वी शताब्दी है । जल्हण ने अपनी "सूक्तिमुक्तावली" मे मङ्खक के नाम से दो श्लोक रत्नो का सग्रह किया है । उनमे से प्रथम सर्ग का प्रथम श्लोक और द्वितीय सर्ग का नवम श्लोक प्राप्त होता है । इन दोनो श्लोको से सिद्ध होता है कि "श्रीकण्ठचरितम्" कश्मीर मे ही नही दक्षिणभारत मे भी आदर की दृष्टि से देखा जाता था ।

अत महाकवि मङ्खक रूय्यक जैसे गुरू की छत्रछाया मे अपने कठोर काव्याभ्यास द्वारा अपनी भक्ति भावना के निवेदन के लिए स्वान्त सुखाय "श्रीकण्ठचरितम्" का प्रणयन किया था । यही कारण था कि उनकी काव्य प्रतिभा ने तत्कालीन पण्डित मण्डली मे अनायास ही सम्मान प्राप्त कर लिया । उनका "श्रीकण्ठचरितम्" महाकाव्य परम्परा मे महत्त्वपूर्ण

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

1 अनेकार्थसग्रह – हेमचन्द्र

2 अभिज्ञानशाकुन्तल· – कालिदास, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

3 अभिधानरत्नमाला –हलायुध, सस्कृत–अग्रेजी ग्लोजरी दि आफ्रेक्ट

4 अग्निपुराण (महर्षि व्यास) अनु0 तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1986

5 अभिनवभारती (अभिनवगुप्त) अनु0 डॉ0 रविशड्कर नागर, परिमलपब्लिकेशन्स दिल्ली

6 अलड्कारशास्त्र का इतिहास (डॉ0 कृष्ण कुमार), साहित्य भण्डार मेरठ, 1988

7 अलड्कारसर्वस्व (रूय्यक) व्या0 डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सस्कृत सस्थान वाराणसी 1979 एव समुद्रबन्ध टीका त्रिवेन्द्रम सस्करण

8 अलड्काररत्नाकर – शोभाकर मित्र

9 अलड्कार शास्त्र की परम्परा – डॉ0 राजवश सहाय "हीरा", चौखम्बा राष्ट्रमाला ग्रन्थमाला

10 औचित्यविचार चर्चा– क्षेमेन्द्र, व्या0 श्री ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1982

11 ऐतरेय ब्राह्मण, त्रिवेन्द्रम सस्करण 1942

12 काठक सहिता – सम्पादक प0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक – स्वाध्याय मण्डल, पारडी नगर, वलसाड प्र0, गुजरात प्रदेश 1983

13 कादम्बरी – बाणभट्ट, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

14 काव्य प्रकाश –मम्मट, व्या0 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 1960

15 काव्य प्रकाश – बालबोधिनी टीका (वामन झलकीकर) भण्डारकर इन्स्टीट्यूट – भण्डारकर प्राच्यविद्या सशोधन मन्दिर 1965

16 काव्यमीमासा – राजशेखर, व्या0 डॉ0 गड्गासागर राय, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी

17 काव्यादर्श – दण्डी, व्या0 श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, 1984

18 काव्यानुशासन – हेमचन्द्र, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास प्रकाशन 1986

19 काव्यालड्कार – भामह, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, प्रथम सस्करण 1928

20 काव्यालड्कार – रूद्रट, व्या0 श्री रामदेव शुक्ल, चौ0 विद्याभवन वाराणसी 1966

21 काव्यालड्कार सारसग्रह – उद्भट

22 काव्यालड्कार सूत्र – वामन्, अनु0 डॉ0 बेचन झा, चौ0 सस्कृत सस्थान वाराणसी 1976

23 किरातार्जुनीयम् – भारवि, व्या0 मल्लिनाथ, अनु0 आदित्य नारायण पाण्डेय, चौ0 सस्कृत सस्थान वाराणसी 1980

24 कुमारसम्भवम् – कालिदास, व्या0 प्रद्युम्न पाण्डेय, चौ0 विद्या भवन वाराणसी

25 छन्दोमञ्जरी

26 तैत्तिरीयसहिता – गवर्नमेण्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मैसूर

27 दशरूपक – धनञ्जय, व्या0 श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार मेरठ 1979

28 ध्वन्यालोक – आनन्दवर्द्धन, व्या0 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 1985

29. नाट्यदर्पण – रामचन्द्र गुण चन्द्र

30 नाट्यशास्त्र – भरतमुनि, व्या0 श्रीबाबूलाल शुक्ल, चौ0 संस्कृत सस्थान वाराणसी 1983

31 भावप्रकाशन – शारदातनय, अनु0 डॉ0 मदनमोहन अग्रवाल, चौ0 सुरभारती प्रकाशन

32 महाभारत – व्यास, गीताप्रेस गोरखपुर, 1987 तथा स0 डा0 प0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारडी

33 मत्स्य पुराण

34 राजतरगिणी – कल्हण, व्या0 डा0 रघुनाथ सिह, हिन्दी प्रचारक सस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी

35 राजतरगिणी द्वितीय – राजानक जोनराज, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

36 लिङ्गपुराण – जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास वाराणसी

37 विक्रमोर्वशीयम् – कालिदास, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

38 वक्रोक्तिजीवित – कुन्तक, व्या0 श्री राधेश्याम मिश्र, चौ0 सस्कृत सस्थान वाराणसी 1982

39 वृत्त रत्नाकर – भट्टकेदार, व्या0 श्री धरानन्द शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास 1982

40 रसगङ्गाधर – प0 राज जगन्नाथ, व्या0 श्री धरानन्द शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास 1977

41 शिवपुराण – गीता प्रेस गोरखपुर

42 शतपथ ब्राह्मण – रत्नदीपिका टीकोपेत, चौ0 सस्कृत सस्थान वाराणसी

43 शिशुपालवध – माघ टीका0 प0 हरगोविन्द शास्त्री, चौ0 विद्याभवन वाराणसी 1984

44 शब्दकल्पद्रुम – मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन 1961 ई0

45 शिवलीलार्णव – नीलकण्ठदीक्षित, स0 टी0 गणपति शास्त्री अनन्तशयन संस्करणम्

46. शुक्ल यजुर्वेद – स0 जगदीश लाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

47 श्रीमद्भागवत – व्यास, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर 1983

48 श्रीकण्ठचरितम् – महाकवि मङ्खक , टी0 राजानक जोनराज, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

49 साहित्य मीमासा – स0 डॉ0 गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द सस्कृत वि0 वि0 प्रकाशन

50. सस्कृतसाहित्यविमर्श – प0 द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, भारती प्रतिष्ठान 31 आनन्दपुरी, मेरठ नगरी उ0प्र0

51. सरस्वतीकण्ठाभरण – भोजराज, चौखम्बा ओरियन्टालिया पो0 बा0 न0 1032 वाराणसी 1987

52 सरस्वतीकण्ठाभरण – भोजकृत एवं काव्यानुशासन – हेमचन्द्रकृत का तुलनात्मक अध्ययन – डा0 प्रमिला त्रिपाठी परिमल पब्लिकेशन्स, 27/28, शक्ति नगर दिल्ली 110 007

53. साहित्य दर्पण – विश्वनाथ, व्या0 शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

54. संस्कृत साहित्य का इतिहास –

55 सुभाषितावली — वल्लभदेव

56 सुवृत्त तिलक — क्षेमेन्द्र

57 सस्कृत हिन्दी कोश - वामन शिवराम आप्टे , मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

58 सौन्दरनन्द - अश्वघोष , व्या0 सूर्य नारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

59 स्कन्दपुराण

60 हर विजय - म0 रत्नाकर, चौखम्बा सस्कृत सस्थान वाराणसी

61. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु - रूप गोस्वामी, अच्युत ग्रन्थमाला

62 हर्षचरित - बाणभट्ट, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी

63. A study of Shrikanthacharıtam - B.N.Bhatt, Motilal Banarsidass Chowk Varanasi 221 001

64. A Chronıcle of the Kings of Kashmır Dr. M.A.Steın Motılal Banarsidass Varanasi

65. Cultural Heritage of Kashmir - Suresh Chandra Banerji, Sanskrit Pushtak Bhandar 38, Bidhan Sarani Calcutta 700 006

Early History and culture of Kashmir - Dr. Sunil Chandra Ray, with A foreword by

67. Kashmır Report 1877 - Dr. Buhler

68. Trıvendrum Sanskrıt series No. XL,.
The Alankarasutra of Rajanka Shrı Ruyyaka wıth the Vrıttı, Alankarasarvasva of Shrı Mankhuka and With commentary by Samudrabandha, Trıvandrum, Prınted at the Trarancore Government Press, 1915

69. Survey of Sanskrıt Literature
C. Kunhan raj, Library of Sager Unıversıty, Prınted

70. History of Classical Sanskrıt Lıterature
M. Krishnamachari, Motılal Banarsidas 1989

71. History of Indian Literature -
M. Winternits Motilal Banarsıdass Varanası

72. History of Sanskrıt Poetics -
M.M.P.V. Kane, Motilal Banarsıdas
Varanasi

73. History of Sanskrit Poetics -
, Sushil Kumar De, Published by Firmaklm Prıvate Limited Calcutta 1976

74. History and Culture of Indian People -
Dr. Ramesh Chandra Majumdar.

75. Kashmir Contribution to Sanskrit -
Dr. P.M.Pusp

76. History of Sanskrit Literature
Dr. Keth